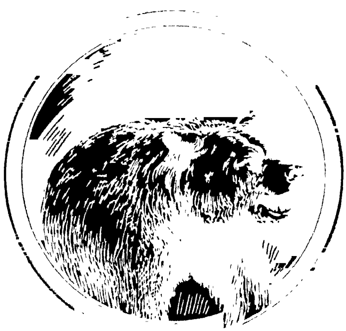


श्रीनिधि सिद्धांतालकार

शिवालक की घाटियों में

लेखक
श्रीनिधि सिद्धांतालंकार

प्रस्तावना
एम. डी. चतुर्वेदी
इंस्पेक्टर जनरल ऑव फॉरेस्ट्स, गवर्नमेंट ऑव इंडिया



१९५३
आत्माराम एंड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

ाशक
ालाल पुरी
त्माराम एंड संस
्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य पांच रुपये

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

'आरण्यक-संघ'

के

उन प्रिय सदस्य-मित्रों को···

इन प्रशांत सुन्दर शिवालक घाटियों के

वनचर जिनके सखा हैं;

लता-द्रुम, जिनके बनवास-बन्धु;

वन-पर्वत, विश्राम स्थान;

नदियाँ, वाद्ययंत्र;

पंछी, गायक;

वन्यसंदेश, पीयूष-पान;

और

वन की भीषणता जिनका उल्लास है

···जिनकी साहस कथायें

घाटियों में पग पग पर लिखी पड़ी हैं

प्रस्तावना

"शिवालक की घाटियों में"—जहाँ, मैंने अपने जीवन का काफी हिस्सा गुज़ारा; जहाँ, जान हथेली पर ले—मजनू की तरह—शेरों के पीछे मारा-मारा फिरा; जहाँ के हर पेड़, हर जानवर, हर पत्थर को अपना समझा—श्रीनिधि ने एक निराली छटा दिखाई है। आपकी लेखनी, लेखनी नहीं; एक चित्रकार का यंत्र है। इस रचना में शिवालक का वह चित्र है, जो काव्य व कविता के परदे पर खिंचा है। यह कोई शिकारी की कहानी नहीं; यह किसी "अनादि विरही की वाङ्मयी वेदनाध्वनि" है।

मुझे यही अचंभा है कि क्या प्रकृति देवी, अपनी गोद में बिठाकर, हर बालक को नई कहानी सुनाती है?—कहीं, ऐसा तो नहीं, कि नदी-नालों, जीव-जन्तुओं, वृक्ष व पक्षियों का सीधा-सादा संदेश हमेशा एकसा ही रहता हो; अन्तर केवल सुनने वालों की भावनाओं में हो?

जब मैं ये मनोरंजक घटनायें पढ़ रहा था, मेरे कानों में शिवालक की घाटियों में गूँजती हुई यह आवाज आ रही थी:—

मजा जब था, जो वह सुनते
मुझी से दास्ताँ मेरी।
कहाँ से लायगा क़ासिद
बयाँ मेरा, ज़बाँ मेरी?

पाठको, यह पुस्तक कोई मामूली पुस्तक नहीं; यह शिवालक का आपके लिये निमंत्रण-पत्र है।

नई दिल्ली
जुलाई १५, १९५३.

मनोहरदास चतुर्वेदी
इंस्पेक्टर जनरल ऑव फॉरेस्ट्स
गवर्नमेंट ऑव इंडिया

अपने विषय में

किसी राष्ट्र के मानववर्ग की तरह, उस राष्ट्र के वन-पर्वतों में बसने वाला पशुवर्ग भी, उस राष्ट्र की वैसी ही प्रजा है; उसे भी, वैसे ही संरक्षण पाने और वैसे ही जी सकने का अधिकार है—इस प्राकृतिक सत्य को न समझ कर मनुष्य ने पशु-वर्ग पर जिस प्रकार के अत्याचार किये हैं, और आज भी करता चला जा रहा है, उनकी कथा बहुत ही रोमांचपूर्ण और वेदनाभरी है। भारत—जो अपने दुर्लभ वन्य पशुओं के लिए भूमंडल भर में प्रसिद्ध है— आज अपने चिर प्राचीन पशुवर्ग की कितनी ही उपजातियों से शून्यप्राय हो उठा है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जिस 'केसरी' (Lion) का इतना अधिक वर्णन उपलब्ध होता है और जिसके उन्नीसवीं शताब्दी तक भी भारत के मध्य, पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिमी भागों में पाये जाने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, वह आज सौराष्ट्र के गिरि-जंगलों के अतिरिक्त—जहाँ अब उसकी संख्या शायद २५० से अधिक नहीं है—भारत के किसी भी अन्य भाग में शेष नहीं रहा है।

चित्रक (Cheeta) पुराकाल में भारत का बहुत ही सुन्दर तथा शानदार पशु था। संस्कृत साहित्य में इसे कहीं कहीं 'द्वीपी' के नाम से भी स्मरण किया गया है। यह बघेरे या तेंदुए (Leopard or Panther) से अत्यन्त भिन्न एक दूसरा ही पशु है, जो बिल्ली और कुत्ते की जातियों का संमिश्रण है। यह कभी इस देश में प्रचुरमात्रा में पाया जाता था। यह एक बार पहले भी इस देश में से समाप्त-प्राय हो उठा था। परन्तु कतिपय भारतीय नरेशों ने शिकार के उद्देश्य से इसे अफ्रीका से मँगवाया था और उसके बाद इसका वंश भारतीय वनों में एक बार फिर उज्जीवित हो उठा था। परन्तु आज भारतीय जंगलों में से इसका अस्तित्व एक बार फिर नष्ट हो चुका है। कुछ वन-पर्यटकों का ऐसा विश्वास है कि भारत के दूरवर्ती वन भागों में यह अब भी विद्यमान है। परन्तु उनके इस कथन को निःसंदेह सत्य मान लेना कठिन है।

बाघ (Tiger) जो भारतीय जंगलों के सभी पशुओं में सबसे अधिक दर्श-नीय तथा तेजस्वी पशु है, वह भी आज क्रमशः अपनी सत्ता खोता जा रहा है और कितने ही प्रकृतिज्ञों का ख्याल है कि यदि इसके संरक्षण की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया गया तो निकट भविष्य में ही भारतीय जंगल इस पशु से भी क्षीण हो उठेंगे।

गैंडे की भी ऐसी ही कथा है। इस देश में कभी इसकी तीन उपजातियाँ होती थीं। एक, लघुकाय एक सींग का गैंडा, जिसे यवद्वीपी गैंडा कहते थे। दूसरा,

दो सींगों वाला स्वर्णद्वीपी गेंडा और तीसरा, दीर्घकाय व एक सींग वाला भारतीय गेंडा होता था। इनमें से प्रथम श्रेणी का गेंडा तो प्रायः नष्ट ही हो गया है। संभव है, बरमा के सीमांतवर्ती वनों में उसका एकाध जोड़ा कहीं पर बच रहा हो। यद्यपि भारत सरकार के 'गेंडा-संरक्षण-अधिनियम' के कारण आसाम तथा बंगाल के सरकारी बन्द जंगलों में लगभग ३५० की संख्या में यह अब भी उपलब्ध है; परन्तु किसी काल में यह भारतीय वनों में बहुतायत से पाया जाता था। हिमालय से निकल कर पटना की निकटवर्ती गंगा की धारा में मिल जाने वाली बिहार की प्रसिद्ध नदी [1]गंडकी के सघन वनों में, जो बंगाल के वनों से दो सौ—ढाई सौ मील से अधिक दूर नहीं हैं, कभी यह गेंडा बहुतायत से उपलब्ध होता था और संभवतः इस नदी का गंडकी नाम भी इसी कारण पड़ा था।

अरण्य महिष भी भारत का एक विशिष्ट वन्य पशु है। पालतू भैंसों का यही उद्‌भव-मूल है। कभी किसी प्राचीन काल में इनकी संख्या हमारे देश में बहुत [2]अधिक होती थी। परन्तु आज ये केवल केन्द्रीय तथा उत्तरपूर्वी भारत में ही उपलब्ध होते हैं।

जंगली गर्दभ की कहानी भी ऐसी ही है। कच्छ के रान में उपलब्ध होने के अतिरिक्त अब यह भारत के किसी भी जंगली भाग में नहीं पाया जाता, और इसका एक बड़ा कारण यह है कि शिकारी नामधारी हिंसक लोगों के लिए उन स्थानों में पहुँच सकना सुगम नहीं रहा है और ये बेचारे जंगली गर्दभ इसी कारण अपनी सत्ता बचाए हुए हैं।

इनके अतिरिक्त सरल, सीधे और निरपराध हरिणों की कितनी ही उप-जातियाँ, आसाम से कुमाऊँ तक के पर्वत भागों में पुष्कल मात्रा में प्राप्त होने वाला जंगली बकरा (गोराल), नेपाल के पहाड़ों में उपलब्ध होने वाला कस्तूरी मृग तथा चमरी गाय, भारत के उत्तर-पश्चिमी, मध्य तथा दक्षिणी भागों में मिलने वाला बस्टार्ड तथा इसी प्रकार के अन्य वन्य पशु या तो अपनी सत्ता खो बैठे हैं या धीरे-धीरे खोते जा रहे हैं। टाकिन (Takin) उत्तर-पूर्वी भारत में विशेष रूप से पाया जाता है और यह अधिक संख्या में नहीं होता। समय समय पर शिकारी लोग इसे नष्ट करते रहे हैं। अब यह कहीं उपलब्ध हो भी सकता है या नहीं, इसका निश्चित

---

१. आज इसे गंडक नदी कहते हैं।

२. 'अभिज्ञान शाकुंतल' में अरण्य महिषों का जो वर्णन आता है (गाहन्तां महिषा निपान सलिलं···) उससे पता चलता है कि शिवालक की घाटियों में और वर्तमान नजीबाबाद के जंगलों में ये प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते थे। आसाम की अभी हाल की बाढ़ों तथा भूकम्पों में भी इनका बड़ी संख्या में विनाश हो गया है।

उत्तर देना फोटो कैमराधारी वन-पर्यटकों के हाथ की बात है।

इधर जब प्रकृति-उपासकों की तरफ से जंगलों की इन सुन्दर प्रजाओं के लिए इस तरह स्नेह व्यक्त किया जाता है और उनके ह्रास के लिए इतनी चिन्ता प्रकट की जाती है, इस देश में ऐसे स्वतंत्र विचारकों की भी कमी नहीं है, जो यह कहते हैं कि इन वन्य पशुओं के सुरक्षित रखने की आवश्यकता ही क्या है ? इनके नष्ट हो जाने से संसार को कुछ भी हानि नहीं है—ऐसा कहने वालों में अधिक संख्यक प्रायः वे ही लोग हैं, जो यह नहीं मानते कि सृष्टि का कोई भी पदार्थ—चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न दीख पड़ता हो—व्यर्थ नहीं है। प्रकृति ने उसे मनुष्य का खिलौना या उसके मनोरंजन का साधन बनाकर उत्पन्न नहीं किया, बल्कि इस संसार रूपी मशीनरी का कोई बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग बनाकर उसकी सृष्टि की है। संसार में समतुलन की व्यवस्था को सुरक्षित रखने सरीखे गंभीर उद्देश्य से ही उसकी रचना की है। ऐसे लोग मानव जगत को ही एक मात्र उपयोगी वर्ग मानते हुए या तो पशु-जगत की उपयोगिता के सम्बन्ध में जानते ही नहीं, या जानकर भी उसे स्वीकार नहीं करना चाहते।

पूछे जाने पर यह बताना तो सचमुच ही कठिन होगा कि अमुक पशु संसार म किस अभाव की पूर्ति कर रहा है, या संसार के लिए उसका क्या उपयोग है; क्योंकि यह सृष्टि इतने रहस्यों से भरी पड़ी है कि उसके प्रत्येक तत्त्व को समझ लेना एक प्रकार से असंभव ही है, तो भी केवल इसलिए कि किसी पशु की उपयोगिता प्रतिपादित नहीं की जा सकती, उसे नष्ट कर देने का भी कोई अर्थ नहीं जान पड़ता संसार के विशेषज्ञ इन पशु-पक्षियों तथा जलेचरों की उपयोगिता के सम्बन्ध में दिन प्रति दिन अनुसंधान करने में लगे हैं और उस अनुसंधान के आधार पर ही वे लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि विश्व की कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं है। किसे पता था कि समुद्र में बसने वाले शार्क तथा सील [1] (सिंहिका) भी हमें 'इन्सुलिन' सरीखी एक ऐसी दवा दे सकेंगे, जो मधुमेह जैसे संहारक रोग में फँसे हुए करोड़ों मनुष्यों को मृत्यु का ग्रास बनने से बचा सकेगी।

यथार्थ बात तो यह है कि यह समस्त ब्रह्मांड एक विराटकाय कलायंत्र के तुल्य है जिसमें सृष्टि के ये छोटे-बड़े प्राणी उसके पुर्जे बनकर बैठे हुए हैं। उस कलायंत्र की सत्ता वनस्पति-जगत तथा पशु-जगत (मनुष्य भी इनमें सम्मिलित है) के समतुलन पर आश्रित है। जैसे किसी मशीनरी के छोटे से पुर्जे के भी बिगड़ जाने

१. बाल्मीकि रामायण में लंका के समुद्र में इस जल-प्राणी के बड़ी भारी संख्या में पाये जाने का वर्णन है।

स्थान-भ्रष्ट हो जाने या खो जाने से उस मशीनरी का कार्य बन्द हो जाता है, इसी प्रकार किसी वनस्पति या पशु के औचित्य में ह्रास आ जाने से इस विराटकाय कलायंत्र में भी ऐसा विपर्यास आ जाता है कि उसके अनेक भयंकर दुष्परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ—जिन परामर्शदाताओं ने अन्न को ही सर्वस्व मान कर उसके लिए जंगलों को काट गिराने का परामर्श दे डाला था; बाद में जब नदियों की भयंकर बाढ़ों तथा प्राकृतिक स्रोतों के पृथ्वी की गहराई में उतर जाने के कारण धरती के बंजर तथा उच्चावच व विकृत हो उठने की घटनाओं ने उन्हें आश्चर्य में डाल दिया; तब उन्हें यह समझना पड़ा कि देश के कल्याण के लिए अधिक अन्न उत्पादन की आवश्यकता तो अवश्य है परन्तु उसका उपाय जंगलों को नष्ट करना नहीं है। इससे तो उनके अपने ही लक्ष्य को व्याघात पहुँचता है।

केवल प्रकृति में ही इस समतुलन की आवश्यकता नहीं है, वनस्पति तथा पशु-जगत के पारस्परिक समतुलन के बनाए रखने की भी वैसे ही आवश्यकता है, जिसे यदि भंग किया जायगा तो उसके भी वैसे ही भयंकर परिणाम निकले बिना न रहेंगे और इस समतुलन का नाश करने वाले मानव को ही एक दिन उसका दंड भोगना पड़ेगा।

इन पिछले कुछ वर्षों में ही जंगलों के निकटवर्ती ग्रामों में बसने वाले इतने अधिक मनुष्य बाघों व तेंदुओं के हाथों मार डाले गये हैं कि तंग आकर वे लोग यह परामर्श दे उठे हैं कि पशुओं के संरक्षण की दुहाई देना बंद कर उनका शीघ्र वध किया जाना ही उचित है।

परन्तु, यदि इन हत्याओं के मूल कारणों पर विचार किया जाय—जैसा कि अनेक विशेषज्ञों ने किया है—तो बहुत ही अच्छी तरह समझ आ जाता है कि स्वयं मनुष्य की अपनी भूल ने ही इस महान् संकट को पैदा किया है। बाघ या शेर सामान्यतया वनों में ही रहना पसन्द करते हैं, बस्तियों में नहीं आते। यदि उन्हें छेड़ा न जाय या आहत न किया जाय तो साधारणतः वे मनुष्य पर आक्रमण भी नहीं करते। परन्तु जंगलों को काटकर जब हमीं लोगों ने हरिणों और नीलगायों को वहाँ से भाग जाने के लिए बाधित कर दिया, अथवा गोली का निशाना बनाकर उन्हें नष्ट कर दिया, तो अपना प्राकृतिक खाद्य न पाने के कारण बाघों को भी अपनी क्षुधा का प्रश्न हल करने के लिए या तो गांवों के पालतू पशुओं की ओर या वहाँ के मनुष्यों की ओर आकर्षित हो जाना पड़ा। वनस्पतिवर्ग तथा पशुवर्ग के पारस्परिक समतुलन को भंग कर देने से ही इस प्रकार के दुष्परिणाम मानव जाति को भोगने पड़ रहे हैं।

इसलिए शासन के कन्धे पर इस समय एक गुरुतर बोझ आ पड़ा है। एक तरफ, जहाँ अधिक अन्नोत्पादन के लिए अधिक धरती को हल के नीचे लाना आव-

श्यक हो उठा है, दूसरी तरफ, राष्ट्र के प्राकृतिक स्रोतों, निर्झरों, जलाशयों तथा नदियों के बहाव को अक्षुण्ण बने रहने देने, मरुस्थल की वृद्धि को रोकने, भवनोपयोगी काष्ठ तथा शहतीरों के उत्पादन का प्रबन्ध करने, पशुओं के लिए चरागाहों की व्यवस्था करने, वनौषधियों के उत्पादन में वृद्धि करने तथा पशुओं के रहने देने के लिए जंगलों की उन्नति करने के आवश्यक कार्यों का संपादन भी अनिवार्य हो उठा है। इसके साथ ही इन जंगलों में रहने वाले पशुओं के बढ़ते हुए ह्रास पर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था करना भी शासन का ही कर्तव्य हो उठा है।

इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि वन्य पशुओं के ह्रास का एक मुख्य कारण उनका शिकार है। शिकारी लोग पशु की उपयोगिता, उसकी विशिष्टता, उसकी आयु तथा उसके लिंग भेद का परिज्ञान किये बिना ही, जिस प्रकार के अविचारितापूर्ण ढंग से उनका शिकार करने में लगे हैं, यह एक ऐसी निन्दनीय प्रथा है, जिस पर बहुत ही कठोरता से नियंत्रण रखने की आवश्यकता है।

यह जानकर प्रसन्नता होती है कि नवंबर १९५२ में भारतीय वन्य पशु बोर्ड का जो प्रथम अधिवेशन मैसूर में हुआ था, उसमें इस शिकार प्रथा के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई गई थी और केन्द्रीय सरकार ने भी उस सम्बन्ध में कतिपय उपयोगी कदम उठाये हैं। शेर आदि की खालों के बिकने तथा जीवित पशु पक्षियों के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर वन्य पशुओं के संरक्षण को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया जा रहा है। बम्बई सरकार ने भी अपने राज्य में वन्य पशु तथा वन्य पक्षी संरक्षण अधिनियम लागू कर दिये हैं। इसी प्रकार की एक अन्य कान्फ्रेन्स 'फारेस्ट्री कांग्रेस' या वन्य कांग्रेस के संरक्षण में १९५४ में देहरादून में होने जा रही है, जिसमें अन्य बिषयों के साथ पशु संरक्षण के सम्बन्ध में भी विचार किये जाने की आशा है।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक गम्भीर प्रश्न और भी आ खड़ा होता है। शिकारी संप्रदाय का कहना है कि शिकार प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाने से संसार के एक महानतम मनोरंजन को ठेस पहुँचने का भय है। शिकार को व्यसन बताकर उसकी निन्दा करना, या उन पर पशुहत्या का आरोप लगाकर उन्हें अपराधी ठहराना उसकी वास्तविकता से अपरिचित होना है। उनका दावा है कि जंगल सौन्दर्य से अटूट सम्बन्ध बनाये रखने, भाग दौड़ और अनेक प्रकार के व्यायामों द्वारा स्वास्थ्य को स्थिर रखने, हिंस्र पशुओं का सामना कर निर्भयता सम्पादन करने, और उनके चरित्र का अध्ययन करने आदि अनेक जीवनोपयोगी बातों का लाभ इस शिकार के बहाने ही तो प्राप्त होता है।

हम उनके इस कथन को स्वीकार करते हैं। परन्तु वे जिन जीवनोपयोगी बातों पर इतना बल देते हैं, उनकी प्राप्ति तो वन्य पशुओं का वध किये बिना भी

हो सकती है। बल्कि, हमारा तो यह अनुभव है कि शिकार के लक्ष्य से जो शिकारी जंगलों में कैम्प लगाते हैं, उन्हें उपर्युक्त जीवनोपयोगी बातों की यथार्थ प्राप्ति ''बहुत ही कम होती है। इसका कारण यह है कि हिंसा की भावना उन्हें उस आनन्द से वंचित कर देती है। वन्य जीवन से जीवनोपयोगी बातों का वास्तविक लाभ उठाने के लिए हमें वनों को संसार की दिव्यतम विभूति मानकर ही उनमें प्रवेश करना होगा। वन देवता को अप्रसन्न करने का एक भी कार्य वहाँ न होना चाहिए। बन भूमियाँ सौन्दर्य के अक्षय भण्डार हैं; अहिंसा, प्रेम और शांति के प्रतीक हैं; वैराग्य के उद्दीपक हैं; आनन्द के स्रोत हैं; पवित्रताओं के निकेतन हैं···उनके लिए हमारे हृदय में ऐसी ही सम्मान भावना रहनी चाहिए। तभी तो रस आयगा।

गत १७ वर्ष से 'आरण्यक-संघ' इसी विचार-धारा को प्रोत्साहित करता आ रहा है। वन्य प्रेम के इन्हीं उदात्त सिद्धान्तों को लेकर उसके सदस्यों ने जो अनेक संख्यक बन यात्रायें की हैं, प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं की एक सूक्ष्म और वास्तविकतापूर्ण झाँकी प्रदर्शित की गई है।

यह सत्य है कि वन शांति के स्रोत हैं परन्तु यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे विभीषिका के निकेतन भी हैं और इस विभीषिका का रसास्वादन भी इन वन यात्राओं का एक उद्देश्य है, आज यह मानने में मुझे कुछ भी संकोच नहीं है। इन भयों के रहते हुए यात्रा प्रसंगों में ऐसे अवसर भी प्रायः आते रहते हैं जब पर्यटक को हिंस्र पशुओं की हिंसा वृत्ति और क्रोध का लक्ष्य भी बनना पड़ जाता है। तब किस अवस्था में, कैसे आत्मरक्षा करनी चाहिए, रायफल का सहारा लिये बिना भी आक्रमण को कैसे विफल बना देना चाहिए यह एक ऐसा गूढ़ विषय है, जिसका ज्ञान निरन्तर अभ्यास से ही मिल सकता है।

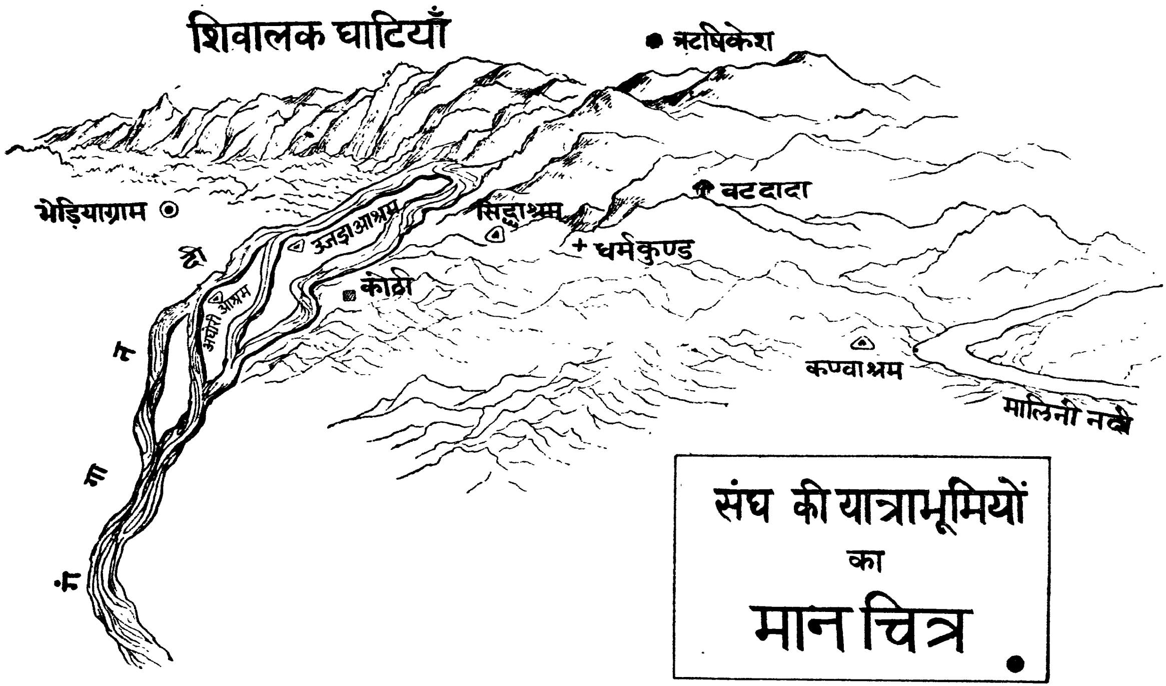
'संघ' की तरफ से जंगलों में जो कैम्प प्रतिवर्ष लगाये जाते हैं, उन से एत-द्विषयक शिक्षाएँ सुविधा से प्राप्त की जा सकती हैं। उसके अतिरिक्त वहाँ लक्ष्य-वेध, वृक्षारोहण, तैरने की शिक्षा, पर्वतारोहण, दैनिक व्यायाम आदि का जो अभ्यास कराया जाता है, वह उसकी अपनी एक ऐसी अतिरिक्त विशेषता है, जिसकी आज देश में अत्यन्त आवश्यकता है। रायफल के स्थान पर फोटो कैमरे द्वारा पशुओं की भयंकर मुद्राओं के फोटो चित्र ले सकने के अवसर भी कैम्प जीवन में प्राप्त कराये जाते हैं और मचान पर बैठकर शेर आदि हिंस्रक पशुओं के दिखाने का प्रबन्ध भी कैम्प जीवन की एक अपनी विशेषता है।

अभिप्राय यह कि शिकार किये बिना ही शिकार के समस्त उपयोगी आनन्द केवल वन-पर्यटक बन कर ही प्राप्त किये जा सकते हैं। इन के लिए पशु हिंसा और उनके शिकार की आवश्यकता नहीं।

—श्रीनिधि



सूचिका


शिवालक घाटियाँ
ऋषिकेश
वटदादा
भेड़ियाग्राम
सिद्धाश्रम
धर्मकुण्ड
उजड़ा आश्रम
कोठी
अघोरी आश्रम
गं गा न दी
कण्वाश्रम
मालिनी नदी
संघ की यात्राभूमियों
का
मान चित्र

शिवालक की घाटियों में

पूर्व-पीठिका



एक बार फिर आज
—कितने ही वर्ष बाद—
मैं आया हूँ,
शिवालक की इस—
सिंह—व्याघ्र—समाकुल,
सूनी, भीषण, परिचित घाटी में।
—कभी यहाँ बीता था
मेरे जीवन का उषः-काल—
मेरा शैशव;
और, हुआ था यहीं वह

—मृग शावों के, खग-शिशुओं के साथ-साथ—
किशोर वयस में परिणत।
ये हैं, मेरे उन दिवसों के—
संस्मरणों का पुण्यतीर्थ;
यहीं निहित हैं, मेरे जागरणों की आकांक्षायें,
निद्रा के स्वप्न सुनहरे;
इन्हें कर न सके नष्ट
नगरों के मादक आकर्षण;
हैं आज भी मेरे लिये, ये—
वैसे ही प्रिय, वैसे ही रोमांचपूर्ण,
वैसे ही आकर्षक।

—हैं आज भी याद मुझे,
वे, वनवासी शुक-तापस,
जिनके कोटर-पतित-फलोच्छिष्ट-कण,
दिया करते थे मुझको शैशव में,
वन्य-फलास्वादन के मौन निमन्त्रण।
आज भी अंकित हैं मेरे मानस पट पर
वे, ग्रीष्म मध्याह्नों के—
शीतल लता-गृह;
जिनकी धूसर पत्र-शय्याओं पर
लिया करता था मैं, कितनी ही बार,
वन्य निद्राओं के स्वर्गीय-आनन्द।

कैसे विस्मृत हो सकते हैं,
वे, प्रशान्त-सरिता-तट-शायी—
विस्तीर्ण सैकत पुलिन;
जिन पर—ज्योत्स्नामयी रजनियां
कराया करती थीं निद्रामग्न हरिणयूथों को
निर्मल चन्द्रिकाओं के अजल-स्नान।
हैं आ रहे याद मुझे
वे झिल्ली-झंकार पूर्ण, निस्तब्ध जलाशय,
—जिनके आर्द्र-सैकत तटों पर अंकित

पूर्व-पीठिका

निशीथ-जल पानार्थी-सिंहों के अभिनव पद चिह्न—
बना दिया करते थे,
पार्श्व भूमियों को दिन में भी आतंक-पूर्ण।
क्या भूल सकूंगा कभी,
उस, शोभांजन-द्रुम-वासिनी,
वन पुजारिणी, माधवी लता को;
जो, घाटी के वार्षिक कुसुमोत्सवों पर,
किया करती थी स्तुति गायक-भ्रमरों को,
अपने अभिनव पुष्प-पात्रों में
मकरन्द चरणामृत वितीर्ण !

× × ×

पर, आज कहां वे ? कहां गये वे ?
सब हो गये दिवंगत !
नहीं चिह्न तक रहे शेष !!
—उस काल-महासर्प की फूत्कारों में—
बन बन कर वाष्प,
वे इस तरह हो गये विलीन,
कि—इतने ही वर्षों में,
बदल गया यहां का प्रायः सारा ही पुरातन मानचित्र;
बदल गईं वनभूमियां,
बदल गये वृक्षों के क्रम,
बदल गये गिरि-नदियों के, निर्झर प्रपातों के—
प्रवाह मार्ग;
बदल गये कुशाहारी वैखानसों के
वे बहुव्यवहृत हरिण-पथ;
केवल, रह गईं कथायें उनकी,
उनकी स्मृतियां पुरातन।

अरे, नहीं बतायगा क्या कोई—
कहां गये, कहां चले गये,
वे मेरे मूक बन्धु ?
—वन क्रीडाओं के मौन साक्षि,

मानव से भी प्रियतम साथी ?
ये ही तो थे—
जो आया करते थे, नगरों की निश्शब्द निशीथों में
स्वप्नों के पंख लगाकर,
मुझे निमन्त्रित करने।
ये ही तो थे—
सुन पड़ा करता था जिनका
—भोजनान्त-विश्रामों में मुझे—
दूर...किन्हीं स्वर्णिल क्षेत्रों से आता
वैराग्यपूर्ण आह्वान।

पर, मुझ मन्दभाग्य ने हाय,
तब किया न उन स्नेह-निमन्त्रणों का आदर।
वे जब जब आये,
लिये स्निग्ध हृदय, मुझे बुलाने,
मैंने कर पूर्ण उपेक्षा उनकी
लौटा दिया उन्हें
कर नितान्त असफल, कर निराश !!

अपने उस नागरिक जीवन की,
उस एक 'हिमालय-सी भूल' का ही तो आज—
पा रहा हूँ यहाँ मैं
यह हृदयदाही दुष्परिणाम,
कि चले गये, सदा के लिये चले गये,
—त्याग मुझे,
वे मेरे शिशु-जीवन के वन्य मित्र;

अब तो शायद,
हो गये युग-युग तक, उनके दर्शन असंभव !!
या, संभव है,
—द्वारका प्रवासी कृष्ण के व्रज गोपालों की तरह—
की हो उन्होंने
कितने ही वर्षों तक प्रतीक्षा मेरी;
पर अन्त में,

पूर्व-पीठिका

देख मुझ निष्ठुर के पुनरागमन को—
नितान्त असंभव;
हो रुष्ट, हो निराश मुझ से,
वे चले गये हों कहीं,
किन्हीं अज्ञात प्रदेशों को।
या, संभव है,
कर लिया हो उन्होंने
पाण्डुपुत्रों-सा स्वर्गारोहण।
या, क्या जानें, हर ले गया हो उन्हें कोई
—सीतापहारी दशकन्धर-सा—
अमानव मृत्युदूत।

तब क्या सचमुच हो गये वे प्रणष्ट ?
क्या, कर न सकूँगा उनके दर्शन ?
क्या, हो न सकेंगे उनसे
फिर वे ही स्नेहालाप पुराने ?

× × ×

है अणु अणु घाटी का वसन्तोत्सव मग्न;
बरसा रहा नील गगन अश्रान्त मधु;
कर रहे मदभरे दिवस—
पुष्पित द्रुम छायाओं में अर्धनिद्र विश्राम;
बज रहीं शत-शत भ्रमर वीणायें;
हो रहे द्रुम-द्रुम पर—
वासन्तिक पक्षियों के आमोद नृत्य,
मुक्त मधुपान,
संगीत - सम्मेलन

ऐसे में,
एक मैं ही खड़ा हूँ यहाँ, अकेला,
विह्वल, उदास,
शैशव मित्रों की स्मृतियों में शोकमग्न;
खोजता घाटी घाटी में
—सीतान्वेषी राघव-सा—
विगत बन्धुओं को।

कि, इतने में ही हठात्,
पुकार उठा उल्लास भरे स्वर में कोई—
"स्वागत ! युग-युग के बन्धु,
कब आये, कहाँ रहे इतने दिन ?"

—चौंक उठा !!
देखा, सामने ही—
सघन द्रुमछायाओं में अनतिदूर,
देखती करुण नेत्रापाँगों से मुझे

हँस रही है मृदु-मृदु,
शोभाँजन - द्रुम - वासिनी,
गैरिक वसना, पुष्पमालाधारिणी,
आयुष्मती लता एक;

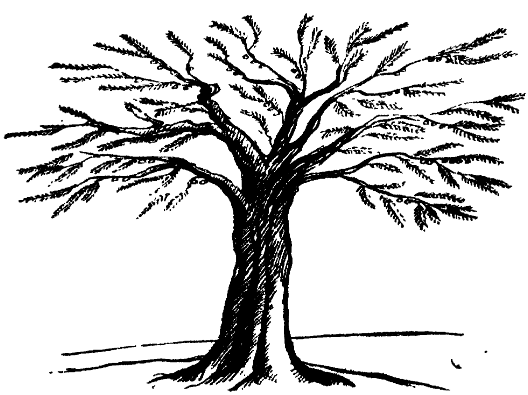
"अरे ! ये तो है वही माधवी हमारी,
तपोधना, वन पुजारिणी !!"

—कहता हुआ दौड़ उठा,
हर्षोन्मत्त हुआ उसकी ओर;
पहुँच निकट, कर उस पूजनीया के चरण-स्पर्श,
पूछ उठा विह्वल स्वर में—
"अपि तपो वर्धते ? अपि कुशलं महाभागे ?"

बोली—"कुशलं सखे, वनदेवता प्रसादेन।"
फिर कुछ ठहर बोली—"पर तुम तो
जब से गये, मित्र ! फिर एक बार भी नहीं आये
सुध लेने हमारी।
होता है नगरों में क्या इतना आकर्षण ?
इतना सौन्दर्य ?
तब तो, हमें भी ले चलो न, एक बार वहाँ।"
—कहकर हँसने लगी मृदु-मृदु वह;
फिर बोली—"क्या भूल गये उन दिवसों को,
जब यहाँ,
इसी पुष्पमयी छाया में हमारी

पूर्व-पीठिका

कभी बहा करती थी
पितृगृहवियुक्ता,
अर्धलज्जिता ग्रामवधू-सी,
जह्नु-सुता-सी, एक क्षीण धार;
—चपल-बीचि-नूपुर-चरणों से
पाषाणों पर कलरव करती;
जिसके शीतल जल में कटि प्रमाण
उन शैशव दिवसों में
किया करते थे तुम
कितने ही स्वच्छन्द स्नान
क्रीड़ा - विनोद - गान;
—भूल गये क्या ?
ले उच्छ्वास बोला मैं—
"लज्जित हूँ अपनी वन-उपेक्षाओं पर
महाभागे !
पर, क्या भूल सकूँगा कभी
उन मधु दिवसों को ?
है आज भी मुझे उनकी एक-एक कथा,
एक-एक वस्तु स्मरण ।
मुझे स्मरण है, मुझे स्मरण है,
उस—सम्मुखवर्ती ऊँचे तट पर
खड़ा हुआ था कभी आमलकी का एक वृक्ष;



—एकाकी;
—विरक्त तपस्वी-सा;
जिसके कटु कषाय फल
तृप्त किया करते थे शरद् काल में
मेरी शैशव अभिलाषा को।
पर, आज नहीं पता चल रहा,
कहाँ गया वह ?

और उधर,
उन पाषाण समाकुल,
विरलकाश, पुलिनों पर
दीखा करते थे बहुधा ही
—पौराणिक जड़ भरत से—
दो एकान्त निवासी भोले मृग;
जिनके सम्बन्ध में, शैशव में,
सुना करते थे हम कथा कोविद घोष वृद्धों से
कितनी ही जन श्रुतियां,
कितनी ही गाथाएँ मुग्ध, भ्रान्त !
पर, आज नहीं दीख पड़ रहे, वे भी;
कहाँ गये वे ?
सच कहता हूँ, सच कहता हूँ, कल्याणी !
मैं पा रहा उनके बिना
प्रियजन-विप्रयोग-सा असह्य दुःख !
इस आमोद-प्रमोद-मग्न घाटी के अन्तराल में
उनकी मृत्यु-वेदना का
हो उठा है जो अन्तर्धूम घनीभूत;
अब कौन उन मित्रों के बिना
कर सकेगा उसका निराकरण ?
इन नवागत खगों, नव वनेचरों,
नूतन द्रुमलताओं में भला,
कहाँ वह क्षमता; जो कर सकें वे
उस महाविषाद को नष्ट,

पूर्व-पीठिका

और, भर सकें घाटी के कण-कण में
फिर वही पहले-सा उज्ज्वल प्रकाश,
वही नवोल्लास,
वही नवाकर्षण ! !
इन नये वासन्तिक दिवसों में भी आज
कहाँ वह पहले-सा माधुर्य ?
ये भी तो दीख पड़ रहे आज
नीरस-से, उदास-से, श्रीविहीन !

ऐसे में—
परित्यक्ता अहिल्या-सी
तुम कैसे काट रही हो, हे कल्याणी !
इन अपरिचित वनवासियों में
अपने साथीशून्य निःसंग दिवस ?"

× × ×

कर दिव्यहास बोली वह—
"है यह तुम्हारी भ्रान्त धारणा, मित्र !
नहीं यहाँ कोई भी नया, अपरिचित।
हैं ये सब वे ही तुम्हारे—
पूर्व परिचित वन्य बन्धु;
जो त्याग पुरातन देहों को
ले पुनर्जन्म, ले नव्य देह,
हैं कर रहे प्रदान इस घाटी को
वही पहले-सा नवजीवन,
पहले-सा नवोल्लास;
चिर अनादिकाल से, चले आ रहे ये—
ऐसा ही करते निरन्तर;
अमर, अनश्वर हैं ये;
मृत्यु न कर सकती इनका विनाश,
यह घाटी ही है इनका गेह चिरंतन,
पुण्य तपोवन;
है यहीं इनका शाश्वत जन्म-मरण।"

फिर, कुछ ध्यानावस्थित-सी होकर
बोली वह—
"पर, इन चर्मचक्षुओं से
तुम कर न सकोगे उनके दर्शन;
लो, देती हूँ मैं तुम्हें दिव्य चक्षु,
जिनसे देख सकोगे फिर
अपने उन्हीं पुरातन मित्रों को।"
कहकर, जैसे ही किया उसने मुझे स्पर्श,
हो उठा तनु मेरा रोमांचित;
अन्तस्तल पुलकित;
उड़ गये क्षण भर में—
हृदयाकाश भरित शोक मेघ;
तब देखी मैंने, इन तथाकथित नवतरुओं,
नव-विहग-वनेचर-जलाशयों में
वे ही पुरातन छवियां अन्तर्हित;
उनकी नूतन देहों में भी
पहचान लिया मैंने उन को !

सच ही कहा था माधवी ने—
'नहीं इस विश्व में कोई
नूतन, अपरिचित, अदृष्टपूर्व;
है मृत्यु का ही रूपान्तर—जन्म,
अतीत ही बनता है—वर्तमान।'
इसीलिये तो—
खग कण्ठों में भरे हुए हैं
वे ही पहले से मधुरव, चिर-परिचित;
—जिन्हें सुना करता था मैं शैशव में।
भरी हुई विपिनों में
वैसी ही सुषमा,
वैसा ही आकर्षण;

मृग नयनों में बरस रहा
वैसा ही मद;

पूर्व-पीठिका

पद चिन्हों में सिंहों के,
भल्लूकों, मत्तगजों के
वैसा ही भय, वैसी ही धड़कन;
मर्मर ध्वनि में झरनों के
सुन पड़ता वैसा ही निस्तब्ध राग—
वैराग्यपूर्ण;

उतर गगन से शशि ज्योत्स्नायें—
जलाशयों में,
करतीं वैसे ही एकान्त स्नान;
वैसे ही उज्ज्वल प्रभात—
शुचि, मनोहर;
वैसे ही उषः-काल—
प्रशान्त निर्मल;

× × ×

कितनी इच्छा थी,
इन मधु-गन्धी-विपिनों में
कर निवास,
मैं करलूँ अपने जीवन को परम धन्य,
—जाऊँ न कहीं और इन्हें त्याग;
पर, हो न सका मेरा यह स्वप्न पूर्ण;
जीवन के शाश्वत प्रश्नों ने बन कठोर
कर दिये मनोरथ मेरे छिन्न-भिन्न;

ओ, आदिशक्ति,
इस 'अर्थ-दैत्य' का
क्या मानव-हित
स्वयं किया है तूने सर्जन;
या मानव की 'सिन्दबाद'-सी दैन्यवृत्ति ने
चढ़ा लिया है स्वेच्छा से ही,
इस वृद्ध-दैत्य को निज स्कन्धों पर ?
कहो, कौन सी बात सत्य है ?
या, रहने दो, रहने दो,

शिवालक की घाटियों में

करने दो दार्शनिकों को इसकी मीमाँसा;
मेरे पास विवेचन का अवकाश कहाँ है ?

मैं यहाँ अकेला,
इस निकुंज की हरी शष्प पर लेटा
सुन रहा वनेचरों के
वे ही चिर-परिचित वन्य गीत;

वह दूर.........
सुन पड़ रहा किसी लकड़हारे का
कुल्हाड़ी—शब्द,
गूँज रहीं रह-रहकर घाटियाँ;

है गोधूलि-वेला का समय शान्त,
ऐसे में पुकार रहा कहीं
—ह्रस्व प्लुत स्वरों में उत्थान-पतन देता हुआ—
किसी द्रुमछाया में खड़ा
—घाटी का वन देवता-सा—ग्वाला यह
अपनी वन धेनुओं को;

और वे भी, चली जा रहीं
निश्चिन्त, मन्थर गति से
—तपोधन वशिष्ठ की होमधेनु नन्दिनी-सीं—
स्तन कुण्डों में भरे अमृत से
परिप्लावित करने मर्त्यलोक को।

और वह, उधर कहीं
कूक उठता है कभी-कभी वन्य मोर;
—जब सोचता हूँ,
किन स्वर्णाभ पत्रियों से बनीं होंगी
रहस्यावृत झाड़ियाँ वे;
जिनकी ओट में खड़ा
सुना रहा वह केकावाणी बार-बार
—जगाता हुआ हृदय में वैराग्य भाव—;
एक स्वर्णिल कल्पना से भर उठता हृदय मेर
हो उठतीं झंकृत हृत्तंत्रियां;

पूर्व-पीठिका

मुझे लगता नहीं इस लोक का वह,
लगता है कोई लोकान्तरवासी देवदूत।
या, संभव है,
वह न हो वन मयूर;



हो किसी अनादि-विरही की
वाङ्मयी वेदना ध्वनि,
चिर शताब्दियों से भटक रही जो
वन-वन घाटियों में
वियुक्त-प्रियजन को खोजती।
प्रणाम !! वनेचरो,
प्रिय घाटियो, अनेक प्रणाम !!!
सृष्टि के प्राचीनतम काल से
ऐसे शत-शत रहस्यों से
व्याप्त हो रहा तुम्हारा अभेद्य अन्तस्तल;
चिर अनादिकाल से
चली आरहीं तुम ऐसी ही दुर्बोध्य.
ऐसी ही अज्ञेय;
विश्व के उच्चतम मस्तिष्क भी
जब पा न सके तुम्हारा रहस्य भेद,
तब हो उस अज्ञान-गर्भित-आनन्द में
आकण्ठ मग्न,
कह उठे वे एक स्वर से—नेति नेति;

और, होकर तुम्हारी सौन्दर्य राशि पर मुग्ध,
कर उठे तुम्हारे इन गिरिगह्वरों—
नदी संगमों के पुण्य गान;
तब तुम्हीं में तो प्रकाशित हुए
वे सृष्टि के अपौरुषेय प्रथम गीत;
उद्भासित हुए तुम्हीं में वे
विश्ववन्द्य दर्शनोपनिषद्
आरण्यक, छन्द-सूत्र;
और, उच्छ्वसित हुए
गोदा-तट वासिनी जानकी से,
कण्वाश्रम-वासिनी शकुन्तला से,
अच्छोद तट वासिनी महाश्वेता से
महाकवियों के अरण्य गीत;
धन्य है, धन्य है, तू
ओ, महिमामयी ! !

× × ×

वन की इस सुनिर्मल महिमा से इस तरह भर उठा था मेरा मन कि मुझे ा भी न चला कब वसन्त काल का वह परिणाम-रमणीय दिवस सन्ध्याराग में ्णत हो उठा। कब अस्ताचलगामी प्रियतम के विरह में मेघदूत-नायिका-सी दिन- मलिन वसना हो उठी। मेरा यह ध्यान तब भंग हुआ जब वन के किसी अज्ञात ान में बैठी कोई विहंगम-दूतिका वन घोषणा के बहाने मुझे यों संबोधन कर उठी— ज उठा सायंकालीन मयूर। जाग उठीं वनभूमियों में भय की छायाएं। आगई ः-विश्राम की वेला—।

जल्दी ही निकुंज से निकल मैं चल पड़ा अपने निवास स्थान की ओर। जानता वनेचरों के कोमल स्वभाव को, उनके अतिथि प्रेम को; परन्तु ये 'भय की छायाएं' ·······इनकी तो प्रकृति ही भिन्न है, कया ही निराली है। इन पर विश्वास किया जा सकता। इन्हीं के भयजनक वातावरणों में जन्म हुआ है मेरा, और के भयंकर कृत्यों और क्रूरताओं के बीच में रहकर ही मेरा शैशव क्रमशः ान की ओर अग्रेसर हुआ है। मानता हूँ, इनके बिना वनवास जीवन में मांस' नहीं; भय मिश्रित आनन्द नहीं; आकर्षण नहीं। तब भी जंगल-जीवन की ्णभूत वस्तु उसकी यह भयानकता नहीं, उसका प्रशान्त महिमामय सौन्दर्य है, जिससे कृष्ठ होकर अतीतकाल के सहस्रों महान् द्रष्टाओं ने अपने जीवन को 'वनवासी'

बनाकर धन्य किया था। जीवन के अमर सन्देशों से भरी हुई इन प्रशान्त, निर्मल घाटियों में मुमुक्षु मानव के लिए चिरकल्याण की जो पुकार सुन पड़ रही है, अरण्य प्रेम का वही प्रधान कारण है। और उसी में निहित है वनवास जीवन का सम्पूर्ण रहस्य।

परन्तु वे नगर? उनका तो इन वनों से कहीं भी मेल नहीं, कहीं भी सामंजस्य नहीं। न तो है, जान-बूझकर भयों में कूद पड़ने का आग्रह, और नां ही प्रकृति प्रदत्त सुख भोगों को तिलांजलि देकर अकारण ही कठोर जीवन बिताने की आवश्यकता सीधे, सरल प्रेय मार्ग से चलना ही उन्हें अभीष्ट है। तब पूर्वजन्म की किन प्रेरणाओं के कारण मेरा व्याकुल मन सदा ही 'वनवास-वनवास' की रट लगाता रहा है, कह नहीं सकता। अब यहाँ आकर कहाँ वे विद्युत-प्रदीप-आलोकित अट्टालिकाएं, प्रसन्न नर-नारियों के यातायात से भरे हुए वे प्रशस्त राजपथ, वे समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों और नाना जाति के प्रलोभक, सुख-साधनों से परिपूर्ण सुन्दर हाट-बाज़ार, वे उद्दाम यौवन का प्रदर्शन करनेवाले चलचित्र, वे अनिंद्य सुन्दर मुख, वे सुन्दर वेष-भूषायें, वे नृत्य संगीत, वे आकर्षक हास्य, वह शारीरिक कष्ट-हीन जीवन; कुछ भी तो नहीं है।

तब भी ऐसा लगता है, इन एकान्त-द्रुम छायाओं में, इन पक्षियों के वन्य गीतों में, इन गिरि-नदियों के शून्य प्रवाहों में, इन निर्झरों के अश्रान्त नादों में, इन निर्मल सूर्यास्तों में, इन यथेच्छा-भोग्य वन्य फलों में, इन जनसंचार शून्य सैकत पुलिनों में, इन एकान्तवासी हरिणों में, इन पुष्पविकासों में, इन घाटियों में, परम आनन्द का जो पावन संदेश भरा है, संसार में कहीं भी उसकी तुलना नहीं है। प्रार्थना करता हूँ, इन घाटियों के जो परम-कारुणिक वनदेवता हैं वे चिरकाल तक मेरा परित्याग न करेंगे।

लो, वे दीख पड़ने लगे बस्ती के चिन्ह। वह सामने......जहाँ झोंपड़ियों में से निकलती हुई धूमलेखायें प्रशान्तगति से सायंकालीन आकाश की ओर उठती चली जा रही हैं, वही है मेरा निवास-ग्राम। यहीं वनवास जीवन व्यतीत करने की इच्छा से, मैंने विश्राम लिया है। वह, इसके अति निकट भगवती भागीरथी की पुण्यधारा प्रवहित हो रही है। चारों ओर सघन, अत्यन्त सघन वन छाये हुए हैं; जिनमें झुण्ड के झुण्ड हरिण, नीलगायें, बारहसिंगे, वराह, भालू-सिंह-व्याघ्र और वन्य हाथियों के यूथ चिरकाल से स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

गाँव से लगा हुआ एक आम्रोद्यान है, जो लगभग पैंतीस बीघा लम्बा और पच्चीस बीघा चौड़ा रहा होगा। आम्रवृक्षों के अतिरिक्त इसमें थोड़े से संतरे, अमरूद, नींबू, लोकाट और जामुन के वृक्ष भी हैं। किसी काल में, पाँच हाथ गहरी खाई और रामबांस की बाड़ घेरकर उसे बाह्य पशुओं से सुरक्षित करने का प्रयत्न भी

कया गया होगा। परन्तु आज खाई नहीं है, रामबांस भी परलोक यात्रा कर गये हैं,' ाब भी बाह्य पशुओं से वह सुरक्षित है, यह संतोषजनक समाचार है।

आज से एक महीना पूर्व, जिस दिन प्रथमबार, सपरिवार मैंने इसमें प्रवेश कया था, देखा था चिरदिनों से वह उजाड़ पड़ा हुआ है। कमर-कमर ऊँची झाड़ियां गौर पनवाड-काक जंघाएँ उसकी भूमि पर दखल जमाये खड़ी हैं। खाई के निकट यानमग्न तपस्वी के जटाभार की तरह बांसों के झुरमुट बेहिसाब बढ़ गए हैं; वे ाद्यान की रक्षा कर रहे हैं या उसे भयानक बनाने में सहायता दे रहे हैं, कहा नहीं ा सकता। एक वृद्ध सन्यासी को छोड़, जो किसी पुरानी ममता के नाते कभी-कभी ;सकी देखभाल कर जाता है, यहाँ शायद कोई भी नहीं रहता। प्रसिद्ध था कि उद्यान के दक्षिण में किसी समय दो पुरानी कब्रें थीं, जिन पर आज भी रात में प्रेतगण आकर ीड़ायें करते हैं। शायद यही भय रहा हो जिसके कारण ग्रामवासी उस उद्यान में ावेश करने का साहस न करते हों। केवल सन्यासी का चरवाहा वहाँ की हरी घास के ोभ में अपनी गायें चराने आया करता था, परन्तु दिन ढलने से पूर्व वह भी निकल ााता था; और सारा उद्यान रातभर साँय-साँय किया करता था।

उद्यान में एक पुरानी कोठी थी थी, जो अनेक वर्षों से जीर्ण-शीर्ण पड़ी जान ाड़ती थी, छत तो उसकी थी ही नहीं; हाँ, भीतें साहसपूर्वक अपनी सत्ता बनाए अवश्य खड़ी थीं, परन्तु वे बेचारी भी अगली बरसात झेल सकेंगी कि नहीं सन्देह था। तिस पर चूहों के बिलों और साँप बिच्छुओं ने उनसे जो स्थिर-प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, वह अलग। पास ही, युद्धक्षेत्र के घायल सिपाही की तरह भग्न और दीन अवस्था में पड़ा हुआ एक पक्का कुआँ भी था, जिस पर अरघट लगा था। कुएँ को आच्छादित करने वाली छत कुछ तो गिर चुकी थी, कुछ गिरने की तैयारी में थी। उसकी जगत के नीचे पशुओं के जलपान के लिए सीमेन्ट की एक हौजी भी बनी थी; सन्यासी महोदय का कहना था कि उनके जमाने में—अर्थात् जब वे इस कोठी मे सशरीर निवास करते थे—इसपर कभी-कभी रात में शेर-तेंदुए भी पानी पीने आ जाया करते थे। ठीकतो है, उनके आने में आश्चर्य ही क्या? वे अगर न आते तभी तो आश्चर्य था।

आज यह कोठी ही मेरा आवास-गृह है। अरघट का जीर्णोद्धार कराकर कोठी को भी नये सिरे से निवासयोग्य बना लिया गया है। उसमें दो-तीन नये कमरे और भी बनवा दिये हैं। परन्तु मेरे लिए उसका जो सबसे अधिक प्रिय भाग है, वह है—उसका बाहरी चबूतरा। हम लोग आज भी उस पर बैठकर सामने के पर्वत-शिखरों के मूक सन्देश सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया करते हैं। साथ में लगे हुए बनों में से आते हुए वन्य पशुओं के भयजनक आराव सुनते हुए ही बहुधा प्रारंभ होती हैं हमारी रात्रि-निद्रायें; और सामने के गन्धपर्ण द्रुम पर बैठकर गा जाने वाले उषःकाल के वन्य

पक्षियों के—जागो बन्धु, जागो—संगीतों को सुनते हुए ही प्रारम्भ होता है हमारा प्रभातकाल। जागते ही गंगा का अनहद नाद कानों में भैरवी के गंभीर गीत भर देता है और स्वच्छ वन्य समीर अपनी व्यजन-लीलाओं से हृदय में नई उमंगें, नई आशायें भर जाती हैं।

यद्यपि मुझे यहाँ आये एक मास से अधिक नहीं हुआ है, परन्तु 'आरण्यक संघ' के सदस्यों की अभी से बन आई है। डॉक्टर शेखर, आनन्द, श्याम, तरुण, बिहारी, कुमार, विपिन और हरि आदि के निरन्तर आने-जाने से पतझड़ में वसन्त बोल उठा है। वे सभी कामकाजी, नागरिक युवक हैं। कोई राजकीय सर्विस में है, कोई स्वतन्त्र व्यवसायी। तब भी दो-तीन बने ही रहते हैं। कविता, संगीत, जलविहार, वन भ्रमण और वन्य पशुओं के चरित्रों के अध्ययन में दिन इस प्रकार बीत रहे हैं कि वे कब आये, कब बीत गए, पता ही नहीं चल रहा।

१

हरिण का बलिदान

कोठी से लगभग आधा मील दूर, गंगा की धाराओं से घिरा हुआ वह जो एक 'उजड़ा हुआ आश्रम' है—किस ऐतिहासिक काल में, किस महान् तपस्वी ने उसकी स्थापना की थी—कोई नहीं जानता। निकटवर्ती ग्रामों में उसके विषय में इतने प्रकार की कथायें और किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं कि उन पर सहसा विश्वास कर लेना भी कठिन हो गया है। तब भी यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि अपने अच्छे दिनों में वह अवश्य ही कोई प्रसिद्ध शिक्षणालय रहा होगा, जहाँ सैंकड़ों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते होंगे। यद्यपि आज वह खंडहरों का ढेरमात्र है, तब भी उस विल्व वृक्ष की छाया म मौन पड़े हुए प्रस्तर स्तम्भ आज भी उस की केन्द्रीय यज्ञवेदी का पता देते हैं। उधर, कहीं-कहीं खड़े हुए एकाध जंगली आँवले के वृक्ष, खट्टे अनार और फालसे की झाड़ियों से यह अनुमान लगा लेना भी कठिन नहीं प्रतीत होता कि कभी वहाँ कोई वृक्षवाटिका भी रही होगी।

और; वह शायद आश्रम का द्वार है। यद्यपि इसके पडौस में जितने भी चैत्य और भवन थे—जिनकी कभी इसके साथ-ही-साथ स्थापना हुई होगी—एक-एक कर गिर गये हैं; परन्तु जान पड़ता है, इस लोक से महाप्रयाण करते समय—आगामी मानव सन्ततियों को अपनी उत्कृष्ट स्थापत्य-कला का दिग्दर्शन करने के उद्देश्य से—वे शायद इस द्वार से यह आग्रह कर गये हैं कि जितने दिन बन सके, वह सम्पूर्ण प्रयत्न से अपने शरीर की रक्षा करे। उन दिवंगत मित्रों के अन्तिम अनुरोध की रक्षा करने के लिए ही शायद, प्रकृति की समस्त विघ्नबाधाओं का सामना करता हुआ, पितामह भीष्म की तरह, यह आज भी जैसे-तैसे अपने शरीर को बचाये खड़ा हुआ है। इसके शिखर पर चढ़कर आश्रम का बहुत ही स्पष्ट विहंगमावलोकन किया जा सकता है। चारों तरफ खंडहर-ही-खंडहर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। किसी-किसी जीर्ण मन्दिर को जंगली करेले की बेलों ने इस तरह ढक लिया है कि उसका बहुत ही कम अंश दिखाई पड़ रहा है। तने से लिपटकर उसकी शाखाओं तक फैली हुई अमृता की किसी बेल ने किसी २ वृक्ष के साथ इतना गाढ़-आलिंगन कर डाला है कि उसकी वेदना से उस बेचारे को अर्द्धांग-सा हो गया प्रतीत होता है। आश्रम के मैदानों को घेरकर द्रोण पुष्पी, स्वर्णक्षीरी, अतिवला, जंगली रसभरियाँ, कंटकारियाँ और काँस की झाड़ियाँ इस तरह खड़ी हुई हैं, जैसे उनके सिवाय वहाँ और किसी को रहने का अधिकार ही नहीं है। इनके नीचे आश्रय पाकर कितने शशक, श्रृगाल और साँप बिलों में निवास कर रहे

हैं, कौन जानता है ? उधर, उस पुराने वटवृक्ष के पास दो-चार जीर्णमन्दिर और भी खड़े दिखाई देते हैं। अपने जमाने वे अवश्य ही आश्रमवासियों के किसी आवश्यक प्रयोजन को पूरा करते होंगे—परन्तु उनका आज का प्रयोजन भी व्यर्थ नहीं हुआ है। दूरवर्ती ग्रामों से यात्रा करते हुए कितने ही प्रवासी पथिक आज भी उनकी छायाओं में विश्राम पाकर जेठ की दोपहरियाँ और आँधी-पानी के कठिन समय व्यतीत कर जाते हैं। मंडली से बिछड़े हुए कितने ही मृग आज भी उनकी भग्नवेदियों में छिपकर सकुशल रात्रियाँ बिताते दीख पड़ते हैं।

मैं कभी-कभी वहाँ जाया करता हूँ। उनकी शून्य निर्जनता में आश्रम की निर्वाणकथा की वेदना की जो गहरी अनुभूति मैं वहाँ पाता हूँ, नागरिकों के क्रित्रिम सुख कोलाहल में वह नहीं मिलती। वहाँ जाकर मैं कभी वन्यलताओं के झूलों में झूलता हूँ; कभी जंगली वृक्षों के खटमीठे फल तोड़कर खाता हूँ। कभी पवित्र गंगाजल का पान करता हूँ और कभी भग्न प्राचीरों में लेटा हुआ कपोत मिथुन की वेदनापूर्ण



गुटरगूँ-ध्वनि सुना करता हूँ। कभी गाता हूँ, कभी वृक्ष-छाया में बैठ पक्षियों के संगीत सुनता हूँ; कभी आश्रम के भग्नावशेषों का निरीक्षण करता फिरता हूँ और कभी गंगा-तटवर्ती शहतूत-द्रुम के नीचे बैठ पारवर्ती वन्यदृश्यों का मूकपान किया करता हूँ।

तब, वसन्त की समाप्ति होकर ग्रीष्म का प्रारम्भ होने जा रहा था। सामने के वनों में पकते हुए खट्टे अंगूरों और जंगली फालसों की गन्ध से हवायें महक उठी थीं। कितने ही प्यासे मृग वन में से निकल गंगा-तट पर आते और मुझे शहतूत-द्रुम के नीचे बैठा देखकर भी इस निश्चिन्त भाव से जलपान करते, जैसे उन्हें मुझ से कुछ भी भय नहीं है।

गंगा की धाराओं में धीरे-धीरे यौवन आ रहा था। अर्थात्, शीतकाल की अपेक्षा उनमें अधिक जल भर आया था। परन्तु आश्रम के पश्चिमोत्तर कोण की धारा के अतिरिक्त अभी कहीं भी तैरने-योग्य जल नहीं हुआ था। मैं कभी-कभी वहीं जाकर अपनी तैरने की अभिलाषा को पूर्ण किया करता था। उस दिन कन्धे पर

अंगोछा डाले मैं उसी धारा की ओर चला जा रहा था कि देखा जंगल में से निकल दो प्यासे मृग—माता तथा पुत्र—गंगा-तट की ओर चले जा रहे हैं। कहीं मुझे देखकर वे भाग न जायँ, मैं चटपट एक झाड़ी की ओट में छिप गया। जंगली पशुओं को देखने की उत्सुकता के अतिरिक्त तब मेरे मन में और कोई भावना न थी; परन्तु उन्हें इस तरह निश्चिन्त और बेखबर जाते देख, सहसा मेरे मन में उन्हें पकड़ने की इच्छा जागृत हो उठी।

किनारे पर पहुँच वे जल पीने लगे। परन्तु अभी उन्होंने शायद दो-चार घूँट पानी भी नहीं पिया होगा कि वे फिर गरदन उठाकर चारों ओर ताकने लगे। जब माता जल पीने लगती पुत्र पहरा देता और पुत्र की बारी में माता सतर्क भाव से चारों ओर देखती हुई पहरा देती।

समझ लिया; पकड़ने की आशा व्यर्थ है। तब भी प्रयत्न तो करना ही होगा। एकाएक मुझे एक युक्ति सूझ गई। झोली में पच्चीस-तीस पत्थर भर, झाड़ी की ओट में से निकल, उनके दायें-बायें निरन्तर पत्थरों की वर्षा करता हुआ, मैं इस तरह अचानक उनकी ओर दौड़ उठा कि अकस्मात् विपत्ति आई देख वे घबरा उठे। दोनों ओर बरसते हुए पत्थरों की वर्षा में से बिना चोट खाये किसी एक ओर बच निकलना उनके लिए शायद असंभव होगया था; इधर पीछे मैं था ही। अब सामने गंगा की धार में कूद पड़ने के अतिरिक्त उनके प स और कोई सुरक्षित मार्ग शायद नहीं रह गया था। यही मैं चाहता भी था। संतान की चिन्ता में घबराई हुई माता ने पहले तो दायें-बायें निकल भागने की थोड़ी-बहुत चेष्टा की, पर अन्त में एक लम्बी चौकड़ी भर वह छपाक से गंगा में ही कूद पड़ी। उसके पीछे-ही-पीछे पुत्र भी। तब तक मैं भी सिर पर पहुँच चुका था। एक भरपूर छलाँग मार मैं भी उनके पीछे-ही-पीछे धारा में कूद पड़ा और लम्बे हाथ मारता बच्चे की ओर बढ़ने लगा।

हरिणी धारा के पार निकल जाना चाहती थी। परन्तु धारा का बहाव इतना तीव्र था कि उसे पानी काटना भारी पड़ रहा था। यदि उसके पीछे कोई भय न रहा होता तो बहुत संभव था वह धारा को चीरती हुई पार निकल जाती। परन्तु पुत्र के संकट ने उसे विशेष घबराहट में डाल दिया था। वह तैरती हुई आगे बढ़ती जाती और लौट-लौटकर बच्चे को भी देखती जाती। बच्चा भी मुझ से बचकर माँ की शरण में पहुँच जाने की भरसक चेष्टा कर रहा था। कभी-कभी घबराहट में गंगा की लहरें उसके आँख, नाक, मुख में घुस जातीं और साँस घुट जाने से घबराता हुआ वह कुछ और अधिक गरदन ऊँची कर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने का प्रयास करने लगता। उसकी आँखों में भय, दैन्य और याचना का एक ऐसा करुणापूर्ण सम्मिश्रण हो उठा था कि यदि कदाचित् परम कारुणिक आदिकवि वहाँ उपस्थित होते तो वे मुझे भी एक दूसरे 'निषाद-

शाप' से अभिशप्त किये बिना न रहते। परन्तु मैं भी निष्करुण नहीं हूँ। हरिण का वध करने की चेष्टा भी नहीं कर रहा हूँ। हाँ, हरिण के बच्चे को पकड़ लेने का शौक मेरे सिर पर इस तरह सवार है कि उससे मुक्त नहीं हुआ जा रहा। दो ही हाथ और...और मैंने बच्चे को पकड़ लिया और उसे बगल में दबा पीछे लौट पड़ा।

माता भी लौटी। पुत्र-मोह में ग्रस्त; दया की भिक्षा माँगती हुई। उसने कुछ दूर तक मेरा पीछा भी किया। पर अन्त में निराश होकर पीछे लौट गई। कितना ही क्यों न हो, आखिर उसे अपने प्राणों का मोह तो था ही।

× × ×

कोठी पर आकर मुझे उसके साथ बहुत माथापच्ची नहीं करनी पड़ी। दस-पन्द्रह दिन तो मैंने उसे पतली ज़ंजीर से बाँधा परन्तु फिर वह हम लोगों से इतना हिलमिल गया कि स्वतन्त्र छोड़ देने पर भी कहीं न जाता। यदि कदाचित् चला भी जाता, तो घूम-फिरकर फिर कोठी पर ही लौट आता। उद्यान के फल, हरे-भरे शाक और दूध-रोटी खाकर वह एक ही महीने में इतना हृष्ट-पुष्ट हो उठा कि कितनी ही आँखें उस पर ललचा उठीं। परन्तु वह था, कि किसी का भय न मानता। अपनी अजेय दौड़ पर उसे अत्यन्त विश्वास था। इसीलिए उसका जो 'चंचल' नाम मैंने रखा था वह असार्थक नहीं था।

परन्तु धीरे-धीरे उसकी यह चंचलता उपद्रव का रूप धारण करने लगी। कभी आवश्यक कापियाँ और पुस्तकें चबा जाता; कभी धूप में सूखते हुए मूल्यवान वस्त्र तक चीर-फाड़ डालता। परन्तु; वह ठहरी जंगल की धरोहर, वनदेवता का निक्षेप; माँ से बलपूर्वक छीनी हुई सन्तान! उसे कोई कुछ न कहता।

चिरकाल से पशुओं के सम्बन्ध में यह लोकवाद चला आ रहा है कि वे लोग मनुष्य-सम्पर्क में रह चुकने वाली अपनी संतान को फिर ग्रहण नहीं करते; त्याग देते हैं। कारण यह बताया जाता है कि उसके शरीर में जो विजातीय मनुष्यगन्ध बस जाती है, वनवासी पशु उसे सहन नहीं कर सकते और उससे दूर रहने में ही अपना कल्याण समझते हैं। मनुष्यों की तरह उनकी पहचान का प्रमुख मापदण्ड 'रूप' नहीं होता, 'गन्ध' होती है। गन्ध के बदल जाने से उनकी स्मृति, प्रेम और अभिव्यक्ति के आधारों में भी परिवर्तन आ जाता है। तिस पर; तीव्र और प्रगाढ़ होने पर भी, मनुष्य की तरह उनका सन्तान-स्नेह चिरस्थायी नहीं होता। प्रेमपात्र के आँखों से ओझल होते ही वह प्रायः नष्ट होते देखा गया है।

इन्हीं सब कारणों से कभी-कभी सोचा करता था कि यदि किसी दिन 'वन-देवता की इस धरोहर' को मुझे वन में विसर्जित कर देने के लिये बाध्य होना पड़ा—जैसा कि लक्षणों से जान पड़ रहा था—तो अपने पशु-स्वभाव के अनुसार इसकी माँ

तथा दूसरे स्वजन सम्बन्धी कहीं इप ा परित्याग तो नहीं कर देंगे; प्रसन्नतापूर्वक अपना तो लेंगे, न ?

परन्तु कोई निश्चित उत्तर नहीं मिल रहा। केवल कोई अन्दर-ही-अन्दर कह उठता है—"क्षणिक आवेग में आकर एक निरीह प्राणी का तूने यह कैसा सर्वनाश कर डाला, रे ?"—परन्तु अगले ही क्षण इस समस्त अवसाद को बलपूर्वक फेंककर, उसकी पीठ पर स्नेह से हाथ फेरता हुआ, कठोपनिषद् के आचार्य की तरह कह उठता हूँ—"तू घबरा मत रे; तनिक भी मत घबरा। तेरी माँ, तुझे, मेरे बन्धन से मुक्त हुआ देखकर, तेरा सहर्ष स्वागत करेगी।—त्वाँ ददृशिवान्मृत्यु मुखात्प्रमुक्तम् !"

जैसे-जैसे दिन बीतने लगे, उसके आदर में क्षीणता आने लगी। निरन्तर कितने ही प्रकार की आर्थिक हानियाँ पहुँचाते-पहुँचाते वह मेरे परिवार-क्षेत्र में इतना अप्रिय हो उठा कि मुझे आये दिन 'अपनी इस जंगली धरोहर' को जंगल में ही छोड़ आने के सत्परामर्श दिये जाने लगे। मैं कहता, क्या ऐसी व्यवस्था उचित होगी ? एक तो उसे उसकी माँ से छीनकर लाना ही कम अपराध नहीं हुआ, तिस पर अब उसे फिर जंगल में त्याग देना तो उससे भी बड़ा अपराध होगा। हमारे यहाँ तो उसके दिन किसी तरह सुख-दुःख में कट भी जायँगे, परन्तु वहाँ अब उसका कौन बैठा है ?

इस 'कौन बैठा' वाली बात पर कोई विश्वास नहीं करता। भला, जो इसका और इसकी जाति का असली घर है, जहाँ इसकी माँ, भाई-बहन और इसके स्वजन सम्बन्धी निवास करते हैं, उस वनभूमि में 'अब उसका कौन बैठा है'—इस विचित्र बात पर बनवासियों की प्रकृति का यथार्थ भेद जाने बिना कौन विश्वास करेगा ? परिणाम यह निकला, कि—जानकी का वन में सादर परित्याग करने वाले रामानुज की तरह—मुझे भी विवश होकर उन लोगों का निर्णय स्वीकार करना पड़ा और एक दिन अत्यन्त अनिच्छा से ही, उसे उसी वन में, उसी गंगा-तट पर, विसर्जित कर आना पड़ा; एक दिन जहाँ से मैंने बलपूर्वक उसकी माँ से उसे छीना था।

परन्तु, त्यागकर भी मैं उसे मन से नहीं त्याग सका। उसके कुशल समाचार जानने के लिए हर दूसरे-तीसरे दिन उस वन में जाने-आने लगा। उसकी रातें कहाँ, कैसे बीतती हैं, यह तो नहीं पता चल सका; परन्तु दिन में वह बहुधा कभी एकान्त गंगा-तटों पर, कभी सूनी झाड़ियों में; और कभी किसी छाया वाले वृक्ष के नीचे अकेला, साथी-शून्य बैठा पाया जाता है। कठोर हृदय मृगों ने सचमुच ही उसे त्याग दिया है। उस एक हरिणी को छोड़, जो उसके स्पर्श-दोष से बचने के लिए दूर-दूर रहती हुई भी, कभी-कभी उसके आसपास चक्कर काटती देखी जाती है; और कोई हरिण उसके पास नहीं फटकता। परन्तु इस नवागन्तुका की चेष्टाओं से भी इस

विश्वास को कोई पुष्टि नहीं मिलती कि वह यथार्थ में ही इससे किसी प्रकार की घनिष्ठता बढ़ाना चाहती है। वृक्ष पर बैठे-बैठे मैंने कई बार लक्ष्य किया कि हरिणा को देखकर इसने जब भी उसके पास पहुँचने की चेष्टा की, वह हठात् झाड़ियों में अन्तर्हित हो गई और फिर बहुत प्रतीक्षा के बाद भी प्रकट नहीं हुई।

मेरा अनुमान है; वह इसकी माँ है। यदि यह सत्य है तो मुझे यह सोचकर प्रसन्नता ही हुई है कि बीस-पच्चीस दिन बाद, जब इसके शरीर में से विजातीय-मनुष्यगन्ध विलुप्त हो जायगी, वह एक दिन इसे अपना लेगी और एकबार फिर दो चिर वियुक्त माँ-बेटों का सुखद-मिलन हो जायगा।

× × ×

सात ही दिन बाद 'संघ' के सदस्य आनन्द का पत्र पाकर मुझे एकबार फिर उस वन में जाना पड़ा। वह 'मृगों की रात्रि रक्षा-पद्धति' के सम्बन्ध में कई बातें जानना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसने कितने ही ऐसे प्रश्न मुझसे किये थे, आँखों से प्रत्यक्ष देखे बिना जिनके उत्तर देना मेरे लिए कठिन था। इसलिए मैंने इस वन में सात रात्रियाँ बिताने का निश्चय किया।

प्रचंड ग्रीष्म के दिन थे। पहाड़ों के झरने और जलाशय सूख गये थे। इसलिए हरिणों और नील गायों के यूथ पहाड़ों से उतरकर गंगा के तटवर्ती वनों में आ बसे थे। उनके पीछे-ही-पीछे शेर-तेंदुओं ने भी अपनी शिकार-भूमियाँ बदल ली थीं र महीना भर से वे इन्हीं वनों में शिकार खेल रहे थे।

उजड़े हुए आश्रम के सामने, गंगा के पार, रेता का एक विस्तृत मैदान था। सायंकाल के तृण चरकर आसपास के वनों में रहने वाले हरिण रात बिताने के लिए इसी रेतीले मैदान में एकत्रित हुआ करते थे। इस मैदान से लगभग सौ हाथ दूर, एक ऊंचा शिरीष का वृक्ष था, जिस पर पक्की मचान बाँध मैं नित्य रात को बैठने लगा। बाइनोक्युलर, टार्च, मशाल, कुल्हाड़ी और रातभर के लिए जल लेकर मैं सायंकाल



होते ही उस पर जा बैठता और रातभर उस हरिण मण्डली की गतिविधियों का निरीक्षण किया करता।

चाँदनी रातें होतीं। गंगा की स्वच्छ धारा पिघली हुई चाँदी की तरह अश्रान्त नाद करती बही जा रही होती। दूर···किसी पर्वतीय ग्राम में से आती हुई किसी की

अस्पष्ट वंशी-ध्वनि सुन पड़ रही होती। या संभव है, कीचकवनों में से वह मधुर ध्वनि आ रही होती—कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता। सामने, रेता के सुदूर विस्तृत शीतल बिछौने पर चार-पाँच सौ हरिण रात्रि-विश्राम कर रहे होते। बीच में; बच्चे और उनकी मातायें, उनके आसपास वृद्ध हरिण; और उन्हें चारों तरफ से घेरकर युवक हरिण-हरिणियाँ अर्धनिद्रा में सो रही होतीं। बीच-बीच में, लगभग हर दस-बारह हाथ के अन्तर पर, एक-एक पहरेदार हरिण खड़ा होता। ऐसे पहरेदारों की कुल संख्या पन्द्रह से कम न होती। इस सोती हुई मण्डली से कुछ दूर, ऐसे आठ-दस साहसी मृग और भी होते जो मण्डली से काफी दूर हटकर झाड़ियों की ओट में खड़े हुए दीख पड़ते। मेरा विश्वास है, ये साहसी मृग विपत्ति को भाँपने में बहुत कुशल रहते होंगे और इन्हें अपनी दौड़ पर भी बड़ा भरोसा रहता होगा। मेरा अनुमान है तनिक-सी आशंका होते ही ये 'क्वाऊ' शब्द का प्रयोग करेंगे और उनके पीछे-ही-पीछे पन्द्रहों पहरेदार एक साथ 'क्वाऊ ! क्वाऊ' करते हुए सारी मण्डली को जगा देंगे; और एक ही क्षण में मैदान साफ हो जायगा; एक भी हरिण वहाँ न दीख पड़ेगा।

एक दिन; शायद पाँचवें दिन की बात होगी; मैं प्रतिदिन की तरह मचान पर बैठा जाग रहा था। रात आधी से अधिक जा चुकी थी। उज्ज्वल चाँदनी वैसे-ही छिटक रही थी। मृगमण्डली वैसे ही रेता पर विश्राम ले रही थी। पहरेदार वैसे ही जागरूक खड़े थे; कि अचानक मेरी मचान के नीचे की झाड़ियों में किसी के संभल-कर चलने का पद-शब्द सुनाई पड़ा। झाँककर देखा, वृक्षों की छाया में से निकल एक पूरा नौजवान बाघ दबेपाँव मण्डली की ओर चला जा रहा है। पहले तो इच्छा हुई 'क्वाऊ' करके मैं ही हरिणों को सचेत कर दूँ। परन्तु हरिणों की रात्रि-रक्षा-पद्धति के प्रत्यक्ष करने का इससे अच्छा अवसर फिर कब मिलेगा ? मैंने चुपचाप बाइनोक्यु-लर उठा लिया और उसकी सहायता से बाघ की मंजी हुई शिकार-पद्धति के देखने का प्रयत्न करने लगा।

सतर्क, चुस्त, नीचे झुकी हुई गरदन को थोड़ा सा आगे की ओर बढ़ाये, एक-एक कदम नापता हुआ, झाड़ियों की आड़ लेता हुआ वह ऐसी सधी चाल से चला जा रहा था कि एक भी पत्थर उसके पंजों से न हिल रहा था। बीच-बीच में, वह दो-चार क्षण के लिए, मार्ग की झाड़ियों के पीछे इस तरह दुबक जाता था कि तब वह वहाँ है भी कि नहीं; पता चलाना कठिन हो जाता था। इस तरह कुछ देर ठहर-ठहर-कर, वह बहुत ही सधे हुए ढंग से आगे बढ़ रहा था। हरिणों के चुस्त-से-चुस्त पहरे-दार भी इसे भाँप सकेंगे—मुझे सन्देह था।

परन्तु यह क्या ! सीधे मण्डली की ओर न जाकर यह लम्बी परिक्रमा देता हुआ जा किधर रहा है ? किस अभागे की ओर ?

माथा घूम गया ! हृदय धड़कने लगा। देखा, मण्डली से २५-३० हाथ दूर एक अकेला हरिण बैठा सो रहा है; बाघ उधर ही जा रहा है। मेरी आँखों ने उस अभागे को पहचानने में ज़रा भी धोखा नहीं खाया। एक ही दृष्टि में पहचान लिया—वह चंचल है ! हाय रे, ऊपर से कोमल दीखने वाले इन हरिणों ने उसे अब तक भी अपनी मण्डली में नहीं मिलाया है। शायद, उनके जंगल-नियमों में उसके लिए प्रायश्चित्त की कोई भी व्यवस्था नहीं है। भयानक-से-भयानक रातों में भी उसे इनके यूथ में मिलकर बैठने का अधिकार नहीं। उनसे दूर हटकर ही उसे सोना पड़ता है। वह हरिण जाति का अस्पृश्य है। शायद इसीलिए सब पहरेदार चुप हैं। उन्हें उसकी मृत्यु पर कोई दुःख नहीं; कोई सहानुभूति नहीं।

परन्तु मैं इस अन्याय को कैसे सह सकूँगा ? अभी बाघ और चंचल में पच्चीस-तीस गज़ का अन्तर रह गया होगा कि मैं सारी शक्ति बटोर एक साथ 'क्वाऊ ! क्वाऊ !!' कर उठा। वन, मैदान, गंगा-तट सब एक साथ गूंज उठे। सोती हुई मण्डली में एक बाढ़-सी, एक ज्वार-सा आ गया। रेता के बिस्तर अस्त-व्यस्त हो उठे। शिशु, वृद्ध, युवक...सैकड़ों हरिण एक साथ आकाश से बातें करने लगे। पलभर में मैदान साफ हो गया।

परन्तु बाघ घाटे में न था। उदर-भार के कारण कुछ धीरे भागती हुई एक हरिणी को लक्ष्य बना वह उसके पीछे दौड़ा जा रहा था। हरिणी भी सिर पर पाँव रखे, चौकड़ियाँ भरती भागी जा रही थी। यदि किसी एक सीधी दिशा में उसे भागने का अवसर मिल गया होता, बहुत संभव था, दूसरे हरिणों की तरह वह भी अपने को बचा ले जाती। परन्तु शिकारपटु व्याघ्र ने उसे इस तरह घेर लिया था कि घूम-फिर कर उसे बार-बार एक घेरे में ही चक्कर काटने पड़ रहे थे। कई बार तो ऐसा लगा कि हरिणी को बाघ ने दबोच ही लिया है; परन्तु दैव की न जाने किस अज्ञात प्रेरणा से वह हरबार बाल-बाल बच जाती थी। तो भी इसमें सन्देह नहीं रहा था कि उसे जल्दी ही भूखे शत्रु के सामने आत्म-समर्पण कर देना पड़ेगा।



परन्तु, उस आत्म-समर्पण का समय जब सचमुच ही आ पहुँचा, तब बाघ ने जिसे अपने सामने खड़ा पाया, वह उस अभागिनी हरिणी से अत्यन्त भिन्न कोई दूसरा ही हरिण था। मैंने

देखा, वह और कोई नहीं, मेरा वही, सुपरिचित बन्धु, चंचल है। परन्तु यह यहाँ कैसे?

धीरे-धीरे मामला स्पष्ट हो उठा। बहुत ही अच्छी तरह समझ आ गया कि बाघ से बचकर जो सौभाग्यवती अभी-अभी निकल भागी है, वह और कोई नहीं, इसकी जन्मदात्री जननी है; वही कठोर हृदया, जिसने अपनी निरपराध सन्तान को मृत्यु से भरे हुए जंगल में असहाय छोड़ दिया था। परन्तु, उसके पुत्र ने उस कठोर परित्याग का बदला चुकाया उसके प्राण बचाकर; उसके चरणों में अपने प्राणों का बलिदान देकर। माँ को विपत्ति से बचाने के लिए ही शायद वह आज जान-बूझकर मातृ-मन्दिर के सामने अपने प्रिय शरीर का उत्सर्ग करने आ खड़ा हुआ है। जानता हूँ—यदि वह चाहता अब तक बाघ की पहुँच से कितनी ही दूर निकल गया होता; उसकी दौड़ अजेय थी।

पहले शिकार के स्थान पर दूसरे नये शिकार को सामने खड़ा देख बाघ ने कोई आपत्ति नहीं की।

तत्क्षण मशाल जला, मचान से उतर, पत्थरों पर गिरता-पड़ता—चंचल! चंचल!!—चिल्लाता; मैं अपने भविष्य की कुछ भी चिन्ता न कर, उधर दौड़ चला जहाँ घृणा प्रेम पर, क्षुधा अयाचित अन्न पर, आक्रमण करने जा रही थी। परन्तु इसी बीच किसी की वेदनाभरी अन्तिम करुण पुकार सुनकर समझ लिया द्रोणपर्व का अभिमन्यु-वध पूर्ण हो चुका है। मैंने दूर से ही देखा, बाघ के निष्ठुर पंजों के नीचे चंचल का शरीर मृत्यु की अन्तिम यंत्रणा में छटपटा रहा है। हाय रे, जिस कोमल पीठ पर मैंने कितनी ही बार अपने हाथों से स्नेह स्पर्श किये थे, आज वे बाघ के पैने नखों से विदीर्ण हो चुके थे!!—भाग्य की विडंबना!

एक-एक करके कितनी ही बातें स्मरण हो आईं। वह उस दिन, गंगा की धारा में मेरा उसके पीछे-पीछे दौड़ना। वह, उसका मेरे हाथों से—या मृत्यु से—बचने की चेष्टायें करना। फिर मेरी कोठी पर उसका वह अल्प-दिवस-स्थायी निवास; वहाँ भी शिकारी कुत्तों से—अथवा मृत्यु से—उसके वे आत्मरक्षा सम्बन्धी प्रयत्न। स्पष्ट था; कि मृत्यु उसे अभीष्ट न थी। परन्तु आज? उसी मृत्यु से बचने की उसने आज चेष्टा क्यों नहीं की? बचकर भी, जान-बूझकर उसके मुख में अपने को क्यों समर्पित कर दिया?

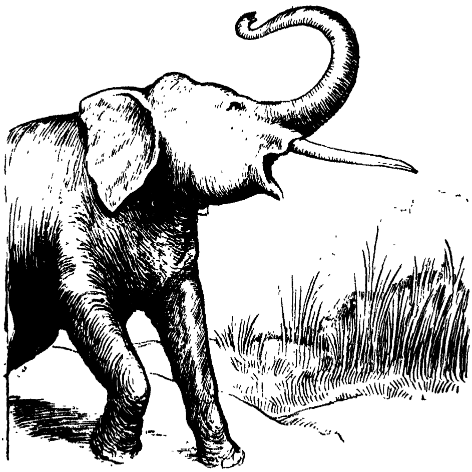
सोचने लगा, वह कौन था, जो इस हरिण-रूपधारी जीवात्मा में एक ही वस्तु के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी भावों को भर गया? अपने जिन प्राणों को वह चिर दिनों से सुरक्षित बनाये चला आ रहा था; अगले ही क्षण किस प्रेरणा ने उन्हें निर्मोही की तरह विसर्जित करने की सलाह दे डाली? त्याग, कर्त्तव्य-भावना, ऋण-शोध··· कितने ही नामों से उसे पुकारा जाता है और पशुओं से बहुत अधिक ऊँचे

स्तर में रहने वाला मनुष्य उन्हें केवल अपने ही एकाधिकार की वस्तु समझता है। परन्तु उसे शायद पता नहीं, पशु जगत् में उसके इस अहंभाव को चुनौती देने वाली कितनी ही आत्मायें निवास करती हैं। चंचल की दिवंगत आत्मा ऐसी ही थी।

२

ओ, निकुञ्ज के वासी !

तू चाहे मुझे न पहचाने,
पर, मैं परिचित तुझ से;
—चिर दिवसों से परिचय मेरा
तेरे इस—जीवन से।



भरी पड़ी हैं,
मेरे शैशव-स्मृतियों के झोले में,
तेरी कितनी ही
निष्ठुर, रुधिरांकित दन्तकथायें।
—यह सच है, तेरा विश्वास नहीं,
मेरे जीवन से कब कर बैठे तू
क्रूर-हास्य, कुछ पता नहीं;
पर तो भी—क्यों मेरी व्याकुल उत्कंठा
—मुग्ध शलभ-सी—
दौड़ा करती तेरे पीछे ? मुझे आश्चर्य स्वयं।

× ×

कितनी बार गया हूँ, मैं,
उस झिल्ली-झंकृत घाटी में,

करने अपनी उस अभिलाषा का
नव नव संतर्पण,
—तेरे अभिनव पद-चिन्हों पर दृष्टि डालता, सहमी;
अपने ही पद-शब्दों पर कुछ भय खाता-डरता सा।—

वहाँ—मार्ग में, एक जलाशय तट पर,
—आश्रम-सा, मालझाड़ की पर्णकुटी-सा—
जो निकुंज है सुन्दर;
मैंने तुझे—वहाँ देखा है, सदा अकेले बैठे
आत्ममग्न, निश्चिन्त, निरापद,
पृथक् यूथ से रहते।

ओ, निकुंज के वासी,
तूने यह कठोर व्रतसाधन,
मुनियों-सा एकान्तवास, यह तापस-जन-सा संयम,
किस विधान, किस महासाधना हेतु लिया है,
—कह तो ?
इस नवयौवन में, इस महाविराग का कारण क्या है ?
किसी 'महाश्वेता' का कोई 'पुण्डरीक' है क्या तू ?
चन्द्रलोक को त्याग, यहाँ विरही बन रहता जो तू।
—या, तू है,
वह रुद्ररूप मुनि शापभ्रष्ट दुर्वासा,
अपनी अवधि बिताने ज्यों त्यों काट रहा निज जीवन ?

३

हाथी की प्रेमिका

अंजनवन के एक ओर गंगा की धारायें और दूसरी ओर चंडी पहाड़ की सघन पर्वत-श्रेणियाँ फैली हुई हैं। वृक्षों, झाड़ियों, लताकुंजों और बाँसों के झुरमुटों से वन इस तरह छाया हुआ है कि दिन में भी अन्धकार बना रहता है। वन अत्यन्त घना और भयानक है। चंडीघाट से नजीबाबाद जाने वाली एक कच्ची सड़क उसमें से होकर गई है। सड़क अधिक नहीं चलती। शामपुर और लालढाँग के मध्यवर्ती ग्रामों में रहने वाले ग्रामवासी, और उनके खच्चर और बैलगाड़ियाँ कभी-कभी इस मार्ग से आया-जाया करती हैं। मगर बहुत कम। हाँ, माघ मास में जब पवित्र गंगाजल लेकर बद्रीनाथ की यात्रा करने वाले श्रद्धालु यात्री हरिद्वार के लिए निकलते हैं तब इस सड़क पर जीवन के कुछ चिह्न अवश्य देखे जाते हैं, परन्तु वह भी, केवल एक मास के लिए; बाद में फिर वही निर्जनता और सूनापन छा जाता है। जिन दिनों की हम बात करते हैं तब नजीबाबाद के आगे मसूरी, चकरौता आदि पहाड़ी छावनियों में रहने वाली सरकारी सेनायें बहुधा इसी मार्ग से यातायात किया करती थीं। परन्तु हरिद्वार-देहरादून लाइन बन जाने से उनका आना-जाना चिर दिनों से बन्द हो गया है।

अतः सड़क पर अकेले-दुकेले यात्रा करना आपत्ति से शून्य नहीं है। नये छत्तों या मीठी झरबेरियों की खोज में घूमता-फिरता पहाड़ी रीछ या शिकार की घात में बैठा भूखा शेर कभी भी दर्शन दे सकता है।

सन् १९०५ की बात है। गरमियों के दिन थे। चंडीघाट पर नाव लग रही थी। प्रसिद्ध 'ताऊ जी के पुल' अभी तक नहीं बँधे थे। घाट से उतर गाँव का एक बनिया टट्टू पर घी के कनस्तर लादे इस सड़क पर अकेला चला जा रहा था। जंगल की विभीषिका को भुलाने के लिए कभी तो वह कोई गीत गाने लग जाता और कभी 'चल बेटा ! चल साहू !' कहता हुआ टट्टू को 'किच-किच' करता जाता। अभी वह अंजनवन की सीमाओं में घुसा ही होगा कि दाईं तरफ के झुरमुट में से निकल एक जंगली हाथी ने उसका मार्ग रोक लिया। बनिये के घुटने टूट गये; वह टट्टू को भगवान के भरोसे छोड़ उल्टे पाँव पीछे की तरफ भाग लिया। बेचारे अनाथ टट्टू ने भी बचने का प्रयत्न तो किया, कुछ दूर तक भागा भी; परन्तु तीन मन बोझ सँभाले कहाँ तक भागता ? अन्त में हाथी के हाथ पड़ गया। खिलौने की तरह टट्टू को कनस्तरों समेत उठा उसने इस बल से धरती पर दे मारा कि कनस्तरों के साथ-साथ उसका पार्थिव शरीर भी जगह-जगह से फूट निकला। रक्त और घी का स्रोत, दो

सहोदर बन्धुओं की तरह एक साथ सड़क पर बहने लगा। टट्टू थोड़ी देर तक छटपटाया, तड़पा और फिर देखते-ही-देखते उसने दम तोड़ दिया। हाथी टट्टू की लाश पर आनन्द से नाचा; चिंघाड़ा और धीरे-धीरे वन में घुस गया।

झंझावात की तरह समाचार दूर-दूर तक फैल गया। जो सुनता, सहम जाता। सड़क बन्द हो गई। घाट सूना पड़ गया। लोग भय के मारे उधर आँख भी न उठाते।

टट्टू का मृत शरीर कई दिन तक सड़क में पड़ा रहा। गीध, चील, गीदड़ उसे निश्चिन्त होकर खाते रहे। अब कोई था ही कहाँ, जो उनकी निश्चिन्तता में विघ्न डालता। अन्त में जब लाश खाई गई, केवल कंकाल बच गया; गीदड़ों ने हड्डियाँ वन में घसीट मार्ग साफ कर दिया।

पन्द्रह-बीस दिन तक तो मार्ग बन्द रहा, बाद में फिर चल पड़ा। मानव-स्वभाव जो ठहरा। वह आशामय वर्तमान के सामने दुःखमय अतीत को जल्दी ही भूल जाता है। तिस पर काम-काजी आदमी ठहरे; रुकते भी कहाँ तक? धन की तृष्णा, भोजन की चिन्ता, परिवार का बोझ, सभी कुछ तो पीछे लगा था। इस तरह हाथ-पर-हाथ धरे बैठने से काम भी कैसे चलता? निदान सड़क फिर पहले की तरह चल पड़ी। यात्री वैसे ही आने-जाने लगे। टट्टुओं के पीछे वही 'किच-किच'; बैलगाड़ियों की वही 'चूँ चूँ'; पुराना संसार फिर पुराने ढंग से चल निकला।

तब भी एक आश्चर्य सब को था। इस वन में हाथी की घटना यह पहली ही बार हुई थी। विशेषतः खूनी हाथी की। भालू, बाघ और शेर की बातें तो आये दिन सुनी जाती थीं; परन्तु हाथी का भय इससे पहले यहाँ कभी देखा-सुना न गया था।

परन्तु ग्रामवासी इस समस्या का हल क्यों करने लगे थे? उनकी सहस्रों सांसारिक चिन्ताओं में वन सम्बन्धी चिन्ता को स्थान ही कहाँ था? जंगल के पड़ौस में रहकर भी, जंगली प्रश्नों से उन्हें कोई सम्बन्ध न था। ऋतुएँ आतीं और चली जातीं। फूल खिलते, मुरझा जाते। फल पकते, झड़ जाते। पक्षी चहकते, मृग विचरते, सिंह दहाड़ते, झरने गाते, हवायें सन्देश सुनातीं; एक आनन्द-भरा नूतन संसार उनके पड़ौस में ही मुसकराया करता, उन्हें निमन्त्रित किया करता। परन्तु उनके आगे वह सभी कुछ व्यर्थ था। अरण्य रोदन; अनावश्यक।

शायद इसी उपेक्षा और अपराध के कारण वन का एक-से-एक नया शाप उन पर प्रतिवर्ष विपत्ति बनकर आता और वे अपने निर्जीव स्वभाव के अनुसार उसे चुपचाप सिर झुकाकर सह लेते। उसका प्रतिकार करने की न तो उन में भावना थी, न कल्पना, न साहस।

× × ×

पुराने ग्रामवृद्धों के मुख से इस हाथी की पूर्व-कथा इस प्रकार सुनी जाती थी—

"इस की जन्म-भूमि नहटौर में थी। वहाँ के जमींदार ठाकुर जयसिंह के हाथी-खाने में उसका जन्म हुआ था। बचपन से ही वह लाड़-प्यार से पला था। बड़े-बड़े शिकार-विशेषज्ञों को नियुक्त कर उसे उच्च श्रेणी की शिकार-कला सिखाई गई थी। घर में खाने-पीने की कमी तो थी ही नहीं, वह थोड़े ही काल में एक हृष्टपुष्ट, कुशल, विश्वस्त शिकारी बन गया।

"एक बार जमींदार उसे खैरावन की तरफ ले गया, जहाँ हाथियों के झुण्ड-के-झुण्ड घूमा करते हैं। वर्षा के दिन थे। वन इतना सुन्दर और रमणीक था कि वह कितने ही दिन तक वहाँ डेरा डाले पड़ा रहा। दिनभर एक जलाशय के पास आराम-कुर्सी बिछाये वह शिकार-साहित्य का अध्ययन किया करता। न कभी शिकार के लिए निकलता, न भ्रमण के लिए। नौकर-चाकर भी थोड़ा-बहुत काम कर चैन की बन्सी बजाया करते।

"हाथी की भी दिनभर छुट्टी रहती। सामने के श्योनाक-द्रुम के नीचे खड़ा हुआ वह दिनभर वृक्षों की हरी डालियाँ चबाया करता। मस्त; निश्चिन्त। पैर में बँधी मोटी लोह-शृंखला के अतिरिक्त और कोई वस्तु उसकी स्वाधीनता में बाधक न होती।

"एक दिन---जब सायंकाल का समय था, आकाश में मेघ छाये थे, घटायें गरज रही थीं, मतवाली हवा जल-सीकरों का बोझ उठाये वन में दौड़ती फिर रही थी; सामने गीली रेता के आँगन में वन मयूर न जाने किस आनन्द में, किस की प्रतीक्षा में पंख फैलाये नाच रहा था--- अकस्मात् वन में से निकल एक श्यामा हथिनी श्योनाक के नीचे हाथी के पास आ खड़ी ई। जंगली यौवन उसके सुगठित शरीर पर फूट रहा था, लताकुंज में से निकलते समय एक सद्योभग्न बेल उसकी गरदन में अब तक लिपटी हुई थी।

"पावस ऋतु, मेघ गर्जन, एकान्त-श्याम वन, ठंडी हवायें और भिक्षा-पात्र में अयाचित भाव से प्राप्त हुआ प्रेमदान! हाथी की विस्मृत कल्पना में यौवन की सुनहरी मदिरा बह निकली। हथिनी के सुख-स्पर्श ने उसके नेत्र अर्द्ध निमीलित कर दिये। शरीर रोमांचित कर दिया। मनुष्य का प्रेम भूल वह संसार के उस अनादि प्रेम की नीरव पुकार सुनने लगा, युवा काल में जो सभी को सुन पड़ती है, सभी को आकर्षित करती है।

"हठात्, बिजली चमकी, बादल गरजे और एक ही झटके में ज़ंजीर तोड़ हाथी स्वाधीन हो गया। जब तक जमींदार और उसके अनुचर कुछ उपाय करें वह हथिनी के साथ घने वन में विलीन हो गया।

"एक साथ कितने ही मोर कूक उठे। नव-विवाह के उपलक्ष्य में आकाश फुहार बरसाने लगा।"

जिसके यौवन का प्रारंभ इतनी मिठास के साथ हुआ था; वही बाद में इतना भयंकर खूनीहाथी कैसे बन गया, उसकी कहानी इधर के गांवों में आगे इस प्रकार सुनी जाती है—

"हथिनी हाथी को लिए यूथ में पहुँची। मगर हाथियों के यूथ में किसी ने उनका अभिनन्दन न किया। हथिनी के पुराने प्रेमियों ने भी नहीं। एक अज्ञात-कुल-शील, अपरिचित, नागरिक हाथी को उसके साथ देख उनके युवक-अभिमान को शायद ठेस पहुँची। वे, जैसे भी बने, हाथी को यूथ से बाहर निकाल देने पर तुल गये। बात-बात में उससे रार बढ़ाने लगे। बाँसों की झाड़ियाँ उखाड़ते समय, लताकुंजों को भग्न करते समय, जलाशयों में पंक-स्नान करते समय, शीतल घाटियों में विचरते समय, वे जब कभी अवसर पाते लड़ाई मोल ले बैठते।

"यूथपति को यह गृह-कलह पसन्द न आया। सच तो यह है, कि नागरिक हाथी को यूथ में मिलाना उसे स्वयं भी अभीष्ट न था। अंत में, एक दिन, यूथ की शान्ति भंग करने का अपराध लगाकर उसने उसे यूथ से बाहर निकल जाने की आज्ञा दे ही डाली। परन्तु नागरिक ने यूथपति की आज्ञा मानने से साफ इन्कार कर दिया।

"तब द्वन्द्व युद्ध की बारी आई। जंगल के नियमानुसार यूथपति तभी तक यूथ का शासक है जब तक यूथ के सब सदस्य उसकी शक्ति के सामने दबते हैं और सिर झुकाकर उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। यदि कोई सदस्य जान-बूझकर उसकी आज्ञा भंग करता है तो अपनी आज्ञा मनवाने के लिए उसे विद्रोही हाथी से द्वन्द्व-युद्ध कर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करनी पड़ती है।

"खैरा की गहन घाटियों में यूथपति और नागरिक हाथी का चिरस्मरणीय युद्ध हुआ। भीषण चिंघाड़ लगाकर दो काले पर्वतों की तरह वे एक दूसरे पर टूट पड़े। लम्बे दाँतों की कटकटाहट और भयंकर टक्करों की प्रतिध्वनियाँ नगाड़ों की तरह घाटियों में गूँज उठीं। घाटी की घास, पौधे, झाड़ियाँ सब एक साथ मसली गईं। पत्थर उखड़ गये। एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे, नागरिक का सब समाप्त हो गया। उसे घाटी की दीवार में दबोच यूथपति सम्पूर्ण राक्षसी बल से रौंदने में लगा था। यह देख हाथियों का यूथ प्रसन्न होकर चिंघाड़ उठा। बच्चे माताओं के पेट में दुबक गये। परन्तु अगले ही क्षण यूथपति गुलाटें खाता हुआ दूर दिखाई पड़ा। परन्तु, वह उठकर फिर झपटा और देखते-ही-देखते उसने नागरिक के पेट में अपने दोनों पैने दाँत भोंक दिये। नागरिक लड़खड़ाया और पीड़ा से छटपटाकर धरती पर बैठ गया। अवसर अच्छा देख यूथपति फिर झपटा। परन्तु इस बार सब समाप्त था। अकस्मात् नागरिक

चमका, चिंघाड़ा और एक अन्तिम उखाड़ मार उसने यूथपति को धरती पर लोट-पोट कर दिया। वह फिर न उठ सका। मर्मान्तक चोट ने उसे विह्वल कर दिया था।

"मगर नागरिक की अवस्था भी अच्छी न थी। उसका एक दाँत टूट गया था और सारा शरीर पके फोड़े की तरह दुःख रहा था। वह आसपास खड़े हाथियों पर तिरस्कार-भरी दृष्टि डालता हुआ युद्ध-भूमि से निकल गया और एक सूनी घाटी में जाकर कई दिन तक चुपचाप पड़ा रहा; बाद में, जब उसके घाव भर गए, पीड़ा मिट गई, वह धीरे-धीरे उठकर एक ओर निकल गया।

"हाथियों का दुर्व्यवहार अब तक उसके हृदय में चुभ रहा था। वह उनकी विषाक्त वायु से बचकर दूर, इस सघन अंजनवन में आकर रहने लगा। उसके स्वभाव में शीघ्र ही एक विचित्र परिवर्तन दीखने लगा। अब संसार का प्रत्येक प्राणी उसे कपटी और हत्यारा जान पड़ता। उन्हें देखते ही उसकी आँखों में खून उतर आता। उनकी हत्या किये बिना उसके चित्त को सन्तोष न होता। वह पागलों की तरह प्राणियों के शिकार की खोज में घूमता फिरता। संसार को सताना ही अब उसका लक्ष्य बन गया; उनका वध करना ही उसका चरम-व्रत।"

× × ×

टट्टू की हत्या के बाद वन में आये दिन ऐसी दुर्घटनायें होने लगीं। वर्षा में, ग्रीष्म में, हेमन्त में—जब देखो, कोई-न-कोई नई घटना सुनाई दे जाती। वह बहुधा जामन की रेती में पड़ा रहता, कभी-कभी बांसों के उस जोहड़ में भी दीखता और मनुष्य, घोड़ा, बैलगाड़ी—जिसे देख लेता, पीछा करता। कभी-कभी गाँवों तक भी धावा मारता और एक-आध बलि लिए बिना पीछा न छोड़ता। बेचारे ग्रामवासी चिन्तित थे कि कैसे इस व्याधि से पिण्ड छूटे। परन्तु जंगलात के अधिकारी कान में तेल डाले मस्त पड़े थे और जो शिकारी कहलाते थे, उन्हें हरिण-मोरों पर हाथ साफ करने से ही अवकाश न था; तब इन अशिक्षित, डरपोक ग्रामवासियों की इस भूत-बाधा को और कौन हरता?

युग बीत गया। सन् १६०५ से भागता हुआ कालचक्र सन् १६५२ तक आ पहुँचा परन्तु हाथी के उपद्रव कम न हुए। इस बीच में शिवालक की घाटियों में कितनी ही क्रान्तियाँ आईं और चली गईं। हरिण पैदा हुए, बूढ़े हुए और मर गये। सन् १६२४ की प्रसिद्ध बाढ़ के बाद वनों के मानचित्र तक बदल गये, गंगा की धारायें बदल गईं, आश्रम उजड़ गये; परन्तु खूनी हाथी और उसकी शिकार-लिप्सा में कोई परिवर्तन न आया। बात इतनी पुरानी और जीर्ण पड़ गई कि लोग कोई अनोखी घटना हुए बिना उधर ध्यान भी न देते।

इन ४७ वर्षों में, कुछ इधर-उधर के उत्साही व्यक्तियों ने हाथी को पकड़ने का कई बार प्रयत्न भी किया, परन्तु उन्हें कभी सफलता न मिली। उसके लिए लगाये

हुए सुदृढ़ तार-जाल धरे ही रह जाते और वह उनके पास भी न फटकता। रायफल-धारी शिकारी मचान बाँधकर, आज कहीं, कल कहीं, स्थान बदल-बदलकर बैठते--परन्तु उसकी छाया भी उन्हें न दीख पड़ती। हाँ, उनके चले जाने के बाद अगले ही दिन सुनाई पड़ता—हाथी ने अमुक घाटी में अमुक चरवाहे का खून कर दिया, और उसकी बूढ़ी माँ गाँव में छाती पीटकर रो रही है।

गाँव के ओझा जी की सम्मति में वह त्रेता-युग का कोई राक्षस था जो हाथी के वेश में इधर आ पड़ा था। इसीलिए आने वाली आपत्ति को वह माया के बल से, पहले ही जान लेता था। प्रसिद्ध सुक्खू चौधरी की राय थी कि वह इन्द्र-लोक का शाप-भ्रष्ट ऐरावत हाथी है, स्वर्ग के देवदूत अब भी जिसकी रक्षा करते हैं। अतः उसका पकड़ा जाना असम्भव है।

बड़े-बड़े शिकारी भी हैरान थे। अपना पीछा करनेवालों से वह कैसे बच निकलता है—इस प्रश्न का उनके पास भी कोई उत्तर न था। यह एक ऐसा रहस्य था, जो अद्‌भुत था।

× × ×

मैं भी इस रहस्य के उद्‌घाटन में लगा था। अंजनवन जाकर कई बार वृक्षों पर रातें बिता चुका था। दो-एक बार तो ऐसा भी हुआ कि जिस पेड़ की डाल पर मैं बैठा होता हाथी शाम को उसी के नीचे आकर बैठ जाता और रातभर वहीं पड़ा रहता। सारी रात आशंका से बीतती—कहीं इसने मुझे देख तो नहीं लिया है, जो पहरा भरने यहाँ आ पड़ा है? गंगा की ओर जाने वाले कितने ही मृग-शूकर उधर से गुजरते परन्तु वह किसी को कुछ न कहता, शायद इन निरीह वनवासियों से उसे भी कोई द्वेष न था। एक बार एक भूला-भटका तेंदुआ कहीं से आ निकला; पहले तो हाथी को पड़ा देख वह चौंका, दो-चार क़दम दबेपाँव उसकी तरफ बढ़ा भी, तनिक गुर्राया भी; मगर फिर अगले ही क्षण एक लम्बी छलाँग मार दूसरी तरफ निकल भागा। लेकिन हाथी ऐसा मस्त था कि उसने उसकी उछल-कूद की तनिक परवाह न की; वैसे ही लेटा पड़ा रहा। एक बार एक भारी अजगर साँप को हाथी की तरफ बढ़ते देख मैं सँभलकर बैठ गया, समझा कोई अदभुत घटना घटने वाली है; परन्तु हुआ कुछ भी नहीं—साँप हाथी की पीठ पर से होता हुआ आगे सरक गया और हाथी उसी तरह आँखें मींचे निश्चिन्त पड़ा रहा। कई बार तो अच्छा उपहास होता। एकाध गरदन मटकाता हुआ जंगली मोर कभी-कभी उधर आ निकलता और हाथी को देखते ही इस तरह बिदककर भागता कि उसकी घबराहट पर मेरी हँसी छूट पड़ती। हजरत मटकते हुए न जाने किस को रिझाने जा रहे होंगे कि बीच में ही सारा मटकना भूल गिरते-पड़ते भाग खड़े हुए; मुझे देर तक हँसी आती रहती।

एक बार मैंने हाथी को फँसाने का विशेष आयोजन किया। जंगली आम के ठीक नीचे, जहाँ आज भी किसी बस्ती के भग्नावशेष पड़े हैं, मैंने दस-बारह फीट गहरा एक विस्तृत गढ़ा तैयार करवाया। उस पर सूखे बाँसों का एक निर्बल जाल डलवाकर पहले पत्ते और फिर ऊपर से मिट्टी की एक फुट भर मोटी तह बिछवा दी। मिट्टी पर हरी दूब लगवाकर जाल के ठीक केन्द्र में चरी के पन्द्रह-बीस हरे पौधे इस तरह खड़े करवा दिये कि उन्हें उखाड़ने के लिए हाथी को जाल पर अवश्य चढ़ना पड़े; दूर से ही सूंड फैलाकर उन्हें न छू सके।

सब तैयारी हो जाने के बाद में साँझ होते ही आम्रवृक्ष पर जा चढ़ा। वृक्ष अत्यन्त सुरक्षित, सुदृढ़ और विशाल है। उसके तने का घेरा ही दस-बारह हाथ से कम न होगा। उसकी एक ऊँची शाख पर मचान बाँध मैं चुपचाप हाथी की बाट जोहने लगा।

देखते-ही-देखते शरद्काल के कृष्णपक्ष ने वन-पर्वतों को श्याम-अतिश्याम चादर से ढक दिया। सुदूर विस्तृत वन, सघन घाटियाँ, शिवालक-पर्वत और उसका वह चंडिका-मन्दिर, भगवती भागीरथी, सब एक साथ अदृश्य हो गये। वन का कोलाहल बन्द हो गया। चारों ओर घना अंधकार छा गया और उसके नीचे रात्रि के भयानक प्रहरी दबे पाँव विचरण करने लगे।

पहला प्रहर बीता और फिर दूसरा। प्रतीक्षा-ही-प्रतीक्षा में तीसरा पहर भी बीत गया। परन्तु हाथी के दर्शन न हुए। पूर्वाकाश में उषा सुन्दरी के स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं। सप्तर्षिगण गंगा के पवित्र जल से अपने कमण्डलु भरने के लिए पृथ्वी की ओर झुक गये, दूर हरिद्वार के मन्दिरों में प्रथम शंख की गंभीर ध्वनियाँ सुनाई देने लगीं, नक्षत्र फीके पड़ने लगे—परन्तु हाथी न आया।

अभी थोड़ी ही देर में प्राची दिशा चमक उठेगी, दिन निकल आयगा और मुझे अपना-सा मुंह लेकर कोठी लौट जाना पड़ेगा। इस तरह अपनी सारी ही योजना को व्यर्थ जाते देख मेरा हृदय निराशा से भर गया। सोचने लगा, क्या सचमुच स्वर्गीय देवगण इस हाथी की रक्षा करते हैं?

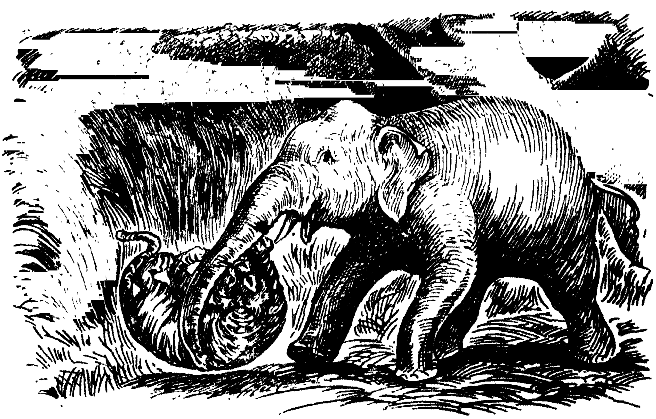
तभी हाथी की चिंघाड़ ने जंगल को कम्पा दिया और उसके ठीक पीछे-ही-पीछे शेर की भयानक दहाड़ भी गंगा की घाटियों में गूँज गई। सहमकर मैंने वृक्ष की डालियाँ थाम लीं और स्तम्भित चकित नेत्रों से चारों तरफ देखने लगा। रह-रहकर शेर दहाड़ने लगा और हाथी की चिंघाड़ अंधेरे को फाड़ने लगी। वन काँप उठा। ऐसा जान पड़ा जैसे शेर और हाथी जीवन की बाजी लगाकर मुझ से कहीं थोड़ी ही दूर लड़ रहे हैं। परन्तु रात के उस झुटपुटे अंधेरे में भाग-दौड़, धड़-पकड़ और दहाड़-चिंघाड़ के अतिरिक्त कुछ दिखाई न पड़ता था।

अन्त में प्राची दिशा के सन्तरी ने सूर्य का द्वार खोल दिया। स्वर्गीय प्रकाश

वनभूमियों पर फैल गया और तब पत्तों की ओट में से झाँककर मैंने देखा, जामन की उसी रेती में हाथी और शेर गुत्थम-गुत्था हो रहे हैं। अमरीकन फ्री स्टाइल की कुश्ती चल रही है। शेर हाथी के पिछले पुट्ठों पर चिपटा हुआ अपने पैने पंजों और दाँतों से उसकी पीठ फाड़ने में लगा है, रक्त की धारें बह रही हैं और हाथी अद्भुत फुरती से चक्कर काटता हुआ शेर को पकड़ से गिराने का प्रयत्न कर रहा है। परन्तु शेर बुरी तरह चिपटा हुआ है और हाथी विवश है। शेर ने उसके ऐसे असुरक्षित अंग पर आक्रमण किया है कि वहाँ किसी भी तरह हाथी की सूँड नहीं पहुँच सकती।

तभी अचानक हाथी धड़ाम से पिछले पुट्ठों के बल धरती पर गिर पड़ा और शेर तड़पकर अलग जा खड़ा हुआ। यदि ज़रा भी चूक जाता, हाथी के सधे हुए 'कुर्सी-बैठक' दाव में फँसकर अपने प्राण खो बैठता। मगर सधे हुए पहलवान की तरह वह फिर पैंतरे काटता हुआ उसी साहस के साथ हाथी के पिछले पार्श्व पर आक्रमण करने का सुयोग ढूँढ़ने लगा। लेकिन हाथी निपुण खिलाड़ी था। इस बार वह किसी भी तरह शेर को अपनी पीठ पर आक्रमण करने का अवसर न दे रहा था। शेर दायें-बायें इधर-उधर—बहुतेरा उछला-कूदा परन्तु हाथी की सतर्कता ने उसकी एक न चलने दी।

अन्त में वह चिढ़कर गुर्राने लगा। उसका रक्त से रंगा हुआ चेहरा, खुले जबड़े, जलती आँखें, चुस्त पुट्ठे, हिलती हुई पूँछ—क्रोध की प्रतिमूर्ति बन उठे। परन्तु हाथी था कि उसी गम्भीर मुद्रा से सूँड ऊपर उठाए, पैर जमाए उसकी गतिविधि को तोलने में लगा था। शत्रु से प्रतियोगिता करने का आनन्द उसकी आँखों में भरा हुआ था।



अचानक शेर फिर उछला और दहाड़कर हाथी के मस्तक पर टूट प ।। हाथी भी तनिक चमका और झुक गया और फिर एकाएक अजगर की तरह उसकी ूंड

आगे की तरफ लपकी और अगले ही क्षण शेर उसकी लपेट में फँसा था; बेबस; क्रोध में भन्नाता हुआ; पंजों और दाँतों से हाथी की सूँड को नोचता हुआ; मगर खूनी हाथी शेर को पकड़ विजयोल्लास में चिंघाड़ रहा था। दूर, घाटियों में उसकी प्रतिध्वनि सुनाई दे रही थी। वह शेर को लिए हुए भागा और जामन के पास पहुँच इस वेग से उसने उसके तने पर उसे दे मारा कि शायद उसकी कमर ही टूट गई और वह पीड़ा से कराहने लगा। मगर खूनी का क्रोध अभी शान्त न हुआ था। वह घायल शेर पर फिर झपटा, लेकिन शेर जैसे-तैसे उछलकर और मैदान छोड़कर भाग निकला।

जामन की रेती से मेरा वह आम्रवृक्ष १०० कदम से अधिक दूर न होगा। शेर रेती में से उछलता-लंगड़ाता हुआ उधर ही भागा आ रहा था; और उसके पीछे-ही-पीछे हाथी भी चिंघाड़ता चला आ रहा था।

मेरे बाँसों के जाल पर सब से पहले शेर का पाँव पड़ा। उसके बोझ से जाल ज़रा लचका और शेर उछलकर आगे निकल गया। मगर हाथी उसके पीछे-ही-पीछे लपका आ रहा था। जाल पर आते ही वह गढ़े में फँस जायगा—यह निश्चित था।

अपनी योजना को इस विचित्र ढंग से सफल होते देख मेरा हृदय खिल उठा। उत्सुक नेत्रों से मैं हाथी के पहुँचने की प्रतीक्षा करने लगा।

मगर हाथी की उस रहस्यमयी रक्षिका ने यहाँ एकबार फिर मानव-बुद्धि को परास्त कर दिया। हाथी और जाल के बीच में जब दस ही क़दम का अन्तर और रह गया होगा कि कहीं वन में से एक हलका-सा शब्द सुनाई पड़ा, जो जान पड़ता है, हाथी के लिए अवश्य ही चिर-परिचित रहा होगा। मानवीय भाषा में यदि उसका अर्थ किया जाय तो उसका अभिप्राय यही रहा होगा—'सावधान, आगे न बढ़ना। आगे धोखा है।'— अन्यथा उसे सुनकर फुल ब्रेक लगी मोटर की तरह हाथी जहाँ-का-तहाँ इस प्रकार एकाएक खड़ा न हो जाता।

इस विचित्र जंगल-रहस्य पर मैं अभी आश्चर्य ही कर रहा था कि वन में से निकलकर धीरे-धीरे झूमती हुई एक हथिनी उसके बहुत ही पास आ खड़ी हुई। मुझे शीघ्र ही सब रहस्य समझ में आ गया। मैंने देखा, शिकारियों के बुद्धि-कौशल को भंग करने वाली, लगातार ४७ वर्ष से हाथी की विपत्तियों से रक्षा करनेवाली, दुःख में सुख में सदा छाया की तरह उसके साथ रहनेवाली, वह रहस्यमयी हाथी की प्रेमिका सिंह विजय के — लक्ष्य में हाथी को केवल बधाइयाँ ही नहीं दे रही थी, पत्नि-सुलभ प्रेम के साथ उसके रक्तस्रावी व्रणों पर मृत्तिका लेपन भी कर रही थी।

करती भी क्यों न ? उसकी सर्वस्व जो थी, वह—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

४

शेष-यात्रा

शम्भू 'संघ' का केवल पाचक ही नहीं है, वन यात्रा का विश्वस्त साथी भी है। परन्तु इधर कई दिन से वह चला गया है दो मास के लम्बे प्रवास पर, और इसी बीच मेरे सामने गंगापार के एक छोटे से गाँव तक जाने का आवश्यक प्रसंग आ खड़ा हुआ है। साथ कौन चले, यही प्रश्न है।

याद आया, पास के ही गाँव में शोभा अहीर का घर है; जो अनेक बार शम्भू का स्थानापन्न बनने का दावा भर चुका है। उसे ही बुला भेजा और वनयात्रा का साथी बनाकर गाँव की तरफ़ चल पड़ा।

इस यात्रा का कौनसा विशेष प्रसंग आ पड़ा था; और वहाँ गाँव में जाकर मैंने क्या किया—कराया; यह सब तो, अब जब लिखने बैठा हूँ लिखूँगा ही; मगर कहने की बात यह है कि ये सब प्रसंग इस कथा के मुख्य भाग नहीं हैं। जिन घटनाओं ने इस तुच्छ-सी यात्रा को चिर-स्मरणीय बना दिया, वे हैं इसके अन्तिम प्रसंग—जो अचानक ही मेरे ऊपर आ पड़े थे। यहाँ 'शेष-यात्रा' के नाम से मैंने उन्हें ही स्मरण किया है।

इस 'शेष-यात्रा' के लिखे जाने का अधिकतम श्रेय है, शोभा अहीर को। कारण, गाँव सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर, कोठी की तरफ़ लौटते हुए मुझे जब बीच में ही साँझ हो गई और मार्ग में बाधा देकर बहती हुई जाह्नवी की अपरिचित धारा को तैरकर ६ मील के सघन वन को पार करने की समस्या आ खड़ी हुई, तब गंगावासी मगरमच्छों के भय और पारवर्ती वनों की भयानकता से डरकर यदि वह मेरा साथ छोड़, कोई एक तुच्छ-सा बहाना बना पास के गाँव की ओर न भाग खड़ा होता और जंगल के सच्चे साथी की तरह अन्त तक मेरा साथ निभा डालता तब यह 'शेष-यात्रा' मुझे अकेले रहकर करनी ही क्यों पड़ती; और ऐसी परिस्थिति में, क्या आश्चर्य है, वे भीषण प्रसंग—जो इस कथा के उत्तर भाग में लिखे गये हैं—शायद मेरे साथ घटते ही नहीं। तब फिर कहाँ रह जाती इस कहानी के लिखने की आवश्यकता ?

× × ×

तब शायद कार्तिक बीतकर मार्गशीर्ष लगा होगा कि एक दिन गंगापार के किसी अपरिचित चौधरी ने आकर कहा—"आज आठ-दस दिन से हमारे गाँव में भेड़ियों ने उपद्रव मचा रखा है। आपको एक बार वहाँ चलकर उनका उपाय कर देना होगा, भाई साहब।"

विचित्र प्रार्थना थी। मन में आया कह दूँ—मैं क्या उन 'भेड़िये-लोगों' का मास्टर हूँ जो जैसा कहूँगा मान लेंगे—मगर कहा नहीं। केवल इतना ही पूछा—"हिमालय के इस अंचल में तो भेड़िया होता नहीं। तुम्हारे गाँव में वे लोग किधर से आ टपके ?"

चौधरी ने समझा टालने की भूमिका है। बोला—"देखिये, बाबू जी ! बहुत दूर से चलकर आपके पास आया हूँ। टालने न दूँगा। परोपकार का काम है, आपको चलना ही होगा।"

परोपकार का काम है यह तो मैं भी जानता हूँ। मगर उसे यह कैसे समझाता कि टाल नहीं रहा हूँ केवल उसकी बात पर सन्देह प्रकट कर रहा हूँ। अच्छी तरह जानता हूँ, इधर दूर-दूर तक भेड़िया नहीं होता। तब इन लोगों के गाँव में उनका आ निकलना आश्चर्य की ही बात है। अवश्य ही इस सम्बन्ध में गाँव वालों को भ्रम हुआ है; और पाँच-चार दिन बाद वह आप ही दूर हो जायगा। इतनी-सी बात के लिए गाँव जाकर व्यर्थ समय नष्ट करने से लाभ क्या ?—ऐसे ही विचार मन में उठ रहे थे और जाने की इच्छा नहीं हो रही थी।

मगर चौधरी सहज में ही छोड़देने वाला जीव नहीं था। बनावटी जंभाई के साथ पाँच-चार चुटकियाँ बजाकर, जूते पहन, कम्बल कन्धे पर डाल, लाठी संभाल; चलने के लिए उद्यत होकर वह इस तरह निश्चिन्त खड़ा हो गया, जैसे न चलने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। चलना ही निश्चित है।

बोला—"अब जरा जल्दी चलने से ही ठीक रहेगा, बाबू जी। देर हो जाने पर तो गाँव पहुँचते हुए साँझ हो जायगी। तब तक तो वे लोग निकल भी आते हैं।" —'वे लोग'; अर्थात् भेड़िये।

इच्छा हुई, कह दूँ—"नहीं चलूँगा, किसी का नौकर नहीं हूँ, जो जाना ही पड़े।' परन्तु कहने की इच्छा नहीं हुई। स्वयं को असुविधा में डालकर दूसरों के अनुरोध रखने का अभ्यासी-सा हो गया हूँ। ना करने की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

बोला—"अच्छा; जब तुम्हारा इतना ही आग्रह है तो जाकर उस गाँव के शोभा अहीर को बुला लाओ। कहना, जल्दी आ जाय। मैंने बुलाया है।"

शोभा जैसे तैयार ही बैठा था। सुनते ही लाठी-कम्बल संभाले आ पहुँचा।

× × ×

गाँव दस मील से अधिक दूर नहीं है। तीसरे पहर से पहले ही पहुँच गये। बाहर के आम्रोद्यान में—जिसे उद्यान न कहकर जंगल या वन कहना ही अधिक ठीक होगा—जो चौपाल है, उसी में डेरा डालकर मैंने उस समय तो चौधरी को विदा कर दिया; और स्वयं दो-चार घण्टे तक उन 'भयंकर' भेड़ियों के सम्बन्ध में—चौधरी के कथनानुसार जिनकी संख्या पाँच से अधिक नहीं है—इधर-उधर घूम-फिरकर

यथार्थता की जाँच-पड़ताल करता रहा; फिर बाद में जब सायंकाल हो गई, चौधरी को बुला भेजा।

निर्जन आम्रवन में तब तक झुटपुटा अंधेरा छा चुका था और प्रत्येक वृक्ष की सूनी ओट भेड़िये की आशंका से भयजनक हो उठी थी। समझदार चौधरी ने पहले तो आने से ही इन्कार कर दिया; मगर बाद में, शायद चौधरी होने के अपने गुरुतर उत्तरदायित्व का अनुभव कर, वह जैसे-तैसे अपने चार-पाँच 'पंच-साथियों' के साथ आ पहुँचा।

उद्यान से फर्लांग भर दूर एक टीला है। बहुत पुराना है। प्रसिद्ध है, उस पर किसी पूर्वकाल में तांत्रिक अघोरनाथ कापालिक अपनी अनेक भैरवियों-सहित तंत्र-साधना किया करता था। अब तो वह नहीं है; मर गया है। मगर गाँव वालों का कहना है उसकी प्रेतात्मा आज भी उस टीले पर निवास करती है और जो भी उसके पास जाने का साहस करता है, मार डालती है। चौधरी ने बताया था, भेड़िये उसी टीले के नीचे से होकर गाँव में प्रवेश करते हैं।

दिन में जब मैं उधर गया था, देखते ही समझ गया था भेड़ियों का उपाय करने के लिए गाँवभर में इससे अच्छी दूसरी जगह नहीं है। टीला पर्याप्त लम्बा-चौड़ा और झाड़ियों से व्याप्त है। पन्द्रह-बीस व्यक्ति सुभीते के साथ उस पर इस तरह उठ-बैठ सकते हैं कि आगन्तुक तो उन्हें नहीं देख सकता मगर वे आगन्तुक को मजे में देख सकते हैं। स्थिर किया था साँझ हो जाने पर यहीं आकर बैठूँगा।

पंचों को जब पता चला, मैं उन्हें उसी टीले पर लिवा ले जाना चाहता हूँ, एक स्वर से सभी ने इन्कार कर दिया। साथ में, टीले के सम्बन्ध में कई घटनायें भी सुनादीं।

कुछ रूखे स्वर में मैंने कहा—"मगर इस तरह तो भेड़ियों का उपाय कर सकना कठिन होगा। यदि तुम्हीं लोग, जो गाँव के पंच कहलाते हो, अपने गाँव की विपत्ति के प्रति इतनी उपेक्षा प्रदर्शित करोगे तो बाहर के किसी को भी क्या पड़ी है जो वह तुम्हारे लिए व्यर्थ का सिरदर्द मोल ले।"—फिर कुछ क्षण ठहरने के बाद कहा—"ज़रा सोचो तो सही, मैं तुम्हारी बात मानकर दस मील से भागता आ पहुँचा और तुम ऐसे हो कि मेरी ज़रा-सी बात मानकर फर्लांगभर चलने के लिए भी तैयार नहीं हो। कैसे पंच हो जी, तुम लोग!"

अपील व्यर्थ नहीं गई। जो प्रौढ़ और वयस्क थे वे यद्यपि चुप रहे, मगर उनमें जो एक युवक था तुरन्त आगे बढ़कर बोला—"मैं चलूँगा आपके साथ। चौधरी यदि नहीं चलना चाहते; कापालिक से डरते हैं, उन्हें यहीं रहने दें। उस मुए अघोरी से मैं नहीं डरता।"

चल पड़ा। दस-बारह क़दम बढ़कर एक बार पीछे लौटकर जो देखा, केवल युवक ही नहीं, चौधरी समेत शेष पंच भी चले आ रहे हैं। अघोरनाथ के भय की अपेक्षा, पंच-पद छिन जाने का भय अधिक वास्तविक है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

टीला सचमुच ही भयानक है। मगर किसी से कुछ भी न कहकर मैं चुपचाप उसके किनारे की एक झाड़ी की ओट में जा बैठा और शेष लोग भी मेरी देखा-देखी चुपचाप मेरे आसपास एक दूसरे से सटकर बैठ गये।

पन्द्रह मिनट भी न बीते होंगे कि सामने से आती हुई कतिपय धीमी पद-ध्वनियों ने बता दिया, चौधरी के 'वे लोग' आ रहे हैं। सभी चौकन्ने हो गये। किसी ने धीरे से कान में कहा—'वे आ रहे हैं !!'

"हाँ, ठीक है। आने दो।"—कहकर अंगोछे में से पाँच-छः चपातियाँ निकाल, जो मैंने दिन में ही शोभा के हाथों चुपचाप बनवाली थीं, हाथ में संभाल लीं और जैसे ही पद-शब्द टीले के सामने पहुँचे मैंने एक साथ आगन्तुकों के सामने उन्हें फेंक दिया और अगले ही क्षण टार्च का बटन दबाकर उस स्थान को प्रकाशित कर दिया।

—लो, वे खड़े हैं पाँचों 'भेड़िये'! उनमें से जो टार्च के शूटिंग में है उसकी चेष्टायें



। ही स्पष्ट दीख पड़ रही हैं। यह देखो, प्रकाश पड़ते ही वह चौंका ··भागा ..मगर लौटा·· चपातियाँ जो पड़ी हैं; लौटेगा क्यों नहीं ··उनकी तरफ़दबे पाँव बढ़

रहा है···आखिर, उन पर टूट ही पड़ा···चपाती मुख में पकड़ ली···खाने लगा···। टार्च जल रहा है···पंच लोग भय-विस्फारित नेत्रों से देख रहे हैं और वह पूँछ हिलाता, कृतज्ञता-सी प्रकट करता बहुत ही आतुर भाव से अपनी कई दिन की भूख मिटाने में लगा है। और भी चपातियाँ फेंक रहा हूँ···वे चारों भी टूट पड़े। टार्च वैसे ही जल रहा है···पंच लोग वैसे ही ताक रहे हैं···

मगर चौधरी से न रहा गया। तत्वज्ञानी की तरह पुकार उठा—"अरे, ये तो कुत्ते हैं !!"

"वाह, कौन कहता है कुत्ते हैं ? विश्वविख्यात् भेड़ियों की जाति का यह बहुत ही बड़ा अपमान है जो उसके पाँच माननीयसदस्यों को कुत्ते के तुच्छ नाम से पुकारा जा रहा है। ये वास्तव में ही भेड़िये हैं।"

कहकर मैं हँसने लगा। मगर तब तक मामला स्पष्ट हो चुका था। व्याख्या की आवश्यकता न रही थी।

मार्गशीर्ष की रात घनी हो उठी। हवायें ठिठुरन पैदा करने लगीं। मगर हालत यह हुई कि अब कोई उठने का नाम नहीं लेता। मानो अघोरनाथ की प्रेतात्मा के उस पुराने विहार-क्षेत्र में आज इन्द्रपुरी का कोई बहुत ही आकर्षक अखाड़ा उतर आया है; जिसे देखने सभी निश्चित बैठे हैं। सामने ही, उनके वे तथाकथित—भेड़िये खड़े हैं; और ये लोग इस तरह आश्चर्य से उन्हें देख रहे हैं जैसे जीवनभर में आज पहली ही बार उन्होंने कुत्ता नामक विचित्र प्राणी के दर्शन किये हों।

चौधरी का हृदय अब तक भी निश्चिन्त नहीं हुआ था। बोला—"मगर पालतू कुत्ते तो इस तरह गाँव के बाहर-ही-बाहर रहकर गाँव के मेमनों और बच्चों पर आक्रमण नहीं किया करते ? इन्होंने तो इतने ही दिन में आठ-दस मार डाले हैं ?"

कहा—"इसके अतिरिक्त उनके पास और चारा ही क्या था ? ये बेचारे न जाने किस विपत्ति में फंसकर, अपने न जाने किस गाँव को त्यागकर, आये थे तुम लोगों के गाँव का आश्रय लेने; इस आशा से, कि उन्हें भी दो टुकड़े मिल जाया करेंगे। परन्तु तुम्हारे यहाँ के कुत्तों ने—स्वजाति-द्रोह ही जिनका स्वभाव है—भौंक-भौंक कर जब उनकी नाक में दम कर दिया, और उन्हें किसी भी तरह गाँव में नहीं घुसने दिया; तब भूख से व्याकुल होकर—'मरता क्या नहीं करता'—उन्हें गाँव के मेमनों से ही अपने पेट की ज्वाला बुझाने के लिए बाधित होना पड़ा। आखिर भूख की समस्या तो उन्होंने किसी तरह हल करनी ही थी, न।"—कहकर मैं चुपचाप नीचे उतर, उन लोगों के एक 'भेड़िये' के पास पहुँच, उसे कान से पकड़ चौधरी के पास घसीट लाया और बोला—"लो, इस समय तो इसे इसी तरह गाँव में ले जाकर

बाँध दो, बाद में कल दिन के प्रकाश में अच्छी तरह देख लेना, यह कुत्ता है या भेड़िया। तुम्हें सब आप ही पता चल जायगा।"

कुत्ते को इस तरह पकड़कर तो कौन गाँव में ले जाता; यह तो मैं भी जानता था; मगर इसका एक यह प्रभाव अवश्य हुआ कि उनका रहा-सहा संशय भी एक साथ दूर हो गया और उन्हें अन्तिमरूपेण मान लेना पड़ा कि जिन्हें वे अब तक भेड़िया माने बैठे थे वे वास्तव में पालतू कुत्तों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

तब भी क्षणिक आवेश में आकर मैंने जो उस समय एक अपरिचित कुत्ते का कान पकड़ लेने की धृष्टता की थी, मानता हूँ वह मुझे नहीं करनी चाहिए थी। कारण, वह भेड़िया न सही, कुत्ता तो था ही, जिसे प्रकृति ने भेड़िये की तरह ही अच्छे-खासे दाँत दिये हैं। यह तो कुशल ही हुई कि न जाने क्या सोचकर उस बेचारे ने मुझे छोड़ दिया, काटा नहीं; नहीं तो, अपने स्वभाव के अनुसार यदि वह काटने की कृपा कर डालता—जिसमें आश्चर्य कुछ भी न था—तो अपनी इस मूर्खता के लिए मुझे 'एंटी रेबीज़ वैक्सीन' के कितने इंजेक्शनों का दण्ड भोगना पड़ता, कोई एलोपैथ ही बता सकता है।

× × ×

अगले दिन जल्दी-जल्दी करते भी मैं तीसरे पहर से पहले गाँव से विदा न हो सका। कारण, बिना कृतज्ञता प्रकट किये—अर्थात्, बहुत ही उत्साह से तैयार कराये गये नानाविध ग्रामीण भोजनों के सुप्रचुर आहार से सन्तुष्ट किये बिना—उन्होंने किसी भी तरह मेरा पिण्ड न छोड़ा। परिणाम यह निकला कि नीलधारा पर बसे हुए श्रीरामपुर गाँव तक पहुँचते-पहुँचते ही शाम हो गई और आने वाली विपत्ति के अग्रदूत ने चुपके से पास आकर, हँसते हुए मेरे कान में पूछा—कहो, अब कैसे इरादे हैं ?

इरादे तो अच्छे ही हैं। जैसे भी बनेगा आगे तो बढ़ूँगा ही। अंधेरा हो गया तो क्या; अंधेरे में ही सही।

मगर मेरा जो पथ-दर्शक था; शोभा; उसके इरादे वैसे नहीं थे। बोला—'अगर आज की रात यहाँ बिताकर कल चला जाय तो कैसा रहे, निधि बाबू ? कारण, कोठी यहाँ से अभी छः मील से कम दूर नहीं है। रास्ते में गंगा की चार-पाँच धाराओं, घने जंगलों, पथरीले-रेतीले मैदानों और कंटीले झाड़-झंखाड़ों से मार्ग ऐसा विकट हो गया है कि रात के इस अंधेरे में उसे पार कर लेना सहज नहीं है। तिस पर शेर-तेंदुओं का जो भय है, वह तो आप जानते ही हैं।"

कहा—"हो सकता है, जैसा तुम कहते हो वैसा ही हो। यह जंगल मेरा देखा हुआ नहीं है। मगर इतना तो तुम भी जानते हो कि मेरा आज ही कोठी पर पहुँचना

आवश्यक है। तुम न हो तो आज इस गाँव में ही ठहर लो; कल चले आना। मगर मुझे तो जाना ही होगा।"

"वाह, जब आपके साथ आया हूँ, साथ कैसे छोड़ सकता हूँ; चलिये।"—कह कर बहुत ही उत्साह से वह अपनी लाठी संभाल मेरे साथ हो लिया।

गंगा-तट पर पहुँच पता चला, शोभा का कहना एकदम झूठ नहीं है। आगे की यात्रा इस अंधेरे में सचमुच ही भयानक है। एक तो इस अंधेरे में गंगा की इस अपरिचित धारा को—जो इस समय हिम की तरह शीतल हो रही है—पार करना ही सहज नहीं है; तिस पर पारवर्ती घने जंगलों में, जहाँ मार्ग का कुछ भी पता न चलेगा—यों ही घुस पड़ना तो और भी बड़ा दुस्साहस है।

मगर, अब जब चलना ही है तो इन भयानकताओं की चिन्ता करने से क्या लाभ ? लिहाज़ा, निश्चिन्तता से धरती पर बैठ गंगा पार करने की तैयारी करने लगा। अभी कोट-बूट-कमीज़ उतार बनयान उतारने जा ही रहा था कि शोभा धीरे से मेरे पास आकर बोला—"अभी जरा आपको और भी कुछ देर ठहरना पड़ेगा, निधि जी क्षमा करना। मेरी न्योली गाँव में ही कहीं छूट गई है। ख़्याल तो है स्कूल में ही कहीं छूटी है। उसके लिए मुझे एक बार फिर गाँव लौटना पड़ेगा। बहुत से रुपयों का मामला ठहरा। गरीब आदमी हूँ; मारा जाऊँगा।"

"अरे, वह भी क्या तुम्हारे साथ ही थी ? भले आदमी, उसे भी साथ लेकर क्यों निकले थे ?"

"लो, सुनो, बाबू जी की बातें। वह क्या कमर से अलग रखने की चीज़ थी? कमर में ही तो बाँधी जाती है।"

"बाँधी जाती है, यह तो मैं भी जानता हूँ। मगर उसे अकारण ही कमर से खोलकर लापरवाही के साथ कहीं गाँव में छोड़ भी आया जाता है, ऐसी विचित्र बात इससे पहले तो कभी नहीं सुनी गई। खैर, अगर जाते हो तो जाओ। आशीर्वाद देता हूँ, इस अंधेरी रात में तुम्हारी वह न्यौली तुम्हारे हाथ लग जाय। अपनी न सही किसी दूसरे की ही सही। मगर इस बात का ध्यान रखो, यदि आध घंटे तक न लौटे मैं चला जाऊँगा। ठहरूँगा नहीं। समझे ?"

कुछ भी उत्तर न दे वह गाँव की तरफ चला गया, या कहना चाहिए, भाग खड़ा हुआ; और मैं एकबार फिर कोट-बूट पहन पास वाले सूने वृक्ष के नीचे बैठ उसकी व्यर्थ प्रतीक्षा करने लगा। व्यर्थ इसलिए कहता हूँ, शोभा की आर्थिक स्थिति से मैं सुपरिचित हूँ। इस दरिद्र देश के अन्य करोड़ों अभागों की तरह, नित्य कुआँ खोदकर नित्य पानी पीने से अधिक संपत्ति उसके पास भी कभी इकट्ठी नहीं हुई है 'बहुत से रुपयों से भरी न्यौली' से उस बेचारे का क्या वास्ता।'·····

सूना तट···झिल्ली झंकार···दूर कहीं से, शायद गाँव के श्मशान से, किसी उल्लू का शब्द सुन पड़ रहा है। बीच-बीच में, मेरे ऊपर की डाल पर सोया हुआ कोई पक्षी कभी-कभी पंख फड़-फड़ाकर निस्तब्धता को भंग कर देता है। पार, पत्थरों पर संभलकर चलते हुए वन्य पशुओं के पद-शब्द बहुत ही स्पष्ट सुन पड़ रहे हैं। आठ बज गये हैं न; उनके जलपान का समय जो है···इसी से गंगा-तट पर चले आ रहे हैं··। अजब भोलानाथ हो जी, तुम···जानते तो हो, वह नहीं आयगा। फिर उसकी व्यर्थ प्रतीक्षा से लाभ क्या? चला गया आदमी फिर क्या कभी लौटा करता है? ··· हँसी आ जाती है, शोभा अहीर के पास बहुत से रुपये! समाचार तो बुरा नहीं है। मगर उसके लिए, अभी थोड़ी ही देर पहले, जो क्रोध उठा था वह अब नहीं रहा है। उल्टे, सहानुभूति हो रही है।

लेकिन, अब और अधिक न ठहरूँगा। आधा घंटा तो हो गया। चलता हूँ···सो, एकबार फिर कोट-कमीज़ उतार, उनमें बूट और टार्च लपेट, गठरी-सी बाँध, बायें हाथ में संभाल, ढलवान किनारे से संभलकर उतरता हुआ, गंगा में उतर पड़ा।

जल बहुत ठंडा है। सर्दी चढ़ी जा रही है। पत्थर फिसलने हैं। पाँव रपट रहे ···मगर जल्दी ही पानी गहरा हो गया···तैरने लगा। लेकिन, गठरी को सूखा रखना है, यह ध्यान तो रखना ही होगा। कारण, अभी तो श्रीगणेश ही है। असली यात्रा तो अभी शेष ही है। छः मील के उस खुले जंगल में, जहाँ, निमोनियाँ और जूरेसी का अभिशाप संभाले हिमालय की ठंडी ढाढ़ू-हवायें कृत्या की तरह बह रही हैं, कपड़े ही तो हैं जो उन सबसे मेरी रक्षा करेंगे। तिसपर, यह गरम कोट तो इस समय लाख रुपये से कम का नहीं है; और उसकी जेबों में जो थोड़ी-सी नकदी, पचास-एक रुपये के नोट और फाउन्टेनपेन वगैरह पड़े हैं, वे भी ऐसे व्यर्थ नहीं हैं जिन्हें अकारण ही पानी में भीग जाने दिया जाय। और, वह माचिस···जिसकी एक ही सींख अग्नि के अनन्त भंडार को अपने अन्दर छिपाये पड़ी है, वह भी तो इस कोट में ही कहीं पड़ी है। भूखे दैत्यों से भरे हुए इस अंधेरे जंगल में, आज वही तो मेरा सबसे बड़ा सहारा है; वही तो सबसे बड़ा शस्त्र है। उसे भिगो देने से भी काम कैसे चल सकता है?

इसीलिए, गठरी को यथासाध्य पानी से खूब ऊँचा उठाये केवल एक ही हाथ के सहारे तैरता चला जा रहा हूँ। मगर जीवन भर में तैरने की इतनी कठोर परीक्षा कभी देनी पड़ी होगी, याद नहीं आ रहा। हाथ-पाँव थक गये हैं। तिसपर इस अंधेरे की कृपा से यह भी साफ पता नहीं चल रहा, किनारा कितनी दूर है; कितना तैरना और शेष है? अनुमान से ही, अंदाज़ से ही बढ़ा चला जा रहा हूँ·····मगर···

अब तो बहुत थक गया हूँ। गठरी को शायद और अधिक न बचा सकूँगा···हाथ गिरा जा रहा है।···

लेकिन, भाग्य अच्छे हैं। निराशा जब अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची, पाँव आप-ही-आप धरती पर लग गये···किनारा आ पहुँचा; और फिसलने पत्थरों पर संभलकर पैर रखता हुआ उस—'आशा नाम नदी मनोरथ-जला' के पार पहुँचे हुए भर्तृहरि के 'योगीश्वरों' की तरह-सकुशल पार आ पहुँचा।

'सकुशल' इसलिए कहता हूँ कि एक तो गठरी को सूखा बचा लाया। दूसरे, अभी थोड़ी ही देर पहले गाँव में ही कहीं सुना था कि गंगा की इस धारा में एक-दो मगरमच्छ कई बार देखे गये हैं। बात चाहे कितनी ही झूठ क्यों न रही हो, मगर साधारणतया गंगा में मगरमच्छ का पाया जाना आश्चर्य की बात नहीं है; असंभव भी नहीं है। ऐसी किसी भी संभावित विपत्ति में न पड़कर मैं जो सही-सलामत पार आ पहुँचा इसे ही सकुशल कह रहा हूँ।

शरीर पोंछ—शायद जाँघिये से ही शरीर पोंछ डाला था, अंगोछा-तौलिया तो कुछ था नहीं—कपड़े पहन, सूखी रेता के मैदान में डेढ़-दो फर्लांग की दौड़ लगा, सबसे पहले तो ठिठुरन का इलाज किया; फिर एक ऊँचे पत्थर पर बैठ सोचने लगा, आगे की यात्रा कैसे करनी चाहिए ?

श्री रामपुर के स्कूल मास्टर ने गाँव में ही बता दिया था, सामने ही चण्डी-मन्दिर के शिखर पर जो एक खूब चमकता हुआ तारा झिलमिला रहा है, उसी की सीध में चलने से उजड़े हुए आश्रम पर पहुँच जाना होता है। मन्दिर तो इस समय नहीं दीख पड़ रहा, मगर अपनी विशिष्ट चमक के कारण उसके ऊपर का वह तारा बहुत ही स्पष्ट पहचानने में आ रहा है। उठकर उसी की दिशा में चल पड़ा।

कुछ दूर तक रेत-ही-रेत है, फिर पत्थरों का मैदान; और उसके बाद जंगल शुरू हो जाता है, जिसके बीच में से होकर एक सूखा नाला बह गया है···होगा, कोई, पन्द्रह-बीस गज़ चौड़ा···उसी में से होकर आगे बढ़ रहा हूँ। बीच-बीच में तारे को देख लेता हूँ; कहीं पथभ्रष्ट न हो जाऊँ।

जानता हूँ, मेरे चारों तरफ़ इस समय यमदूतों का नग्न ताण्डव हो रहा है। जंगलों के मौन एकान्तों में, कितने ही मृग इस समय भूखे दैत्यों के शिकार बन रहे हैं। कितनी ही नीलगायें मृत्यु के भय से सुरक्षित घाटियों में जा छुपी हैं। कितने ही प्यासे पशु गंगा-तटों की ओर चले जा रहे हैं और शिकारी बाघ दबेपाँव उनका पीछा कर रहे हैं। मगर; ओ, महिमामयी निशीथिनी, धन्य हो तुम। तुम्हारी माया के प्रभाव से ये सारे ही भयंकर व्यापार यहाँ इतने निर्विघ्न चल रहे हैं कि कहीं भी व्यवस्था में कोई त्रुटि नहीं है। तब भी यह सोचकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता

कि जिस शान्तिमयी प्रकृति को अहिंसा की साधना का पुण्यतम तीर्थ माना जाता है, रात्रिवेला में वही इस थोक हत्या को किस तरह प्रश्रय और बढ़ावा देती है ? इन दोनों विरुद्ध स्वभावों का वह अपने में किस तरह सामंजस्य करती है; वही जाने।

सामने ही, चण्डी-मन्दिर के शिखर पर उज्ज्वल नक्षत्रमण्डल जगमगा रहा है, जहाँ चिर अनादिकाल से कोटि-कोटि मुक्तात्मायें निवास करती आ रही हैं। ये रात्रिवेला उनके जागरण का समय है। विश्व जब सो जाता है और मनुष्य, पशु-पक्षी निद्राधीन हो जाते हैं, ये स्वाधीन मुक्तात्मायें तब अपने छोटे-छोटे दिव्य विमानों पर बैठ—जिनकी गति शब्द से भी तीव्र और प्रकाश से भी अधिक है—विश्व-विहार करने निकला करती हैं। वे अशरीरी हैं; उन्हें छूकर भी नहीं छुआ जा सकता। अविज्ञेय हैं, देखकर भी नहीं देखा जा सकता। इस प्रसुप्त ब्रह्मांड पर इस समय उन्हीं का राज्य है। सचराचर विश्व इस समय उन्हीं से भर उठा है। कितनी ही इस समय, प्रवालोद्यानों में विहार करती हुई—जल-कन्याओं के देशों में; कितनी ही आकाशगंगा के दिव्य तटों पर और कितनी ही चन्द्रलोक में; जिधर जिसका जी चाहा है चली गई हैं···मगर, उनमें से जिन्हें इस मृत्युलोक का भ्रमण अभीष्ट है, वे इस समय चुप-चाप नीचे उतर आई हैं और वन-उपवनों में, झरनों के किनारे, शून्य पर्वतों पर और नदियों के निर्जन तटों पर गुप्त-विहार करती फिर रही हैं···ये, किसका पद-शब्द सुन पड़ रहा है ? कौन आ रहा है ?—भूलोक विहारिणी मुक्तात्मा ही, तो ?

ठहर गया। साँस रोककर, कान लगाकर सुनने लगा। हाँ, वही तो है। तो, आओ, आओ ! ओ मेरी, निशा की बन्धु, आओ, इस निर्जन वन में मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ।

पद-शब्द और भी पास आ पहुँचा। पत्थरों पर खड़-खड़ स्पष्ट सुन पड़ने लगी···मगर, ये नेत्र ! धधकते हुए अंगारों की तरह ये दो नेत्र !! ये तो मुक्तात्मा नहीं···कोई और ही है !!···नशा उतर गया। तुरन्त टार्च जेब में से निकाल, बटन दबा डाला। मगर शोभा अहीर की तरह उसने भी धोखा दिया। बार-बार बटन दबाने पर भी नहीं जला। जान पड़ता है, अघोरनाथ के टीले पर ही वह शायद 'एग्झास्ट' हो चुका था। फेंक दिया; माचिस निकाल ली; एक सींख जला डाली·· मगर हवा के झोंके ने उसे भी बुझा दिया !···पद-शब्द सिर पर आ पहुँचा··· जल्दी-जल्दी कोट उतार, उसे सिर पर, आँखों के सामने लटका लिया और उसका एक घेरा-सा बना जैसे ही उसके भीतर दूसरी सींख जलाई, विपत्ति गरज उठी। वहाड़··· झपट···गुर्राहट और किसी के एक ही तमाचे ने मुझे भूशायी कर दिया।

मगर जान पड़ता है, वे इस समय मेरे पास ही कहीं खड़े थे। वे ही··· जिन्होंने इससे पहले भी अनेक बार मुझे ऐसी विपत्तियों से बचाया है। जो···सुनते

हैं, एक दिन गज की करुण पुकार सुनकर नंगे ही पाँव दौड़ पड़े थे। नहीं तो, स्वप्न में भी किसे आशा थी कि असंभव भी संभव हो जायगा। घबराहट तथा जल्दबाजी में जलाई गई उस सींख की छोटी-सी ज्वाला कोट में इस तरह फैल उठेगी कि एक ही क्षण में वह आग की प्रचंड लपटें उगलने लगेगा। मानता हूँ, ऊन का कोट एकदम सूखा था। मगर सींख की ज्वाला तो एकदम निर्बल और तुच्छ ही थी। मैदान की तेज़ हवा ने उसे इस बार बुझा देने की जगह और भी जला कैसे दिया, यही तो आश्चर्य है।

खैर, कुछ भी हो; लपककर मैंने कोट उठा लिया, और खड़ा हो गया। अब, शायद मैं सुरक्षित था।—खूब जानता हूँ, दैत्य सामने ही खड़ा है, घूर रहा है; रह-रहकर ओठों में गुर्रा रहा है, झपटने का सुयोग खोज रहा है; ठीक ही है। उसे भूख लगी है; सो, वह उसके मिटाने के प्रयत्न में लगा है। नहीं तो, मेरे साथ उसका कोई जन्म-जन्मान्तर का पुराना वैर तो है नहीं, जो आज मिल गया हूँ तो सारी कसर आज ही निकाल लेगा। ऐसा तो मनुष्य का ही स्वभाव है; पशुओं का नहीं। वे मारते हैं भूख के लिए; मगर मनुष्य मारता है प्रतिशोध के लिए। मन-ही-मन मुझे अपना भोज्य बनाकर वह न जाने कितनी देर से मेरा पीछा करता आ रहा है; चाहता है, आज मेरे ही सिर पर अपनी आज की भूख मिटा ले मगर, दुर्भाग्य; इस दुष्ट आग ने उसके सारे मनोरथों को धूल में मिला दिया। मेरे सामने खड़ा हुआ, यही शायद वह सोच रहा है। वह खूब जानता है, कर्ण के कवच-कुण्डल की तरह जब तक यह 'लाल-दैत्य' मेरे हाथ में है वह मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

तब भी मैं निश्चिन्त नहीं हो पा रहा हूँ। कोट की यह छोटी-सी आग आखिर, कितनी देर की ? यही—कोई, आठ-दस मिनिट की; अधिक नहीं। मानता हूँ, इसके बाद आयगा कमीज़ का नम्बर; फिर बेचारे चुस्त पाजामे का। मगर स्वामिभक्त की तरह मेरे लिए अपना बलिदान देकर भी, ये सब बेचारे, आग को, कुल मिलाकर, पन्द्रह-बीस मिनिट से अधिक न खेंच सकेंगे। फिर, उसके बाद ? यही तो समस्या है। अनुभवी दैत्य भी शायद इस बात को खूब समझ रहा है; इसीलिए भागने का नाम नहीं ले रहा। सत्याग्रही की तरह अटल खड़ा है।

हाँ, एक उपाय है कि आग को चिरस्थायी बना दिया जाय। सूखी लकड़ियाँ बटोरकर उन्हें प्रज्वलित कर डालूं। ऐसा हो जाय, तो फिर तो क्या कहने। निश्चय ही दैत्य को अपनी 'पूँछ-मूँछ-समेत' मैदान खाली कर देना पड़ेगा। मगर मुश्किल यह है, ऐसा होता नहीं दीख पड़ रहा। आसपास घूम-फिरकर काफी देख-भाल चुका हूँ। लकड़ी का नाम तक नहीं है। झाड़ियों में आग दे देने से भी काम बन सकता है। मगर इस मार्गशीर्ष के महीने में वे भी अभी इतनी हरी हैं कि उन में

भी अभी तक मेरे लिए बलिदान दे सकने की योग्यता नहीं आई है। इधर कोट बुझने का नोटिस दे रहा है। तब अन्त में और क्या करता ? पंचतन्त्र के परमनीतिज्ञ विष्णुशर्मा के इस अमर उपदेश को चरितार्थ करता हुआ—"यः पलायति स जीवति"— मैं एक गीले सरकंडे पर कोट को टाँग उस सघन अंधकार में जिधर सींग समाये भाग निकला। कमीज उतारकर कंधे पर रख ली; कारण, उसका नम्बर आने में देर नहीं है।

अगर मेरे भाग्य में शेर से बचकर इस तरह बहुत दूर तक भागते रहना नहीं लिखा था। जो लिखा था—वह था, धड़ाम से पानी में गिरना; और कोट-बूट समेत 'गंगा जी के पुण्य स्नान' का दूसरा दौर समाप्त करना। सो वही हुआ। कब, कहीं का, कोई अभागा नाला मेरे मार्ग में आ पड़ा, मुझे पता ही न चला और मैं इस तरह उस-में जाकर गिरा कि सारा शरीर जो ठिठुर गया, वह तो हुआ ही; मगर माँ जाह्नवी ने मेरे कोट, कमीज और माचिस का भी कब किधर 'उद्धार' कर डाला सो भी पता न चला। नोट और फाउंटेन पेन भी अनन्त गंगा-स्नान के लिए जल में ही बह गये। आशा करता हूँ, किसी पाताल-लोकवासी-दरिद्र कहानी लेखक के हाथ में पड़कर वे अवश्य ही उसका कुछ-न-कुछ उपकार करेंगे···व्यर्थ न जायँगे।

मगर, अब आगे ? 'कवच-कुंडल' तो छिन गये। आत्मरक्षा का कोई भी उपाय हाथ में नहीं रहा। निश्चय ही, दैत्य का मनोरथ अब पूर्ण हो जायगा। अवश्य ही इस अंधेरे में वह मेरा पीछा कर रहा है। बहुत ही दबेपाँव; पहुँचा ही समझो। भला, जिसने आग के सामने से भागने का नाम नहीं लिया, आग के बुझ जाने पर वह पीछा क्यों न करेगा ?

मगर तब भी उपाय तो करना होगा···ख़याल आया, यदि गहरे पानी में जा-कर खड़ा हो जाऊँ और शेर को देखते ही, डुबकी लगाकर पानी के अन्दर-ही-अन्दर कुछ दूर निकल जाऊँ, तो कैसा हो ? आशा तो अधिक नहीं जान पड़ती। मगर दूसरा उपाय भी क्या है ? इस समय तो जो भी मौके पर सूझ जाय वही कर लेना ठीक होगा।

गहरे पानी में जाकर खड़ा हो गया और स्थिर, चुस्त नेत्रों से दैत्य की प्रतीक्षा करने लगा।

वह···शायद कोई बहता हुआ आ रहा है ! नेत्र चमक रहे हैं।···मगर, नहीं; तारों की परछाँही है···शेर नहीं है।

लेकिन, ठंडा पानी बरफ-सा चुभा जा रहा है। शरीर सुन्न हो चला है। जल में और अधिक न ठहर सकूँगा। यदि जबर्दस्ती करूँगा, खून जमकर हृदयगति रुक जाने से मृत्यु हो जायगी; दूसरा कुछ न होगा। इससे तो शेर के हाथों मर जाना

कहीं अच्छा। याद तो करेगा, कोई, कभी इस जंगल में ऐसा भी आया था जिसने कायरों की तरह आत्मसमर्पण न कर दो-चार करारे हाथ भी दिखाये थे।

मुँह मोड़कर तैर पड़ा और पार जा लगा। पाट बहुत ही कम चौड़ा था; देर नहीं लगी।

वाह,···सामने ही आग दीख पड़ रही है। चार-पाँच फर्लांग से अधिक दूर न होगी। होगी, किसी कोयला बनानेवाले की भट्टी। अगर किसी तरह वहाँ तक सुरक्षित पहुँच जाता···

भाग उठा। शेर का ख़्याल ही ग़ायब हो गया। किसी तरह वहाँ पहुँच जाऊँ, बस, यही धुन लगी थी। बेतहाशा भागा जा रहा था। मगर, मार्ग की बाधायें विघ्न डाल रही थीं। भागते-भागते, कभी कोई रेतीला मैदान आ पड़ता था और बूट समेत पाँव रेत में इस तरह धंस जाता कि ब्रेक लगी मोटर की तरह चाल सहसा 'डेड-स्टाप' हो जाती। कभी कोई पत्थरों से भरा-सूखा नाला भी आ पड़ता और उसमें के किसी ऊँचे पत्थर पर पाँव पड़ जाने से बूट इस तरह फिसल जाता कि बड़ी ही मुश्किल से मैं अपने को गिरने से बचा सकता।

इसी तरह आग के पास जा पहुँचा। इतना तो दूर से ही समझ लिया था, जिसे कोयला बनानेवालों की भट्टी समझ रहा हूँ वह भट्टी नहीं है; किसी संसार-त्यागी, विरक्त तपस्वी की कुटिया है। बुरा क्या है, कोयलेवाले की अपेक्षा महात्मा के दर्शन तो और भी बड़ा पुण्य लाभ है। यदि तपोनिधि इस समय जागते होंगे, दो-चार सुख-दुःख की बातें, उनके मुखारविन्द से निकले हुए दो-चार धर्मोपदेश, मेरे इस परिश्रांत मन को सांत्वना ही देंगे।

घूमकर, एक वृक्ष की ओट में खड़े होकर देखा, गंगा बह रही है, और उसके तट पर ही एक छोटी-सी कुटिया बनी है। बाहर जो पत्थरों का विस्तृत चबूतरा है, उसी पर सिद्धासन जमाये महात्मा योग-निद्रा में आसीन हैं।—या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी—नेत्र बन्द हैं, मगर मन जागृत है। सामने ही आग की प्रचण्ड धूनी चैतन्य हो रही है। इसी का प्रकाश दूर से दीख पड़ रहा था।

ध्यान में विघ्न न हो, बहुत ही दबेपाँव आगे बढ़ने लगा। मगर योगेश्वर की श्रवण-शक्ति असाधारण थी। वे भाँप ही गये, कोई आ रहा है। नेत्र युगल खोल उन्होंने एक बार मेरी तरफ देखा; फिर घन गम्भीर स्वर में बोले—माता तुझ पर प्रसन्न हैं, वत्स; इधर आ।

कहकर वे आसन से उठ खड़े हुए और बिना कुछ और कहे गंगा-तट पर काकासन में बैठ मंत्रपाठ और आचमन करने लगे। इससे उनका क्या अभिप्राय है, मैं नहीं समझ सका।

तब तक मेरी दृष्टि झोंपड़ी के अन्दर जा पड़ी, जहाँ एक मंद प्रदीप जल रहा है। माथा ठनक गया। समझ लिया, शेर से भी बड़ी विपत्ति में फँस गया हूँ। एक



कोन में दो-तीन नर-कपाल पड़े हैं और पास ही एक यूप गड़ा है, संभवतः बलि-पशु के बांधने के लिए। सामने ही, कराल जिह्वा निकाले माँ—काली—खड़ी हैं। दृश्य, रुचिकर नहीं है।

धूनी की तरफ़ भी देखा। वीभत्स दुर्गन्ध आ रही है। संभव है उस में कोई शवखण्ड जल रहा हो। दो-एक नर-कपाल और एक खप्पर भी दीख पड़ा, जिसमें शायद रक्त भरा हो। पास ही, एक कुल्हाड़ी—जिसकी धार अवश्य ही बहुत तीक्ष्ण रही होगी—चबूतरे के पत्थरों में खड़ी हुई आगन्तुक के दुर्भाग्य की सूचना दे रही है। सन्देह नहीं रहा, कापालिक का ही आश्रम है।

मगर, अनुष्ठान अभी तक जारी है। मंत्रजाप और आचमन का क्रम अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। अवश्य ही यह उसको, नर-बलि देने से पूर्व की, कोई

तांत्रिक साधना है, जिसे पूर्ण किये बिना वह शायद अभी और भी कुछ देर तक नहीं उठ सकेगा। तब भी यह सोचकर वह शायद निश्चिन्त ही है कि, माता की प्रेरणा से उसका जो चिर-प्रतीक्षित शिकार उसके पास आज अनायास ही आ पहुँचा है, अब वह किसी भी तरह उसके हाथ से बचकर नहीं निकल सकेगा। माँ के चरणों में उसकी बलि देकर वह आज अवश्य ही अपनी तपस्या का अभिलषित फल प्राप्त कर सकेगा।

बंकिम की कपाल-कुण्डला याद आ गई, जिसने एक दिन एक पथभ्रष्ट पथिक की प्राण-रक्षा की थी। अगर··· आज भी यहाँ वैसी ही कोई 'कपाल-कुण्डला' होती!! जो अपनी पीठ पर वैसे ही आनितम्बलम्बी श्याम केशपाश फैलाये, अपने वैसे ही अनिंद्य सुन्दर मृगनेत्रों के संकेत से मुझे अपने पास बुलाकर कहती—विपत्ति में फंस गये हो, पथिक! इधर आओ—और कुछ दूर तक चुपचाप मुझे अपने पीछे-पीछे ले जाकर 'उजड़े हुए आश्रम' के मार्ग तक पहुँचा आती। मगर मेरा ऐसा भाग्य कहाँ? जानता हूँ, मुझे तो जो कुछ करना है, अकेले असहाय रहकर ही करना है। ऐसा ही मेरा कर्मलेख है।

अनुष्ठान समाप्त कर कापालिक काकासन से उठ खड़ा हुआ और नीरव भाव से झोंपड़ी की तरफ चल पड़ा। भस्म-विभूषित उसका नग्न शरीर धूनी के प्रकाश में बहुत ही स्पष्ट दीख पड़ रहा है। उसका सुगठित विशाल वक्षःस्थल, उसकी बलिष्ठ भुजाएँ और व्यायाम-कठिन जंघाएँ साफ़ बता रही थीं, उनमें दानवीय बल भरा है।

जानता हूँ, वह क्या करने जा रहा है और उसका क्या इरादा है? घटनाचक्र एक साथ घूम गया। एक क्षण की भी देर न लगा मैंने लपककर कुल्हाड़ी उठा ली और खड़ा हो गया। उसने एक बार पीछे मुड़कर मेरी तरफ़ देखा और अगले ही क्षण बिजली की फुर्ती से उछलकर मेरे सिर पर आ पहुँचा।

कुश्ती जानने का दावा नहीं भरता हूँ। जानता भी नहीं हूँ। हाँ, कुछ दिन उस्तादों का साथ अवश्य कर चुका हूँ; वह भी अधकचरा। तब भी उनकी कृपा से एक दाव, जिसे शायद वे लोग 'बगली' या ऐसा ही कुछ कहते हैं, किसी प्रकार जान गया हूँ। अनेक लोगों पर अनेक बार आजमाकर माँज भी चुका हूँ। कापालिक को अपने ऊपर बरसते देख इस विपत्ति-काल में उस पर भी उसी का प्रयोग कर बैठा और देखा, आशातीत सफलता मिली है। उसका भारी शरीर केवल चारों खाने चित्त ही नहीं गिरा है, एक ऊँचे पत्थर पर माथा टकरा जाने से वह बेहोश भी हो गया है।

यही अवसर है भाग निकलने का। जानता हूँ, वह मरेगा नहीं। पाँच-सात मिनिट बाद ही उठ खड़ा हो तो आश्चर्य नहीं। तुरन्त धूनी में से एक जलती हुई लकड़ी निकाल, कुल्हाड़ी संभाल गंगा में उतर पड़ा। पानी गहरा नहीं था। खड़े-खड़े ही

पार हो लिया और आगे बढ़ गया। कहीं पथभ्रष्ट न हो जाऊँ, एक बार तारे को फिर देख लिया।

× × ×

फिर वही निस्संग यात्रा। वे ही, अन्धकाराच्छन्न शून्य वनभूमियाँ। पग-पग पर, आकस्मिक भयों की वैसी ही आशंकायें। दूर, कभी-कभी गीदड़ बोल उठते हैं। या किसी अकेले काकड़ या किसी अविज्ञात वन्यपशु की भयजनक आवाज़ सुन पड़ जाती है। मेरा पद-शब्द सुनकर निकटवर्ती झाड़ियों में सोये हुए कितने ही पशु सहसा भाग उठते हैं; मगर वे कौन हैं, पहचाना नहीं जा सकता। कापालिक की धूनी में से निकाले हुए उस प्रज्वलित काष्ठ और उसकी उस कुल्हाड़ी के सहारे मैं किसी भी भय का सामना कर सकूँगा, यह आत्मविश्वास तो मुझ में हो चुका है; मगर उन भयों के आकार-प्रकार और उनकी विविधता की तरफ़ से अब तक भी निश्चिन्त नहीं हो पा रहा हूँ। उस प्रबल प्रतापी 'पुराण पुरुष' की विडम्बनाओं पर भी मुझे कम कौतूहल नहीं है। सभी कहते हैं, वे परम निश्छल, परम निर्विकल्प हैं। सांसारिक हास्य-विनोद उनके पास तक नहीं फटक सकते। मगर मैं कैसे मानलूँ, वे उपहास-प्रिय नहीं हैं। नहीं तो, छः मील के इस छोटे से मार्ग में उन्होंने मेरे लिए—चाहे परीक्षा लेने के लिए ही सही—इतने सारे, तरह-तरह के भयों का एक साथ सृजन क्यों कर डाला? यह भी तो हो सकता था कि दैत्य वाले कांड के बाद इस कापालिक-प्रसंग को वे किसी और दिन के लिए सुरक्षित कर देते, और एक के बाद एक होने वाले इतने सारे गंगा-स्नानों का एक साथ पुण्य लाभ कराने की जगह वे इन्हें पृथक्-पृथक् पर्वों में विभक्त कर देते। ऐसी व्यवस्था कर देने से उनके किस विधान में कौनसा विपर्यास आ जाता, समझ नहीं आता। तिस पर, अभी तो यात्रा जारी है। अभी कितने संकट और शेष हैं, किसे पता है? तब भी, कापालिक की धूनी को तो धन्यवाद देना ही होगा। उसकी इस प्रज्वलित लकड़ी ने कितने संभावित भयों से मुझे बचाया है, क्या कह सकता हूँ।

लेकिन, वह दैत्य? वह भी तो एक पहेली है। बार-बार सोचने पर भी उत्तर नहीं पा रहा हूँ कि आग बुझ जाने के बाद उसने मेरी अत्यन्त असहाय अवस्था से लाभ क्यों नहीं उठाया? जब तक आग बनी रही, वह नहीं भागा, उल्टे; झपटने का सुयोग पाने के लिए आग बुझ जाने की प्रतीक्षा करता रहा। मगर जब वही आग वास्तव में बुझ गई और मैं ख़ाली हाथ होकर सर्वथा निरुपाय हो गया, तब उसने मुझ पर आक्रमण क्यों नहीं किया? वह, कहाँ किधर चला गया? किस की प्रेरणा से? इसका क्या रहस्य है?

मगर इसका उत्तर शायद वही हो, जिसे पहले भी एक बार कह आया हूँ।

अर्थात्—वे मेरे साथ थे। वे मेरी रक्षा कर रहे थे। वे ही, पुरुषविशेष परमेश्वर। और, अब तो उन्होंने मेरे हाथ में यह 'आग्नेयास्त्र' पकड़ाकर मुझे और भी निर्भय बना दिया है।

तब भी कापालिक की तरफ़ से सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो पा रहा हूँ। यह संदेह तो अब भी बना ही हुआ है कि वह यदि मूर्छा से जाग मेरा पीछा करने की चेष्टा करे—प्रतिहिंसा की भावना उसे ऐसा करने की प्रेरणा करे तो इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है—तब उसकी धूनी की यह प्रज्वलित लकड़ी अपनी चमक के संकेत से उसे मेरा पता बता देने में कभी संकोच न करेगी, यह निश्चित है। कारण, मेरे हाथ में पड़कर भी यह है तो उसी की संपत्ति।

मगर ऐसा शायद न हो। मेरा पीछा करने से, उसे एकबार फिर कहीं पत्थर पर गिरकर अपना माथा न तुड़ा लेना पड़े, उसे यह भी तो एकबार सोच लेना पड़ेगा।

कितना मार्ग तै कर चुका हूँ, पता नहीं। शेर के तमाचे के साथ-साथ उसके पंजे की एक हल्की-सी खरोंच भी मेरे कन्धे पर आ गई थी; चलते हुए अब वही मीठा दर्द कर रही है। याद आया कि किसी पत्थर पर से फिसल जाने के कारण पाँव में कहीं पर एक साधारण-सी मोच भी आ गई थी; इस समय वह भी पीड़ा पहुँचा रही है।

हठात्, एकबार फिर, कहीं थोड़ी ही दूर पर एक-दो अग्नि-शिखायें दिखाई पड़ीं। सोचा; आज क्या विपत्तियों का अन्त ही न होगा? इस अग्नि का अनुसरण भी कहीं मुझे किसी दूसरे कापालिक के आश्रम में तो नहीं पहुँचा देगा?

आधा मील आगे बढ़ जाने पर क्षेत्रपालों के चीत्कार-स्पष्ट सुनाई देने लगे। समझ गया, किसी ग्राम के निकट आ पहुँचा हूँ। शब्द बहुत ही स्पष्ट सुन पड़ रहा था। कोई किसी को पुकारकर कह रहा था···"बुधुआ, हो······संभल जइयो!! उङ्घ पच्छम लब जणावर की चाँग सुण पड़ रई है, रे!!" (यहाँ 'हैं' का अर्थ है,—'है' और 'रई' का 'रही'—पाठक समझ लें।)

सोचा, होगा कहीं का कोई जानवर, हरिण या नील गाय; जिसकी तरफ़ से कोई किसी बुधुआ को सावधान कर रहा है। मेरा इस सबसे क्या वास्ता? तब भी, इतनी देर बाद मानवीय सृष्टि का एकबार फिर संपर्क पाकर मुझे ऐसा लगा जैसे किसी सरकारी चिकित्सालय की रुग्णशय्या पर, किसी सांघातिक बीमारी के लम्बे दिन काटकर, एकबार फिर अपने घर लौट आया हूँ। निःशंक; पत्थरों पर क़दम बढ़ाता, उसी शब्द का अनुसरण करता आगे बढ़ने लगा।

मगर, आगे रास्ता नहीं है। आठ-आठ दस-दस हाथ ऊँचा किनारा सामने

खड़ा है। उसके ऊपर खेतों की बाड़ दीख पड़ रही है। वहीं से क्षेत्र-रक्षकों की पुकार आ रही है।

यह मैं किधर आ निकला ? किस गाँव के पास ?—अभी यह सब सोच ही रहा था, कि पाँच-छः भारी पत्थर—एक के बाद एक—मेरे आसपास इस तरह आकर गिरे कि उनमें से यदि कोई सिर पर आ बैठता तो मेरी दसों दशायें वहीं पूरी हो गई होतीं। भाग्य का ज़ोर था कि मैं यहाँ भी बच गया। एकबार आँख ऊपर उठाई, तो देखा, पाँच-छः नर-देहधारी कंकाल मूर्त्तियाँ हाथों में मशालें उठाये नीचे झाँक रही हैं।

क्रोध हो आया। बोला—"अरे, ओ, नरक की प्रेतात्माओ, कौन हो तुम ? इस अंधेरे में 'हैमर थ्रो' का यह कैसा अभ्यास कर रहे हो ? देखते नहीं, जलती लकड़ी लिए हम यमराज की तरह चले आ रहे हैं और तुम हम पर पत्थर फेंक रहे हो। अच्छा, चलो, इधर आओ; कौन-कौन हो तुम ? लिखवाओ अपने नाम। आज चित्रगुप्त की बही में लिखकर ही छोड़ूंगा तुम लोगों को। बहुत दिन से छोड़ता आ रहा हूँ।"

क्या जानें वे लोग मेरी इतनी लम्बी बक-झक को समझे भी कि नहीं; मगर दो-चार ऊपर से एक साथ चिल्ला ज़रूर उठे—"अरे, ये तो अपने निधि बाबू हैं। अजी, छिमा करना जी, बाबू जी। हम ते भारी खता बन गई।"

"अच्छा, ठीक है; इस बार तुम्हें क्षमा किया। मगर जल्दी बताओ; आश्रम कितनी दूर है ?"

"अजी, आप 'आसरम' में ही तो खड़े हो, सरकार। वह सामने ही तो है 'कुलपती' की कुटिया।"

चल पड़ा। वे लोग इसके बाद भी बहुत-कुछ कहते-सुनते रहे। शायद, पूछ रहे थे—आप इस समय किधर से आ रहे हैं ? आपके कपड़े क्या हुए ? मामला क्या है ? इत्यादि। मगर मेरे पास उनकी बातें सुनने और उत्तर देने का समय ही कहाँ था ? आगे बढ़ गया।

× × ×

इसके बाद कुछ अधिक नहीं कहना है। 'शेष-यात्रा' तो यहाँ समाप्त हो गई। आगे का मार्ग भी सरल था। 'उजड़े हुए आश्रम' को पार करने पर आधे मील का जंगल आता है। फिर गंगा की चौथी धारा और अन्त में कोठी। सीधा ही मामला है। न कोई विशेष कष्ट हुआ, न कोई विशेष घटना। जैसे खाली हाथ कोठी से गया था, वैसे ही खाली हाथ कोठी में आ पहुँचा।

खाली हाथ इसलिए कहता हूँ कि कापालिक के उस 'आग्नेयास्त्र' का तो तभी विसर्जन कर दिया था जब गंगा की चौथी धारा में उतरने लगा था। मगर धारा के

बीच में पहुँचकर उस कुल्हाड़ी को भी और अधिक साथ ले जाने की रुचि नहीं रही थी और उसे भी बीच धार में ही छोड़ दिया था । मानता हूँ उसने आत्मविश्वास दिलाने तथा प्राण-रक्षा करने में मेरी प्रशंसनीय सहायता की थी; मगर आखिर वह थी तो कापालिक की ही कुल्हाड़ी, जिसने न जाने कितने निरपराधों की हत्या की होगी, कितने निर्दोष प्राणों का अपहरण किया होगा । ऐसी वस्तु क्या प्रश्रय देने योग्य है ?

और इसमें बुरा भी क्या हुआ ? एक तरह से देखा जाय तो अच्छा ही हुआ । सुनते हैं गंगा का स्नान पापनाशक है, मोक्षदायक है । तब क्या वह कुल्हाड़ी भी अपने पाप-बंधनों से मुक्त न हो गई होगी ?

५

मधु-भक्षण



इस सूने वन में,
—भिक्षु-सुता-सी भटक रही तू कौन, अरी ?
क्षुप क्षुप पर—
"मधु-मधु" पुकारती, मधु-संचय करती ?
ओ, भ्रमर गायिके !
तेरा यह मधु गुंजन,
मुझे करा रहा स्मरण,
उन द्रुमशाखालम्बी मधुछत्तों की विगत कहानी।

उस दिन,
जब अत्यन्त अलक्षित गति से कर नीरव वृक्षारोहण,
मैं हुआ प्रवृत्त, उनके मधुकोशों से करने मधुभक्षण;

तब एक साथ कितनी ही,
ब्रज वनिता-सी, रंभा-सी, मधु-वधुएँ
—मेरे आसपास मंडराकर—
करने लगीं निरन्तर अपने मुग्ध हृदय का प्रणय निवेदन !!
—अरी सुन्दरी,
सच कहता हूँ,
अतिशय मधुमय, अतिशय सुखमय थे,
मधुपान काल के वे थोड़े से क्षण;
कर न सकूँगा इस जीवन में उनको विस्मृत।
वे हैं मेरे जीवन के
कतिपय अमिट स्वप्न ;
दूरस्थित प्रणयी के
अलिखित प्रणय-पत्र;
एकान्त निशीथों के
अनुच्चरित मौन निमन्त्रण;—
हाँ, तो,
जब उनके स्वागत संगीतों ने
कर दिया मुझे इस तरह प्रहर्षित,
रोमांचित, उत्तेजित;
तब, पी गया कब मुनि अगस्त्य-सा मैं
उनके मधु की बूँद-बूँद तक
पता ही न चला मुझको।

× ×

ओ फूल-फूल मंडराती मधुबाले,
उन मुग्धाओं-सी क्या तू भी
मेरे ही कारण प्रतिपल, प्रतिक्षण
कर रही इतना श्रम मधुसंचय में ?
—अरी, तुझे धन्यवाद,
शत-शत-सहस्रबार !!
सच ही तो है,
जब कन्दमूल से, वन्य फलों से
जी भर जाता मेरा;

या, गदराये महुओं पर से
मन उठ जाता मेरा;
तब एक यही मधु-अमृत तो है
जो मेरे श्रान्त हृदय को
देता है आश्वासन,
चिर संतर्पण ।
यह है; मेरे जीवन का—
एकमात्र धन ।

६

दैत्य की गुफ़ा में

मार्गशीर्ष का महीना, अंधेरी रात, आठ बजे का समय। दूर तक वनों में, घाटियों में, प्रसुप्त मैदानों में, गंगा-तटों पर, एक नीरव निस्तब्धता छाई हुई है। नातिदूर ग्राम के पीपल वृक्ष के पंचायती अलाव को घेरकर बैठनेवाले ग्रामवृद्धों की वार्ताध्वनियाँ भी नहीं सुन पड़ रहीं। एक भी शब्द नहीं; प्रकाश की एक भी रेखा नहीं। केवल—जंगल के इस निविड़ क्षेत्र में, एक मेरी ही कोठी के बड़े कमरे में, एक छोटा-सा तैल प्रदीप मन्द-मन्द जल रहा है। फ़र्श के मोटे कार्पेट पर आठ-दस बढ़िया बिस्तर लगे हैं; और उन पर, रजाइयों में लिपटकर बैठे हुए कितने ही युवक बातचीत कर रहे हैं। शेर-तेंदुओं से सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही पुरानी घटनायें—जो कभी इन वनभूमियों में घटी थीं—दोहराई जा रही हैं। उद्यान की बाड़ के साथ-साथ बाँसों के कितने ही झुरमुट दूर तक चले गये हैं। उनमें से बहते हुए जंगली पवन के सांय-सांय शब्दों से ऐसा जान पड़ रहा है जैसे प्रेतलोक से आई हुई कितनी ही प्रेतात्मायें कोठी को घेरकर बहुत ही उन्मत्त वेग से इधर-उधर दौड़ती फिर रही हैं; और एक के बाद एक—अपनी बरफ सरीखी ठंडी फूंकों से उस एकमात्र छोटे प्रदीप को बुझा देने का प्रयत्न कर रही हैं। तभी कहीं से अचानक कोई बोल उठा—बाबू जी!

सभी चौंक पड़े। ऐसा लगा जैसे उद्यान की दक्षिण तरफ़वाली कब्रों पर से नरक लोक की भीषण यंत्रणा भोगती हुई कोई अभिशप्त आत्मा बहुत ही करुण स्वर से पुकार उठी है।

आवाज़ फिर आई। इसबार वह अधिक स्पष्ट थी। अरे, सचमुच ही कोठी के बाहर खड़ा हुआ कोई पुकार रहा है—बाबू जी!!

रजाइयाँ पटक सभी बाहर की तरफ़ भागे।—कौन है? कहाँ से आया है? क्या हुआ? क्या बात है?—एक साथ कितने ही प्रश्नों की झड़ी लग गई।

"जी, इसे रीछ ने पाड़ गेरा, बाबू जी!"—आगन्तुक ने कहा।

"रीछ ने!!"

टार्च हाथ में ही थे। एक साथ जल उठे। उनके प्रकाश में देखा—ताजे-हरे बाँसों की गुदगुदी शैया पर लेटा हुआ कोई अत्यन्त दुर्बल, अत्यन्त कमजोर आदमी रह-रहकर कराह रहा है। उसके कपड़े या तो धूलि-धूसरित होकर फट गये हैं, या ताजे खून से एकदम लथपथ हो रहे हैं। मुख—मुरदे की तरह सफेद; सिर पर—बाल, त्वचा, माँस, मज्जा; कुछ भी नहीं। श्मशान में पड़ी हुई खोपड़ी की तरह

एकदम सफाचट। बाईं भौंह की पास वाली हड्डी की परत टूट गई है। दाईं बाँह में पंजों की चीर-फाड़ के चिन्ह बहुत ही स्पष्ट हैं।

तुरन्त चिकित्सा की व्यवस्था की गई। घायल को झोंपड़ी में पहुँचाकर एक साफ-सुथरे बिस्तर पर लिटा दिया गया। कपड़े बदल दिये गये। शम्भू गैस-लैम्प जलाकर रख गया और डॉक्टर शेखर बहुत ही लगन और सहानुभूति के साथ उसकी चिकित्सा में जुट गया। व्रणों को साफ करते और धोते समय घायल को कष्ट न हो, इस उद्देश्य से 'नोव्होकेन' का एक इंजेक्शन भी लगा दिया गया।

काफी देर बाद घायल की यथोचित चिकित्सा कर जब हम लोग फिर अपने कमरे में लौटे, दस बज चुके थे। परन्तु किसी की भी आँखों में नींद नहीं थी। घायल का दीन और बहुत ही भयजनक चेहरा, उसकी मरणासन्न अवस्था; और उस पर आक्रमण करने वाले दैत्य के भीषण कल्पना-चित्रों से ही सब के हृदय भर रहे थे।

शेखर को लक्ष्य करते हुए पहले मैंने ही उस नीरवता को भंग किया। कहा—"मानता हूँ बहुत ही कुशलता के साथ तुमने आज ज़ख़्मी की चिकित्सा की है; और 'तुम अमृतपाणि चिकित्सक हो' यह प्रशंसा-पत्र भी मैं तुम्हें अभी इसी समय देने के लिये तय्यार हूँ। परन्तु सच मानो, आज की यह रात तम्हारी बहुत ही कठिन परीक्षा की रात है, शेखर।"

"क्यों?"

"वाह, यह भी क्या पूछने की बात है? देखते नहीं; इस उद्यान में आज कैसी धाँधली मची हुई है? हमारी खिड़की के सामने खड़ी हुई कितनी प्रेतात्माएँ इस अंधेरे में हमें एक ही साथ घूर-घूरकर देख रही हैं? वे अकेली नहीं हैं। उनके साथ आये हैं, कितने ही दैत्य! कितनी ही पिशाचिनियाँ! आज इसी उद्यान में, उस पीपल-वृक्ष के नीचे ही इनका सम्मिलित नृत्य होने जा रहा है। कितने ही हरिणों और नील गायों के रक्त से उनके खप्पर भर उठेंगे। इतना ही नहीं; उनके साथ आये हैं—पचास-पचास हाथ ऊँचे दो मृत्यु-दूत, जो न जाने कब से हमारे चबूतरे के पास चुपचाप खड़े हुए हमारी एक-एक हरकत को निहार रहे हैं।"

"पचास-पचास हाथ ऊँचे मृत्यु-दूत!!—इससे तुम्हारा अभिप्राय कहीं इन दोनों गन्धपर्ण वृक्षों से तो नहीं है, निधि?"—आनन्द ने मुसकाते हुए कहा।

"हो सकता है, दिन में उन्हें इसी नाम से पुकारा जाता हो परन्तु इस निशीथ वेला में उन्हें वृक्ष-इक्ष कहने की प्रथा नहीं है; वे यमराज के भेजे हुए बहुत ही विश्वस्त मृत्यु-दूत हैं, जो डॉक्टर शेखर की मृत्यु-निवारक औषधियों को अपने माया-बल से नष्ट कर उस घायल की आत्मा को उसके अत्यन्त दुर्बल शरीर में से बलपूर्वक

खेंचकर ले जाने के लिए तुले हुए हैं। बड़ा ही विकट युद्ध होगा, डॉक्टर; देख लेना। तुम जीतोगे या वे; कह नहीं सकते।"—कहकर मैं हँस पड़ा।

परन्तु इस में हँसने की कौनसी बात थी, मैं भी नहीं समझ सका। केवल इतना ही जानता हूँ कि हृदय ने हँसना चाहा और मैं हँस पड़ा। लेकिन उस भीषण रात्रि में इस हास्य की अपेक्षा मृत्यु-दूतों के उस काल्पनिक चित्र ने ही सब पर अधिक प्रभाव डाला। बहुत बार देखा है, जो बात बहुत ही असंभव होती है और दिन में जरा भी भय पैदा नहीं कर सकती, रात की निस्तब्धता और भीषणता का अनुकूल वातावरण पाकर वह कभी-कभी बहुत त्रासजनक हो उठती है। इसीलिए उस नवागत दुःखी आदमी की अमंगल आशंका से सभी दयार्द्र हो उठे। मेरा अनुमान है मन-ही-मन सभी ने उस करुणामय से उसके कल्याण की प्रार्थना भी की।

इसी तरह रात बीत गई। अभी दिन अच्छी तरह निकला भी न था कि हमने घायल को फिर जा घेरा। यह जानकर सभी प्रसन्न हुए कि 'पचास-पचास हाथ ऊँचे' मृत्यु-दूत अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए हैं और मरीज़ सकुशल है। उसका चेहरा—जो रात में प्रेत की तरह भयंकर जान पड़ा था—इस समय काफी स्वस्थ दीख पड़ा। उसके नेत्रों में रात की अपेक्षा अधिक चेतनता दृष्टिगोचर हुई।

"तुम जीत गये, डॉक्टर"—कहकर मैंने शेखर का अभिनन्दन किया।

इसके बाद और भी तीन दिन तक उसकी चिकित्सा कोठी पर हुई। परन्तु हमारे इस चिकित्सालय में औषधियों और अभिनव उपकरणों का उतना अच्छा सुभीता न रहने से यही उचित समझा गया कि मंगल को—चूँकि यही उसका नाम है—नगर के सरकारी चिकित्सालय में भरती करा दिया जाय।

जिस दिन वह विदा हुआ हम उसके मुख से उसकी रीछ-कथा सुनना न भूले। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि मंगल आठवीं कक्षा तक स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर चुका है; छोटा-मोटा कवि भी है। छन्द और मात्रा के झमेले में न पड़कर कितने ही ग्रामगीत उसने बनाये हैं।

और उसकी कहानी ?—वह, इस प्रकार है—

"उस दिन एक मोटी और कठोर लकड़ी पर कुल्हाड़ी चलाते-चलाते जब मैं बहुत ही थक गया तो हारकर धरती पर बैठ गया और हाँफने लगा।

"धर्मकुण्ड के इस घने जंगल में—जहाँ दिन में भी अंधेरा छाया रहता है और पग-पग पर शेर-तेंदुओं का भय बना रहता है—हमें लकड़ियाँ फाड़ने और बटोरने का यह थका देने वाला धन्धा नित्य ही करना पड़ता है। सर्दी हो गर्मी, इससे छुटकारा नहीं है। फिर, इन फटी हुई लकड़ियों का एक भारी गट्ठर बाँध, सिर पर लाद, चार-चार मील का रेतीला-पथरीला रास्ता लाँघ, उन्हें बस्ती में भी पहुँचा देना

पड़ता है। तब कहीं जाकर इस भूखे पेट के लिए दो पैसे हाथ में आते हैं। सच पूछिये, बाबू जी; औरों के लिए जंगल चाहे जो कुछ हो, हम दीन लकड़हारों के लिए तो वह पेट का प्रश्न हल करने वाला कठोर कर्म-क्षेत्र ही है, वहाँ के नित्य नये, सुन्दर दृश्य और वहाँ के आनन्द विनोद हमारे भाग्य में नहीं लिखे हैं।

"मानता हूँ ऐसे भयंकर वनों में कभी भी प्राणों पर संकट आ सकता है, परन्तु सच यह है कि जंगलों के ये सारे संकट केवल निर्धनों पर ही आते हैं; धनिकों पर नहीं।

"वे लोग भी तो शिकार खेलने के लिए इधर आते हैं। आपने तो देखे ही होंगे, उनके आत्म-रक्षा सम्बन्धी उद्योग। कैसे विचित्र होते हैं ? कितनी ही बैल-गाड़ियों पर लदी हुई, कितनी ही छोलदारियाँ, पलंग-कुर्सियाँ, तरह-तरह की भोजन-सामग्री और बर्तन, रसोइये, नौकर-चाकर, पहरेदार, कितने ही शिकारी और बन्दूकें; जैसे किसी शत्रु देश पर चढ़ाई की जा रही हो; एक फ़ौज की फ़ौज उनके साथ होती है। उसके बाद, किसी एकान्त जलाशय के तट पर—जहाँ पहाड़ों से उतरते हुए झरनों, पक्षियों और कीचकवनों की बंसरियों के सम्मिलित संगीत घाटियों में मद भर रहे होते हैं—उनके तम्बू गाड़े जाते हैं; और वहाँ वे—या तो; गपशप, माँस-मदिरा या दूसरे प्रकार के विनोदों में अपना समय बिताते हैं; या, दिनभर घाटियों में घूमते-फिरते तीतर-बटेरों और हरिण-नील गायों के शिकार किया करते हैं। कभी-कभी किसी शेर के शिकार का नाटक भी रचते हैं। लेकिन, वे चाहे कुछ भी क्यों न करें—कहीं भी घूमें-फिरें; वनदेवता का अभयदान छाया की तरह सदा उनके साथ रहता है। वे लोग धनिक जो ठहरे।

"परन्तु, जब इन्हीं वनभूमियों में कभी किसी भूले-भटके पथिक, किसी निहत्थे फारेस्ट गार्ड, किसी इक्के-दुक्के जंगल-यात्री या दीन लकड़हारे की रक्षा का प्रश्न आ खड़ा होता है; तब इन वनदेवता महोदय का वही अभयदान कहाँ किस कोने में जा छुपता है, पता ही नहीं चलता। अमीर-गरीब का यह भेदभाव मानव-समाज में तो बहुत देखा,सुना है, परन्तु जंगल के निरीह वनदेवता भी ऐसा कर सकते हैं, नहीं पता था।

"ख़ैर, जाने दीजिये इन सब बेतुकी बातों को। मैं कह रहा था कि उस दिन एक मोटी-ताज़ी कठोर लकड़ी पर कुल्हाड़ी चलाते-चलाते जब मैं बहुत ही थक गया तो हारकर धरती पर बैठ गया और हाँफने लगा। अभी दो-चार ही मिनिट बीते होंगे कि किसी ने पीछे से आकर मेरे दोनों कन्धों पर एक धीमी-सी थाप दी और इस बंधे हुए हिसाब से मेरे दायें हाथ को झटका दिया कि छूटकर कुल्हाड़ी दूर जा गिरी। मैंने समझा, सायंकाल हो जाने के कारण मेरा कोई साथी चुपचाप मेरे पीछे आकर

मेरे हाथ से कुल्हाड़ी रखवा देने का प्रयत्न कर रहा है; मैंने विशेष परवाह नहीं की और कुल्हाड़ी उठाने के लिए फिर हाथ आगे बढ़ा दिया। परन्तु इससे पहले कि मेरा हाथ कुल्हाड़ी तक पहुँचे एक भद्दी-सी थुड़थुड़ाहट हुई और किसी के प्रबल धक्के ने मुझे पेट के बल धरती पर बिछा दिया।



"यह क्या ? धीरे-धीरे गर्दन घुमा, भयभीत नेत्रों से मैंने देखा, एक काले पहाड़-सा खूनी रीछ मेरी पीठ पर अगले पंजे जमाये, जीभ लपलपाता, आँखें चमकाता, खड़ा हुआ है। हड़-बड़ाकर मैंने उसे झटका दिया और उसकी पकड़ से बच निकलने की चेष्टा की; इससे वह और भी झुँझला उठा और थूथनी फड़फड़ाकर मुझे पीस डालने की चेष्टा करने लगा।

"उस दैत्य से बचने का अब केवल एक ही उपाय मेरे हाथ में था कि सारी ताकत लगाकर मैं चिल्ला पड़ूं और इधर-उधर बिखरे हुए अपने साथियों को बुला लूं। परन्तु धूर्त रीछ ने मेरी यह चाल भी न चलने दी। मैं जब-जब चिल्लाने की इच्छा करता वह मेरे मुख पर अपना गद्दीदार पंजा इस तरह रख देता कि मेरा मुख बन्द हो जाता और आवाज़ बाहर न निकल पाती।

"इस तरह मेरी रक्षा के सब रास्ते बन्द कर उसने देखते-ही-देखते मेरी दुर्गति कर डाली। वह कभी दाँतों और कभी पंजों से—जब जिस तरह उसका जी चाहता—मेरे सिर को चीरने-नोचने लगता। कभी घसीटता, कभी झकझोरता और कभी खून चाटकर जीभ चटकारने लगता।

"उस समय की वह पीड़ा; क्या बताऊँ, कितनी तीव्र थी; बाबू जी ! बस, इतना ही समझ लो, कि मेरे मन में तब जीने की ज़रा भी इच्छा न रही थी। मैं रो-रोकर भगवान् से प्रार्थना कर रहा था—'हे देव, मुझे जल्दी ही इस धरती पर से उठालो। एक क्षण भी मैं और अधिक जीना नहीं चाहता'—परन्तु मैं ऐसा अभागा निकला कि न मर ही सका, न उस खूनी के पंजे से छूट ही सका।

"जीवन-मरण की उस सन्धि-वेला में मुझे एकबार अपने उन दोनों बच्चों की भी याद आई थी, साहब; जिनकी माँ नहीं है; आज मैं ही जिनकी माँ हूँ और मैं ही बाप। सोचता था—अपनी दीन झोंपड़ी के द्वार पर खड़े हुए वे इस समय उत्सुक नेत्रों से मेरे आने की बाट जोह रहे होंगे। कब कक्का पैसे लावें, कब बाज़ार से आटा

आवे; कब वे रोटी खाकर दिनभर की भूख मिटावें।"—

लकड़हारा चुप हो गया। उसकी आँखें भर आई थीं। परन्तु उसने जल्दी ही अपने को संभाल लिया, और अपनी शेष कहानी इस प्रकार समाप्त की—

"तब तक सिर साफ कर दैत्य मेरे पैरों की ओर झुक चुका था। वह जैसे ही अपनी खुरदरी जीभ से मेरे तलवों को चाटने लगा, मुझे मौका मिल गया; और अपनी सारी ताकत लगाकर—एकबार, दोबार, तीनबार—मैं गला उधार लेकर चिल्ला उठा। दूर-दूर तक जंगल गूँज गये। एक हलचल-सी मच गई।

"दैत्य अभी तलवे चाटने का ही आनन्द ले रहा था कि देखा, आठ-दस मूर्तियाँ—जो सभी मेरे साथी थे—उसके सामने आकर खड़ी हो गई हैं। 'तुम ? वाह, मेरी स्वाधीनता में बाधा डालने वाले तुम कौन होते हो, जी ? अच्छा, ठहरो'—मानो यही सब कहते हुए वह मुझे छोड़ एकाएक उन पर टूट पड़ा। उसकी भयंकर आवाज़, उसका डरावना रूप और लाल-लाल आँखें देख एकबार तो वे लोग भी भाग खड़े हुए; परन्तु मेरी दुर्दशा का ध्यान कर, साहस बाँध, वे एकबार फिर लौटे और एक ही साथ दैत्य पर टूट पड़े।

"लाठी की मार बुरी होती है, बाबू। आप तो जानते ही हैं। जैसे ही आठ-दस करारी लाठियाँ हज़रत के सिर पर, पीठ पर, पुट्ठों पर बरसीं कि खून चाटने का सारा मज़ा भूल जनाब जंगल में कहाँ-किधर निकल भागे, पता ही न चला।

"इसके बाद क्या हुआ, आप जानते ही हैं।"—कहकर वह चुप हो गया।

× × ×

लकड़हारे की इस घटना से, आस-पास के गाँवों में ऐसा भय छा गया कि गाँवों के जंगली रास्तों पर इक्के-दुक्के यात्रियों का आना-जाना ही बन्द हो गया। गंगा-पार से आने वाले लकड़हारों ने—इन जंगलों पर ही जिनकी जीवन-यात्रा निर्भर करती है—भय के मारे इधर आना बन्द कर दिया। जंगलों में से सूखे कंडे बीनकर निर्वाह करने वाली कितनी ही विधवा और निर्धन स्त्रियों की आजीविका भी बन्द हो गई।

ऐसे कठिन प्रसंगों पर, जो शिकारी कहलाते हैं या प्रान्तीय सरकार के उत्तर-दायी कर्मचारी हैं, त्रस्त प्रजा की पुकार उन्हीं के कानों में पड़नी चाहिए थी; परन्तु उन सबको छोड़कर जब वह बार-बार हमारे ही कानों में सुन पड़ने लगी तब यह जानकर भी कि हम बन्दूकधारी शिकारी नहीं हैं, शिकार-कला में निपुण होने का दावा भी नहीं भरते—केवल वनों में भ्रमण करने के शौकीन और उसके रहस्यों का अनु-संधान करने वाले जिज्ञासु मात्र हैं—जनता के सुख-दुःख में भाग न लेकर उसकी तरफ से अपने को उदासीन बनाये रखना हम से न हो सका; और एक दिन, किसी को पूर्व

सूचना दिये बिना ही, कई दिन का पाथेय साथ में लेकर हम लोग रीछ-यात्रा के नाम से जंगल-यात्रा के लिए निकल पड़े।

यहाँ 'एक दिन' से मतलब 'एक रात' से है। अनेक लोगों की अनेक प्रकार की दृष्टियों तथा भीड़-भाड़ से बचने के लिए दिन की अपेक्षा रात का ही सफर अधिक अच्छा होता है। इसलिए हमने जब प्रस्थान किया रात के नौ बज चुके थे। समूचा गाँव रात की काली चादर ओढ़ इस तरह मौन और निस्पन्द पड़ा था कि यदि ग्राम्य-कुत्तों के भौंकने का शब्द न आ रहा होता तो शायद उसकी सत्ता में ही सन्देह कर लेना पड़ता।

ऊँची-नीची पगडंडियों और ऊबड़-खाबड़ रास्तों से होते हुए हम लोग दस-बजे के लगभग एक परिचित वन में जा पहुँचे और शेष रात्रि व्यतीत करने के लिए वहीं ठहर गये।

अगले दिन सवेरे ही निकल पड़े। सामने ही झरबेरियों पर बहार आ रही है। दूर तक वनभूमियाँ लाल-पीली हो उठी हैं। पास ही किसी वृक्ष पर कोई वन-पक्षी अविश्रान्त ध्वनि से पुकार रहा है। न जाने कब से पुकार रहा है, वह... परन्तु ऐसा जान पड़ा, जैसे वनदेवता के संदेश-घोषक की तरह वह पुकार-पुकारकर यही शायद पथिकों से कह रहा है—"लूट लो; वनदेवता का 'शरद ऋतु का प्रसाद' लूट लो; यह वनभूमि है; यहाँ पूछना नहीं होता; स्वीकृति नहीं लेनी होती; जब, जहाँ, जितना जी चाहे खा लेना होता है।"

बेशक, उदार हैं वनदेवता; संदेह नहीं। परन्तु उनके इस पंचरस मिश्रित वन्य प्रसाद का यथेच्छ उपभोग करने में हमने भी किसी तरह की कंजूसी नहीं दिखाई, उन्हें भी यह मानना होगा। जानकी का आदेश पाकर अशोकवनिका पर टूट पड़ने वाले पवन-पुत्र की तरह हम भी एकबार जो बेरों पर टूटे, फिर दाँत खट्टे हो जाने तक पीछे हटने का नाम नहीं लिया।

बेर खाकर आगे चल पड़े। भीषणता क्रमशः बढ़ने लगी और मार्ग बीहड़ और दुर्गम होने लगा।—मार्ग है ही कहाँ! दोनों तरफ शून्य, निर्जन पहाड़ियाँ; बीच में झिल्ली-झंकारपूर्ण, भयप्रद, सूखा नाला। बस, जो कुछ है, इतना ही। अब, इसे चाहे मार्ग कह लो, चाहे नाला। मगर आगे बढ़ने का एकमात्र अवलम्ब यही है; इसलिए इसे मार्ग कहकर ही पुकारना होगा।

नाला भयजनक है। झिल्ली की अविश्रान्त झंकार बहुत ही डरावनी जान पड़ रही है। दोनों तरफ की सुनसान पहाड़ियों पर बाँसों के सघन कुंजों पर छाई हुई कृष्ण-सारिवा की सफेद मटियाली मंजरियाँ मीठी और भीनी सुगन्ध से महक रही हैं। मगर, महकने दो; उन्हें यों ही चुपचाप महकने दो। हाथ न लगाना इनको।

हमारे छूने की वस्तु नहीं हैं, ये। हम मनुष्यों के लिये इनकी सृष्टि नहीं हुई है। दूर-ही-दूर से इन्हें सूंघ भले ही लो; मगर हाथ बढ़ाकर तोड़ने का दुस्साहस न कर बैठना। एक छोटी-सी मंजरी का स्पर्श करते ही कितना गुरुतर परिणाम निकल पड़ेगा, जानते हो ? गौरीगुरु के गंगाजलपूत-गह्वर में उनके प्रिय एवं 'पुत्रीकृत' देवदारु द्रुम का पहरा देने वाले प्रसिद्ध कुंभोदर की तरह, कब-कौनसी एक मायावी मूर्ति हम पर भी हठात् आक्रमण कर बैठे, नहीं कहा जा सकता।

परन्तु, संदिग्ध मन पूछ उठता है, तब प्रकृति का यह सौन्दर्य है किसके लिए ? ये, जो इतने सारे ढेर-के-ढेर पुष्प विश्व की आँखों के परोक्ष में ही, इस घाटी के एकान्त में प्रतिवर्ष अपना असीम सौन्दर्य बखेरकर चुपचाप विदा हो जाते हैं, यह क्या प्रकृति का एक नितान्त निष्फल व्यापार नहीं है ? उसके किस अभाव की इन से पूर्ति होती है ? या, संभव है; स्वयं ही चित्र का सर्जन कर स्वयं ही उसके कला-सौन्दर्य का उपभोग करने वाले एकान्तवासी चित्रकार की तरह, प्रकृति का यह समस्त व्यापार उसके अपने 'स्वांतः सुख' के लिए ही रहा हो। तब तो, रहने दो इस मीमांसा को। जो प्रकृत प्रसंग है उसे ही जारी किया जाय।

दोपहर हो गई और एक स्वच्छ जल-प्रदेश के तट पर भोजन-विश्राम से निश्चिन्त हो हमने जब फिर नाले के पथ पर यात्रा प्रारंभ की, देखा, उसका तो अन्त ही नहीं है। द्रोणाचार्य के चक्रव्यूह की तरह उसमें कितने घुमाव, कितने चक्कर और कितने हेर-फेर हैं, ठिकाना नहीं।

ऐसा जान पड़ा—जैसे शिवालक की यह सुदूर विस्तृत घाटी एक अत्यन्त प्राचीन मायानगरी है; जहाँ मानव-सृष्टि से भी बहुत पुरातन काल से, देव-दानवों की असंख्य आत्मायें नाना प्रकार की देह धारण किये चिर-निवास करती आ रही हैं। ये ऊँची-नीची पर्वतमालायें उनके निवास-गृह हैं, और ये सूखा नाला मानों इस नगरी का प्राचीनतम राजपथ है, जिस पर मनोविनोद या आहारान्वेषण के उद्देश्य से वे शरीरी आत्मायें प्रतिदिन विचरण किया करती हैं।

यद्यपि इस समय उन में से यहाँ कोई नहीं दीख पड़ रहा, परन्तु इसकी रेता पर पड़े हुए उनके अगणित पद-चिह्न उनके रात्रि भ्रमण-वृत्तान्तों का स्पष्ट पता दे रहे हैं। दिन में तो फिर भी कुशल रहती है, परन्तु जैसे ही रात का अन्धकार छाने लगता है, ये राजपथ सहसा अनेक दानव-दैत्यों से भर उठता है। तब इसका एक-एक कोना, एक-एक मोड़ और घुमाव भय का सजीव चित्र बन उठता है। भय की छायायें आहारोपार्जन के उद्योग में निश्शब्द पद-संचार करने लग पड़ती हैं। और, एक ही रात में तब कितनी डकैतियां और हत्यायें हो उठती हैं; अगले दिन उनकी पड़ताल करते हुए स्तंभित रह जाना पड़ता है।

अभी आधा घंटा पहले की ही तो बात है, उस लम्बे-चौड़े महानिम्ब के नीचे, शहद के कितने ही टूटे-फूटे छत्ते दीख पड़े थे; जो मूक भाषा में अपनी करुणगाथा सुनाते हुए बता रहे थे. किसने उन्हें इस तरह धरती पर पटका है ? कौन, चुपचाप वृक्ष पर चढ़कर भिनभिनाती मधुबालाओं के प्रतिवाद की परवाह न कर उनमें भरा अमृत पी गया है ?

और इधर, यह देखो; यह जो नाले की रेत पर बहुत ही स्पष्ट पड़ी हुई एक चौड़ी-सी टेढ़ी-मेढ़ी लकीर हमारा मार्ग रोक रही है, जानते हो, यह क्या है ? ये, यहाँ की पहाड़ी गुफ़ा में रहने वाले उस मोटे-ताज़े अजगर दैत्य के रेंगकर चलने की लकीर हैं जो कल या परसों उधर के किसी वृक्ष पर पक्षियों और उनके अंडों के सुप्रचुर आहार से अपने को संतुष्ट कर इस नाले में से चुपचाप निकल भागा है।

परन्तु, यह सोचकर हँसे बिना नहीं रहा जाता कि हज़रत जब वृक्ष से उतर-कर भागने लगे होंगे, यह सोचकर शायद मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए होंगे कि उनके इस व्यापार को रात के अंधेरे में कोई भी नहीं देख सका है और सारा ही काम बहुत ही चुपचाप हो गया है। परन्तु उस स्थूलबुद्धि को यह शायद पता ही नहीं रहा कि भागते समय वह जो इस नाले में अपने चिह्न छोड़े जा रहा है, उनका अनुसरण करते हुए, वनदेवता के गुप्तचरों की तो बात ही क्या, हम लोग भी यदि चाहें तो बहुत ही सहज में उसे गिरफ़्तार कर सकते हैं।

ख़ैर, छोड़ो। ज़रा ही आगे बढ़ जाने पर यह एक और तीसरा दृश्य दीख पड़ रहा है। नाले के बाईं तरफ़, यह जो ख़ूब ऊँचा-सा श्योनाक द्रुम खड़ा है, देख रहे हो—उसके नीचे की रेत में कितना ख़ून और कितने नुचे हुए पंख बिखरे पड़े हैं ? जानते हो ये किन अभागों के हैं ? ये, इस वृक्ष की शाखाओं में बसने वाले उन निर-पराध पक्षियों के हैं, जिन्हें कल रात कितने ही पंखधारी प्रेतों की भूख का शिकार बन-कर सदा के लिए दिवंगत हो जाना पड़ा है। हाय रे ! कल जिस वृक्ष पर आनन्द-भरे संगीत सुन पड़ रहे होंगे और जीवित रहने का आनन्द बह रहा होगा; आज दिवंगत पखेरुओं की मृत जीवात्मायें वहाँ बहुत ही करुणभाव से मूक रोदन कर रही हैं ! —यही क्या इस नगरी की परम्परा है ?

हठात्, मंगल लकड़हारे की याद आ गई, जो इसी घाटी में उस दिन इस नगरी की इसी परम्परा का शिकार बना था। यही तो है वह घाटी, जिसमें दिन डूबने से पहले ही उसके नाम यमराज का असामयिक वारंट आ पहुँचा था। भाग्य का ज़ोर ही समझो, कि वह बच गया; नहीं तो यहाँ के जिस दैत्य से उसका पाला पड़ा था, आज-तक कौन उसके चंगुल में फँसकर जीवित बच सका है ? ल्हाशी पहाड़ी, बुन्देली गुज्जर और ब्रिटिश सैनिक पीटर को एक दिन इसी के हाथों प्राणों से हाथ धो

लेने पड़े थे।

क्रमशः तीन बज गये और किसी अज्ञात झाड़ी के पीछे, तीसरे पहर की सूचना देने वाला वनमयूर कूक उठा। मगर, तब तक हम भी अपने लक्ष्य-स्थान पर आ पहुँचे थे। आधा हीं मील आगे बढ़कर हम उस जगह जा खड़े हुए जहाँ उस दिन मंगल पर आक्रमण हुआ था। वाह ! आज चार दिन बाद भी उसकी दुर्दशा-कहानी यहाँ की सूनी रेत पर वैसी ही लिखी पड़ी है ! वह देखो, वह सामने—वही मोटी लकड़ी पड़ी हुई है, जिस पर वह उस दिन कुल्हाड़ी चला रहा था। और यहाँ, इधर; ये वह जगह है, जहाँ दैत्य ने उसे धरती पर पटककर क्रूरतापूर्वक घसीटा और झिझोड़ा था। ये हैं, वे पत्ते और पत्थर; जिन पर उसके खून की सूखी बूँदें अब तक भी घटना की सत्यता प्रमाणित कर रही हैं। वायु के झोंकों या किसी वनेचर के पद-चिन्हों ने उन्हें अब तक भी लुप्त नहीं किया है।

सभी थक गये हैं। शरीर भोजन और विश्राम माँग रहा है। मगर जिस उद्देश्य और योजना को लेकर यहाँ आये हैं, उसे पूर्ण करना तो अभी शेष ही है। संभव है, शिकार-शास्त्र के पंड़ित हमारी उस योजना को बाल-लीला मात्र समझकर टाल दें, मगर सहृदय व्यक्तियों के लिए वह एकदम टाल देने की वस्तु नहीं है। हमारी यह धारणा थी कि जिस दिन लकड़हारे पर आक्रमण हुआ था, दैत्य कहीं आसपास ही; या तो आहारोपार्जन की धुन में घूम-फिर रहा था; या किसी ठंडी झाड़ी की छाया में पड़ा विश्राम और अर्धनिद्रा का आनन्द ले रहा था। जैसे ही लकड़हारे की कुल्हाड़ी का शब्द उसके कानों में पहुँचा, वह—नर-रक्त के प्रलोभन में अपने स्थान से चुपचाप निकल, मंगल के पास पहुँच, उस पर आक्रमण कर बैठा था। इस-लिए यदि आज भी यहाँ वैसा ही—मंगल लकड़हारे का सा—नाटक खेला जाय, संभव है, कुल्हाड़ी का शब्द सुन वह आज भी हमारे पास आ पहुँचे।

इसी संभावना के आधार पर एक छोटी-सी नाटिका तय्यार की गई थी, जिस का अभिनय यहाँ किया जा रहा था।

डॉक्टर शेखर की घड़ी में साढ़े तीन बजते ही अभिनय आरंभ हो गया। सभी एक साथ पास के वृक्षों पर चढ़कर उनकी घनी डालियों में जा छिपे। बातचीत एकदम बन्द; कोई आहट नहीं, कोई शब्द नहीं, पाँच ही मिनिट में झिल्ली-झंकार के अतिरिक्त ऐसा सन्नाटा छा गया कि जैसे यहाँ कोई था ही नहीं; यदि था भी, वह कभी का चला जा चुका है।

ठीक पन्द्रह मिनिट बाद नाटिका के प्रधानपात्र श्याम का रंगमंच पर प्रवेश होता है। सिर पर, वही, लकड़हारों की-सी पगड़ी। कमर में, घुटनों तक की वैसी ही मैली धोती; वैसा ही मैला कमीज़। पाँव में वैसे ही देसी जूते और मुंह पर वैसी ही

मुरझाई-हुई-सी नकली मूंछें। कन्धे पर दस पौंड की कुल्हाड़ी सँभाले वह बहुत ही निश्चिन्त मुद्रा में उसी कठोर लकड़ी के सामने आ खड़ा होता है, जिसे उस दिन मंगल फाड़ रहा था।

शुरू में, दो-चार मिनिट लकड़ी और कुल्हाड़ी की परीक्षा की जाती है; और उसके बाद एक साथ, खट्खट्! कुल्हाड़ी और लकड़ी का द्वन्द्व-युद्ध शुरू हो जाता है। लकड़ियों के छोटे-छोटे टुकड़े उचटकर इधर-उधर बिखरने लगते हैं। दूर-दूर तक निश्शब्द घाटियाँ गूंज उठती हैं। वह न आये, दूसरी बात है। मगर उसके लिए आज फिर वैसा ही खुला निमन्त्रण तो है ही।

पाँच-चार मिनिट बाद वह थककर धरती पर बैठ जाता है; ठीक वैसे ही जैसे उस दिन मंगल बैठा होगा। कुछ देर तक विश्राम कर वह फिर खड़ा हो जाता है और एक बार फिर कुल्हाड़ी लकड़ी पर बजने लगती है—खट्खट्!

पाँच मिनिट बाद पुनः वैसे ही विश्राम और फिर वही धूम्रपान। श्याम तमाखू नहीं पीता। मगर लकड़हारे तो पीते हैं; लिहाजा उनके अनुकरण में चिलम पीने का अभिनय भी करना होगा। वह जब दोनों हाथों से चिलम मुंह में लगा, एक तरफ थोड़ा-सा सिर झुका, जल्दी-जल्दी एक साथ कई सुटके लगाने के बाद, अन्त म एक लम्बा कश खेंच चिलम-प्रेमियों की मुद्रा में परमानन्द-मग्न होता हुआ मुँह में से धुएँ की लम्बी धार छोड़ने और खाँसने लगता है; बहुत प्रयत्न करने पर भी हँसी रोकना कठिन हो जाता है।

परन्तु इससे भी अधिक हँसी तब आती है, जब वह मंगल लकड़हारे के इस अत्यन्त प्रिय गीत को—जो उसके दूसरे साथियों ने हमें बताया था—उसी की स्वर-लहरी में कुछ अधिक ऊँचे स्वर से अलापने लगता है—

"पानी भरे री, कोई अलबेली किनारे झमाझम।
हाथ गगरिया, कांधे रसरिया,
तिरछी चितवन से घायल करे री, झमाझम।"

सभी जानते हैं, श्याम को ऐसी किसी भी कला से तनिक भी मोह नहीं है। इस विषय में उसे वाममार्गियों का 'शुष्क पशु' अनायास ही कहा जा सकता है। तिसपर, संगीत-कला के पास तो वह बेचारा कभी फटका ही नहीं। इसलिए जब अत्यधिक मगन होकर अपने बेसुरे कंठ से वह इस बेचारे गीत की भावनाओं और स्वर-लहरियों की दुर्दशा करने लगता है; हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं। मगर जैसे भी बने, मुंह में कपड़ा ठूंस-ठांसकर हँसी को रोकना पड़ रहा है। कारण, वह बेचारा जिस गंभीर उद्देश्य को लेकर उन इतने सारे अभिनयों को कर रहा है, उन्हें इतनी सस्ती विनोदप्रियता में नष्ट नहीं किया जा सकता।

इसी तरह कितना ही समय बीत गया। साढ़े तीन से आगे बढ़ती हुई घड़ी की सुई साढ़े चार को भी पार कर गई, परन्तु अतिथि नहीं आया। अभिनय करते हुए अभिनेता थक गया और प्रतीक्षा करते हुए दर्शक; परन्तु रंगमंच पर दैत्य के दर्शन नहीं हुए। तब अन्त में और क्या करते? यही स्थिर किया गया कि आज की रात धर्मकुंड के जलप्रपात पर बिताकर कल फिर नये सिरे से दैत्य की खोज की जाय।

× × ×

सूखे नाले की कितनी ही चक्करदार राहों और हरिणों की पगडंडियों को लाँघते हुए हम जब उस प्रसिद्ध जलप्रपात पर पहुँचे, सूर्य अस्त हो चुका था। वही पुराना दृश्य, जिसे शैशव से आज तक न जाने कितनी बार देख चुके हैं; हमारे सामने उपस्थित है। तीस हाथ ऊँचे पर्वत-प्रदेश से उतरती हुई, पिघली हुई चाँदी-सी वही स्वच्छ जल-धारा, उसी चिर-परिचित जलाशय में गिर रही है। धारा और कुंड के सम्मिलन का निकटवर्ती प्रदेश उन्हीं अनेकबार देखे हुए हंसराज के छोटे-छोटे पौधों से परिपूर्ण हो रहा है और उनके सुन्दर पत्ते, नृत्य-निपुण शिशु के छोटे-छोटे हाथों की तरह जलबिन्दुओं के आघात से वैसे ही नृत्य-मग्न हो रहे हैं। कुंड को घेरकर पड़ी हुई चट्टानें आज भी वैसे ही स्थिर बनी हुई हैं। शैशव में हम इनपर कितना खेले-कूदे हैं! कितने उपद्रव किये हैं! पास ही, वही छोटी-सी प्राचीन गुफ़ा, जिसमें ध्यान-मग्न बैठ-कर अतीतकाल के न जाने कितने साधकों ने निर्वाणपद प्राप्त किया होगा, आज भी उसी तरह अक्षुण्ण बनी हुई है। सायंकाल के उस अन्धकार में ऐसा जान पड़ा जैसे पर्वत से उतरती हुई वह जलधारा किसी जलकुंड में नहीं, पर्वत की ओट में छिपकर बैठे हुए किसी जलपान-मग्न महादैत्य की महा-अंजलि में गिर रही है। पिपासाकुल दैत्य पीता ही जा रहा, पीता ही जा रहा है। न जाने कितने वर्ष, कितनी शताब्दियाँ और कितने युग बीत गये हैं; परन्तु उसकी महाप्यास जैसे आज भी नहीं बुझ रही; बुझ ही नहीं रही।

क्रमशः सायंकाल बीतकर रात हो उठी। संध्या-वन्दन और भोजन-पानी से निबट कितनी ही देर तक तो बातचीत का प्रोग्राम रहा; परन्तु बाद में जब रात घनी हो उठी, और एक-एक घंटे के पहरे की व्यवस्था कर सब लोग चट्टानों के बिस्तर पर लेट गये, ऐसा लगा जैसे आज की रात शायद कोई भी निश्चिन्त होकर न सो सकेगा। एक साथ कितने ही हल्के-भारी पद-शब्द, उस अंधेरी रात में हमें अपने बहुत ही पास सुन पड़ने लगे। परन्तु वे क्या चाहते हैं, उनका क्या इरादा है, कुछ पता नहीं चल रहा। पास ही कहीं, दो क्रोधी सूअर बहुत ही वेग से एक दूसरे से गुत्थम-गुत्था हो रहे हैं। उनके भयजनक गुआँ-गुआँ शब्दों से सभी की निद्रा में निरन्तर व्याघात हो रहा है।—अरे, वाह! जान पड़ता है, हमारे बाईं तरफ, कुंड के उत्तर दिशा वाले रेतीले

तट पर भी कितने ही जलपानार्थियों की भीड़ लग गई है; और यह भी अपने अक्षयकोष में से सभी को यथेच्छ जल देकर संतुष्ट कर रहा है। किसी को निराश नहीं कर रहा।

इसी तरह कुछ सोते, कुछ जागते, रात बीत गई। परन्तु सवेरा होते ही सबको स्तंभित रह जाना पड़ा। देखा; कुंड के उसी, उत्तर दिशा वाले रेतीले, किनारे पर, रात में जो कितने ही जलपानार्थी मृग, वराह, नीलगाव आदि देवपशु आये हैं, हमारी यात्रा के नायक दैत्य महोदय भी उनमें से एक हैं। रेता पर पड़े हुए उसके ताजे पद-चिह्नों को देखकर—जनशून्य 'जुआन फर्नन्डेज़' की रेती पर पड़े हुए 'फ्राइडे' के पद-चिह्न से चौंक उठने वाले राबिन्सन क्रूसो की तरह—हमें भी बहुत देर तक स्तब्ध रह जाना पड़ा। श्रीमान् जी कब आये, और कब पानी पीकर चुपचाप लौट गये, पता ही न चला!

धन्य हो, दैत्य प्रवर! वन-वन भटककर भी हम कल तुम्हारे जिस चिर-प्रार्थित रूप के दर्शन न पा सके; आज अपने इन पवित्र पद-चिह्नों द्वारा तुमने हमें अपने उसी रूप के यों मानसिक दर्शन करा दिये; यही क्या तुम्हारी कम कृपा है? परन्तु हे वीरवर, तुम सरीखे वीरोत्तम के लिए यह क्या अधिक उपयुक्त न होता, यदि यों गुप्त भाव से न पधारकर तुम हमें प्रकट रूप से ही अपना वह दिव्य दर्शन दे जाते; जो मधु-हरण वेला में मधु-बालाओं को, मधूक भक्षण-काल में भयभीत क्षेत्रपालों को और नर-रक्तपान के समय मंगल सरीखे असहाय लकड़हारों को दिया करते हो? हे मधु-नन्दन, इन निकटवर्ती ग्रामों में आज घर-घर तुम्हारी ही चर्चा है; तुम्हारे ही नाम का स्मरण है। ग्राम-बधुओं के भयभीत हृदयों में तुम्हारी ही मूर्त्ति विराजमान है। बालकों के नेत्रों में तुम्हारे ही रूप की प्रतिच्छवि है। तुम धन्य हो, हे महादैत्य!

सभी जल्दी मचा रहे हैं। दैत्य के ताजे पद-चिह्नों ने हृदयों में एक ऐसी उमंग-सी जगा दी है कि अब उस कुंड पर एक क्षण ठहरना भी भारी पड़ रहा है। सभी रीछ का पीछा करने के लिए अधीर हो रहे हैं। परन्तु मैं हूँ कि हृदय में कोई भी उत्साह नहीं है। शैशव की अगणित स्मृतियों से भरे हुए उस जलाशय को छोड़कर कहीं भी जाने की प्रवृत्ति नहीं हो रही। सोच रहा हूँ—क्या रक्खा है उस दैत्य की निष्फल खोज में। यदि कदाचित् वह कहीं मिल भी गया तो इससे संसार का कौनसा महान् उपकार हो जाने वाला है? इस वनवासिनी गुफा का निमन्त्रण क्या एकदम निस्सार है? मधुमास में श्वेत पुष्पों से लद जाने वाली इन मालझाड़-लताओं की सादर पुकार का क्या कुछ भी अर्थ नहीं है? ये सब क्या एकदम असत्य हैं; कितने वर्ष नगरों की व्यर्थता में बिता दिये हैं। सदा ही इस जलाशय पर निवास करने की उपेक्षा की है। अब यदि जीवन को सार्थक करने का अवसर एकबार फिर प्राप्त हुआ है तो उसे क्या फिर भी वैसी ही अवहेलना के साथ टाल दिया जायगा?

धीरे-धीरे सभी साथी नीचे उतर गये। निरस्त-जन देवालय की तरह जलाशय एकदम शून्य हो उठा। गुफ़ा में कितने ही अबाबील घरौंदे बनाकर रहते हैं। पास ही पहाड़ी खोहों और वृक्ष-कोटरों में जंगली कबूतर और तोते निवास करते हैं। अपने अबोध शैशव से मैं सदा ही उन्हें इसी तरह यहाँ रहते देखता आ रहा हूँ। वे मानो किसी अतीत काल के तपस्वी हैं, जो मृत्यु के बाद भी इस जलाशय और गुफ़ा का मोह छोड़कर कहीं नहीं जा सके हैं और पक्षिवेश धारण कर यहीं रह रहे हैं।

मैं जब नीचे उतरने लगा, उनमें से कितने ही—कितने ही प्रकार के अस्फुट शब्द करते हुए—मेरे साथ-साथ कुछ दूर तक मेरे सिर पर और मेरे आसपास मंडराते रहे। ऐसा जान पड़ा जैसे अनेक दिनों के बाद आये हुए अपने शैशव-बन्धु को यों निस्पृह और उपेक्षा भाव से विदा होते देख, वे शिकायत-भरे स्वर में उससे कुछ और अधिक ठहरने का आग्रह-सा कर रहे हैं। परन्तु, प्रणाम, बनवासी बन्धुओ, अनेक प्रणाम, इस जीवन में फिर कब मिलना होगा, कह नहीं सकता; परन्तु इतना तो निश्चित है, इस हृदय में तुम्हारी यह मधुर स्मृति सदा ही अक्षय बनी रहेगी! कभी भी, किसी भी कारण से लुप्त न होगी।

रीछ जिस मार्ग से पानी पीकर लौटा था उसके पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए उसी मार्ग से हमारी यात्रा हो रही है। परन्तु मार्ग एकदम अपरिचित, बीहड़ और भयानक है। उसे मार्ग कहना भी भूल है। ऊँची-नीची पर्वतमालाओं के चक्र-



व्यूह में से होता हुआ, एक आठ-दस फीट चौड़ा दर्रा, जो कहीं चार, कहीं छः और कहीं दस हाथ तक गहरा हो गया है, हमारे आगे फिल्म चित्र की तरह खुला दीख पड़ रहा है। दैत्य के पद-चिह्न उसी में से होकर गये हैं और हम भी उसी में होकर आगे बढ़ रहे हैं।

भला था कि इस शरद् काल में हम उसमें प्रवेश पा सके; नहीं तो यदि कहीं वर्षाकाल होता उसमें पैर रख सकना भी असम्भव हो जाता। दोनों तटों को छापकर बहती हुई पहाड़ी जलधारा उन दिनों इस उग्रता से उस में प्रवहित होती है कि मनुष्य की तो बिसात क्या बड़े-बड़े दैत्य और हाथी भी उसके आवर्त चक्र में पड़कर नहीं बच सकते।

दर्रा यद्यपि पत्थरों और चट्टानों से ही भरा है, मगर उसमें रेता का सर्वथा अभाव भी नहीं है। अब रेत पर ही कहीं-कहीं रीछ के पद-चिह्न दीख पड़ रहे हैं और हम भी उन्हीं के सहारे आगे बढ़ रहे हैं।

मगर मीलभर बाद वह चट्टानों से इसत रह भर उठा कि उसमें जो रही-सही रेत थी वह भी समाप्त हो गई। और उसके साथ ही समाप्त हो गये, दैत्य के पद-चिह्न भी। इससे यद्यपि यह तो निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होता था कि दैत्य यहाँ से आगे आरव्योपन्यास के 'धूम्रदैत्य' की तरह, धुआँ बनकर कहीं आकाश में उड़ गया है; या आगे गया ही नहीं है; या इन पहाड़ों पर चढ़कर कहीं दूसरी ही ओर निकल गया है; तो भी उसके पद-चिन्हों को न पाकर आगे बढ़ने का उत्साह मंद पड़ गया। ऐसा लगा, जैसे आगे जाना अब एकदम व्यर्थ है। अनिश्चित और संदिग्ध यात्रा से लाभ ही क्या ?

मगर, लाभ हो या न हो, आगे तो बढ़ना ही होगा—'जाते समुद्रेऽपि हि पोत-भंगे सांयात्रिको वाँछति तर्तुमेव'—आगे तो बढ़ना ही होगा। कठोर चटटानों से भरे इस शुष्क और जलविहीन दर्रे में बैठकर दैत्य के नाम की माला जपने से तो काम चलेगा नहीं। आगे बढ़ने से तो फिर भी, उसके बारे में किसी-न-किसी तरह की सचाई के पता चल जाने की संभावना है। यद्यपि उसके मिल सकने की आशा तो नहीं है, तो भी 'पुनः करो उद्योग' का परीक्षण कर लेने में हर्ज भी क्या है ?

मील भर चलने के बाद दर्रा एक सूखे नाले में उतर गया है। नाला क्या है, दर्रों का एक चौराहा-सा है जहाँ तीन तरफ से और भी तीन दर्रे आकर मिल गये हैं। चिन्ता यह हो उठी कि अब आगे किस दर्रे में से होकर जाना चाहिए ? जरा भी चूके और किसी गलत दर्रे में जा पड़े तो न यात्रा का ही अन्त है न विपत्तियों का। कितने ही दिन तक लगातार भूखे-प्यासे भटकते रहने के बाद भी इन पहाड़ी भूल-भुलैयों में से निकल सकना असंभव हो जायगा।

अरे, वाह ! ये तो किसी हाथी के पद-चिह्न दीख पड़ रहे हैं ! किसी एकाकी विचरण करने वाले यूथ-भ्रष्ट खूनीहाथी के ! एकदम ताजे ही तो हैं। जैसे, अभी पाँच ही मिनिट पहले वह इस नाले में से गुजरा हो। मार्गवर्ती शिलाओं और पौधों पर अपने पंकमिश्रित जल का अर्घ नैवेद्य-सा अर्पित करता हुआ वह मानो बहुत ही भक्ति

भाव से इस मार्ग से निकल गया है।

सोचा, रीछ-यात्रा तो एक तरह से अब समाप्त हुई। बदले में यह हाथी-यात्रा ही क्या बुरी है? जंगल में आकर कोई विनोद तो होना ही चाहिए। विनोद भी ऐसा कि जिसमें भयंकर विपत्तियों और भीषण संभावनाओं का आनन्द भरा हो। जिसमें हृदय की धड़कन पैदा करने वाले भयजनक दैत्यों से पाला पड़ने की रोमांचकारी आशा भरी हो। तभी तो रस आयगा।

हाथी जिस दर्रे में से गया है उधर ही चल पड़े। पहले दर्रे की तरह यह भी पत्थरों और चट्टानों से ही भरा है। चौड़ाई ?० फीट से अधिक नहीं है; और गहराई भी कहीं चार, कहीं छः और कहीं दस फीट से अधिक नहीं जान पड़ती। हाथी इसी में से होकर चला जा रहा है। हममें और उसमें अधिक अन्तर नहीं है वह हमसे आगे-आगे और हम उससे दो-तीन फर्लांग से अधिक पीछे नहीं हैं। जाते हुए वह अपने पीछे कितने ही स्पष्ट चिह्न छोड़ता जा रहा है। इन छोटी-छोटी रेतीली शिलाओं को ही देखो; उसके अस्सी मन बोझ के नीचे आकर ये बेचारी किस तरह छितर गई हैं और इन पर उसके पद-चिह्न अंकित हो गये हैं। मार्गवर्ती पौधे एक साथ क्षत-विक्षत होकर उखड़-पुखड़ गये हैं। ऐसा जान पड़ता है जैसे जेठ की कोई तेज आंधी अभी-अभी इनके ऊपर से होकर गुज़र गई है। भय का कारण तो स्पष्ट है। ऐसे दुर्वासा सरीखे क्रोधी और खूनी दैत्य के पीछे इस तरह लापरवाही के साथ चलना एकदम आपत्तिजनक है। वह यदि हमें भाँपकर, बाँसों के किसी अंधेरे झुरमुट में छुपकर घात में खड़ा हो जाय तो हममें से कितनों की क्या दशा हो जाय; सोचकर भी रोमाँच हो आता है। परन्तु यौवन की उपेक्षाओं ने कब ऐसी विपत्तियों की परवाह की है। न जाने किस अज्ञात की प्रेरणा से—समुद्र में भटकती हुई नाव की तरह—हम निरुद्देश्य होकर भी उसके पीछे-ही-पीछे चले जा रहे हैं, पता नहीं चल रहा। संभव है उस दैत्य को देखने की उत्सुकता और चाव ही हमारे पैरों में प्रेरणा दे रहा हो; या किसी स्थिर गन्तव्य पथ की अनिश्चितता ही हमें उसके पीछे-पीछे घसीटे लिए जा रही हो, कुछ कहा नहीं जा सकता।

आधा मील आगे दर्रा बहुत ही संकुचित हो गया है। उसकी भारी-भरकम देह का उसमें समा सकना कठिन है। परन्तु इससे उसकी यात्रा में विशेष बाधा नहीं पड़ी है। हज़रत यहाँ एक निकटवर्ती पौधे के तने में सूंड का सहारा लेकर पहाड़ी पर चढ़ गये हैं; और आगे बढ़ गये हैं। इस निर्दय बलात्कार से बेचारे पौधे की चाहे जो दुर्दशा हो गई हो, इसकी उसे चिन्ता नहीं है। उसका अपना काम बन जाना चाहिए। दूसरों की निर्बलता और विवशता की नींव पर अपने स्वार्थ और सुखों का महल बनाने की प्रवृत्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं है, जंगली प्राणियों में भी पायी जाती

है। उसकी छोटी-छोटी शाखायें इस तरह टूट सी गई हैं कि अर्द्धांग के रोगी की तरह उसका ऊपरी भाग एकदम निःसंज्ञ हो गया है।

पचास-साठ क़दम पहाड़ी पर चलने के बाद, यहाँ पहुँचकर 'श्रीमान् जी' फिर दर्रे में ही उतर गये हैं। जहाँ उतरे हैं, वहाँ का किनारा कच्चा और तीन-चार गज़ से कम गहरा नहीं है। मगर यहाँ आप कमर और पिछले पुट्ठों के बल घिसड़कर, किनारे की दीवार और पत्थरों की दुर्दशा करते हुए उतर गये हैं। मतलब यह कि मार्ग की कोई भी बाधा उनकी गति को रोक नहीं सकी है। इस कशमकश में पत्थरों ने उस की खाल घिसा डाली है या जनाब की खाल ने पत्थरों को घिसा डाला है, कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता।

बड़ी इच्छा थी, हम उसे देखें; उसके दर्शन करें। यह तो पता था कि उस दर्शन में मृत्यु का साक्षात्कार ही भरा है, मित्र-सम्मिलन की आशा तो नहीं है; मगर उस दिन उत्सुकता के आवेश में मृत्यु की चिन्ता हमारे मन में बहुत ही धुंधली पड़ गई थी। तो भी हमारा मनोरथ पूर्ण न हुआ। लगातार दो-तीन मील तक उसके पीछे-पीछे चलने के बाद दर्रे ने जब अन्त में हमें सिद्धाश्रम की सुपरिचित घाटी में जा उतारा; समझ लिया आज रीछ की तरह हाथी के दर्शन भी हमारे भाग्य में नहीं लिखे हैं।

सामने ही पहाड़ी के ढलवान पर एक छोटी-सी झोंपड़ी दिखाई पड़ रही है; उसके नीचे ही घाटी में दो पहाड़ी मज़दूर भाभड़ के पूले बाँधने में लगे हैं। संभवतः ऊपर वाली झोंपड़ी उन्हीं की है। दोनों ही हमें आश्चर्य से देख रहे हैं। बहुत ही अच्छी तरह समझ आगया; 'गन, स्टेन-गन और ब्रेन-गन-धारिणी' बीसवीं सदी के सभ्य नागरिकों के हाथ में पुराने काल के भाले-फरसे ही उनके आश्चर्य का कारण बन गये हैं।

उनके अभिवादन का उत्तर देते हुए आनन्द ने पूछा—कहो जी, तुम्हारे इस जंगल में कुशल तो है न ? कोई खास ख़तरा तो नहीं ?—फिर अपने प्रश्न का आप ही मानो समाधान करते हुए बोला—ख़तरा हो तब भी वे लोग तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं ? उनकी तरह एक प्रकार से तुम्हारा भी तो यह जंगल घर ही है। इतने दिन उन के बीच में रहते-रहते उनकी निडरता और साहस का बहुत-सा अंश तुम लोगों में भी तो आगया है। सुनते हैं, शेर, हाथी, रीछ·· सभी तरह के जानवर तुम्हारी झोंपड़ी के सामने से गुजर जाते हैं और तुम उनकी परवाह भी नहीं करते ?

बात यद्यपि कुछ विनोद में ही कही गई थी, मगर उसमें सत्य का अंश भी था। इच्छा थी, कुछ देर और भी ठहरकर कुछ और भी विनोद उनके साथ किये जायँ; मगर आनन्द की बातों के उत्तर में उन्होंने जो कहा, उसने सारा नक्शा ही

पलट दिया। बोले—आप बिलकुल झूठ नहीं कह रहे, बाबू ! हमें अकसर ही जंगली जानवरों के देखने का मौका मिलता रहता है। आज भी अभी एक ही घंटा पहले वही खूनीहाथी इधर से होकर गुज़रा है; और उससे तीन-चार घंटा पहले वही पुराना पापी, रीछ। हम तब अपनी झोंपड़ी में ही तो बैठे थे।

"रीछ ! पुराना पापी ! वह नालायक इधर कहाँ आ निकला ?—" आनन्द ने आश्चर्य से पूछा।

"आ निकलने की तो बात ही नहीं है, बाबू। वह तो रहता ही इधर है।"

"कहाँ ? किधर ?"—प्रसन्नता के आवेश में केवल आनन्द का ही नहीं, हमारा भी हृदय आनन्द से भर उठा।

"उस जंगल को लांघकर जो पहली ही खोलिया आती है न, वहीं से सीधे चढ़ जाने पर, सुनते हैं जो दो-तीन गुफ़ायें मिलती हैं; वहीं कहीं वह रहता है। रीछ भी और रीछनी भी; दोनों ही।"

हालत ऐसी हो गई कि अब एक क्षण का विलंब भी किसी से सहन नहीं हो रहा था। सभी एक साथ उनकी बताई खोलिया की तरफ़ चल पड़े। मैं सब से पीछे था। न जाने क्या सोचकर उन्होंने मुझे ही रोककर कहा—"बाबू, जा तो रहे हो। मगर सच पूछो तो आप मौत से ही खेलने जा रहे हो। उधर का वह नर-रीछ बड़ा ही खूनी है। सुनते हैं इन पहाड़ों के पीछे की किसी घाटी में, गंगापार का कोई लकड़हारा अभी हाल में उसके हाथों मारा गया है। ज़रा संभलकर ही रहियेगा।"

कहा—"मगर, तुम भी तो कम नहीं हो, जो; सब कुछ जानते-बूझते भी, जो ऐसे खूनी रीछ के पड़ौस में ही रह रहे हो ?"

बोले—"हमें तो इस पेट के लिये यह सब करना ही होगा, बाबू; और कोई चारा जो नहीं है। मगर आप लोगों के लिए तो ऐसी कोई मजबूरी नहीं है। फिर आप लोगों को यह क्या सूझा है जो जान-बूझकर ही विपत्ति मोल लेने निकल पड़े हो ?"

उत्तर नहीं दिया। देने के लिए था भी कुछ नहीं। देता भी क्या ? केवल न जाने क्यों दोनों ही आँखें सजल होने का प्रयास करने लगीं। शायद इसका कारण यह रहा हो कि नगरों की शुष्क मरुभूमियों में सहानुभूति और पर-दुःख-कातरता नाम के जिन दो दुर्लभ मोतियों के दर्शन करने का कभी सौभाग्य नहीं मिला था, यहाँ एक जीर्ण कन्थाधारी, असभ्य कहे जाने वाले आदमी की हृदय-शुक्ति में वे अनायास ही उपलब्ध हो गये।

चल दिया। साथी प्रतीक्षा कर रहे थे। खोलिया लाँघकर पहाड़ी पर चढ़ गये। अभी पहाड़ी का तीन-चौथाई मील ही पार किया होगा कि सचमुच ही दो-तीन गुफ़ायें सामने ही दीख पड़ गईं।

निःशब्द, गंभीर सन्नाटा। शून्य वातावरण। भयाच्छादित पर्वतमालायें। एक भी पक्षी नहीं चहक रहा। केवल, झिल्ली की सूनी झंकार किसी की भयानक उपस्थिति का पता दे रही है। पर्वत-शिखरों को देखकर ऐसा जान पड़ा जैसे वे भी हाथ ऊपर उठाये चिल्ला-चिल्लाकर पथिकों से कह रहे हैं—इधर मृत्यु है इधर मत आना।

कुछ और आगे बढ़ हम लोग गुफ़ाओं के सामने जा पहुँचे। गुफ़ायें बहुत छोटी ही जान पड़ीं। केवल एक ही गुफ़ा ऐसी लगी जो दैत्य के विशाल शरीर के समा सकने योग्य रही होगी। या सम्भव है ऐसी बात न भी हो, ऊपर से ये भले ही छोटी दीख पड़ रही हों मगर भीतर से पर्याप्त विस्तृत और चौड़ी हो। कुछ भी हो, दैत्य और उसके परिवार का निवासस्थान जब इन्हीं गुफ़ाओं को बतलाया जा रहा है तब इतने प्राणियों के रह सकने योग्य स्थान तो इनमें होना ही चाहिए।

गुफ़ायें ऐसे बेढब स्थान पर बनी हैं कि उनके आस-पास खड़े हो सकने का कोई सुभीता नहीं है। पहाड़ी की तिरछी ढलवान पर बड़ी गुफ़ा का द्वार ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों कोई भारी अजगर मुँह बाये शिकार की प्रतीक्षा कर रहा हो। हमारे और गुफ़ा के बीच में आठ-दस हाथ चौड़ी एक ऐसी खाई पड़ती है, जो सत्तर-अस्सी हाथ से कम गहरी न रही होगी। मगर सौभाग्य से खजूर का एक मोटा तना—जिसका घेरा डेढ़ गज से किसी तरह कम न रहा होगा—इस तरह गिरा पड़ा है कि उसने खाई पर पुल बनाकर दोनों पहाड़ियों को मिला दिया है। तने के एक सिरे के पास हम खड़े हैं और दूसरे सिरे से आठ-सात हाथ ऊपर वह गुफ़ा है, जिसके बाईं तरफ वृक्षों और झाड़ियों का एक घना झुरमुट दूर तक निकल गया है।

श्याम की सम्मति सबको पसन्द आई। भाभड़वालों के कथनानुसार यदि दोनों रीछ उन्हीं गुफ़ाओं में रहते हैं तो सम्भव है उनके बच्चे भी रहे हों और वे इस समय गुफ़ा में मौजूद हों। बच्चों के पकड़ने की चेष्टा करने पर उनमें से किसी एक को, या दोनों को ही—बाधित होकर यहाँ आना पड़ जायगा। सूझ चूँकि श्याम की थी, यह अधिकार भी उसे ही दिया गया कि गुफ़ा में घुसकर बच्चों के पकड़ने की कोशिश भी वही करे और शेष साथी सहायता के लिए उसके साथ रहें।

दस मील की लगातार यात्रा से थके तो सब हुए ही थे, सो यह सोचकर कि जरा देर सुस्ता लेने में हर्ज ही क्या है; अभी तो एक भी नहीं बजा है; सब लोग जब मालझाड़ की घनी छाँह में लेटे बात-चीत का आनन्द ले रहे थे देखा, श्याम ने विश्राम की कुछ भी आवश्यकता न समझ अपना 'पार्ट प्ले' करने की असामयिक चेष्टा शुरू कर दी है।

"अरे, श्याम! अभी नहीं। अभी नहीं। जरा ठहरो!"—सभी एक साथ कह उठे।

मगर वह किसकी सुनता है ? कमर में छुरा, हाथ में टार्च संभाले, खजूर के तने को पार करता हुआ हरिण की-सी एक ही छलाँग में वह खाई के उस पार जा पहुँचा, और गुफ़ा के सामने खड़े होकर इस तरह हमें घूरने लगा जैसे हमारे आलस्य के लिए हमारी मौन भर्त्सना कर रहा हो।

मैं तने के पास ही बैठा था। न जाने क्या सोचकर मैं भी उसके पीछे हो लिया। मगर अभी खाई के पार पहुँचा ही था कि गुफ़ा के पास की घनी झाड़ियों में अचानक एक हलचल-सी हुई और देखा उधर के झुरमुट में से निकल साक्षात् यम-दूत की तरह जो मेरी तरफ चला आ रहा है वह और कोई नहीं स्वयं रीछ ही है ! वही रीछ, आज दो दिन से हम जिसकी खोज में लगे हैं।



परन्तु खोज में लगना और बात है, और उसके साक्षात् दर्शन करना दूसरी बात। दोनों में बहुत अन्तर है। वह यों अचानक प्रकट हो जायगा, न

मुझे पता था, न श्याम को; लिहाजा चौंक उठना अत्यन्त स्वाभाविक था।

मैं जबतक पुकारकर श्याम को सावधान करता, वह न जाने क्यों उसे छोड़ सीधा मेरी ही ओर झुक पड़ा। संभव है उसने सोचा हो श्याम तो अब उसके हाथ से बचकर कहीं जा नहीं सकता—फँस ही चुका है—तब पहले इस भालेवाले का सफाया ही क्यों न कर लिया जाय ?

सो, वह सीधा मुझ पर झपटा। पीछे से साथी दौड़े आ रहे हैं और सामने से श्याम। मगर घटना इतनी आकस्मिक और क्षणिक थी कि मेरे अपने बिना उस समय और कोई भी मेरी वास्तविक सहायता न कर सकता था। उस एक ही क्षण में न जाने साहस बढ़ाने वाली कितनी बातें मेरे मस्तिष्क में सहसा घूम गईं। निःशस्त्र मंगल लकड़हारे पर जब वह झपटा था तब उसने भी तो—जैसा कुछ उससे बना था—इसका सामना करने की चेष्टा की ही थी। बाद में उसकी सहायता के लिए पहुँचकर उस के साथियों ने भी तो लाठियों से इसकी मरम्मत की थी; और उनकी मार खाकर यह भाग भी निकला था। यही तो है वह। यह कोई ऐसा अजेय थोड़े ही है, जो इसके सामने



चुपचाप आत्म-समर्पण कर दिया जाय। डरने की बात ही क्या है......इत्यादि-इत्यादि।

पास पहुँच, दोनों पाँव पर खड़े हो, थुड़थुड़ाकर उसने जैसे ही अपने तेज नाखूनोंवाला दायाँ पंजा मेरी तरफ बढ़ाया, भाले का एक भरपूर हाथ छोड़ उसे लौटा देने की मैंने भी पूरी चेष्टा की और जहाँ तक मुझे स्मरण है मुझे अपने प्रयत्न में काफी सफलता भी मिली; मगर अगले ही क्षण उसकी करारी चपेट ने मुझे इस तरह निःसंज्ञ कर दिया कि कब मेरा पाँव उखड़ा, कब भाला हाथ से छूटा, और कब पहाड़ी के ढलवान से फिसल, मैं खाई की ओर लुढ़क गया मुझे पता ही न चला। केवल एक धुँधला-सा, इतना-सा ही चित्र, स्मरण है कि दैत्य गुर्राकर श्याम की तरफ चला जा रहा है। मगर श्याम के साथ कैसी बीती, वह बचा या मारा गया उस बेहोशी में कुछ भी न देखा जा सका।

तब भी, आध ही घंटा बाद जब खाई में उतर साथियों ने मुझे सचेत कर जगा डाला, उनके मुख से मुझे शेष घटना का विशद वर्णन सुनने को मिला। पता चला, यद्यपि खजूर के तने से एक बार में एक ही आदमी के गुजर सकने का सुयोग रहने से उन्हें श्याम की सहायता में पहुँच सकने में कुछ विलंब तो अवश्य हो गया और



इसी बीच केवल एक छोटा-सा छुरा हाथ में रहने से उसे रीछ के पंजों से बच सकने का यथेष्ट अवसर भी न मिल सका और आहत हो जाना पड़ा; मगर तो भी, सहायता पहुँच जाने के बाद दैत्य को श्याम का पिंड छोड़कर अपने नये शत्रुओं की ओर झुक जाना पड़ा था; और, इस तरह श्याम के प्राण बच गये थे। तब उस ढलवान पहाड़ी पर पंजों से, तमाचों से अमोघ-अचूक प्रहार करते हुए उसने जिस सुन्दर युद्धकला का प्रदर्शन किया था, वह देखने ही योग्य था। जन्म भर में संभवतः वह पहली ही बार इस तरह अपने प्राणों के लिए लड़ा होगा। उसकी लौह चपेट खाकर आनन्द को लड़ाई से विमुख हो जाना पड़ा और कुमार का बरछा हाथ से छूटकर दूर जा गिरा। परन्तु अंत में

सफलता मिली डॉक्टर शेखर को, जिसकी अचूक कुल्हाड़ी ने सबका प्रतिशोध एक ही साथ चुका लिया। तीक्ष्ण धार, दैत्य के दायें पुट्ठे में दूर तक धंस गई और वह लड़-खड़ाता हुआ खाई की ओर लुढ़क गया।

मैं तब खाई के निर्जन अंधकार में अर्द्ध-मूछित, अर्द्ध-जाग्रत-सा अशक्त असहाय पड़ा हुआ था। गिरते समय एक चट्टान से टकराकर मेरा घुटना आहत हो गया था और पथरीली पहाड़ी पर के कंकरों से कन्धा, कोहनी और कमर छिल गये थे; रक्त भी बह रहा था। इतने पर भी जब पहाड़ी पर से गिरते हुए कंकर-पत्थरों के साथ मैंने देखा कोई भारी पदार्थ लुढ़कता हुआ मेरी ओर आ रहा है; मुझे एकबार फिर सतर्क हो जाने के लिए बाधित हो जाना पड़ा। मैं संभला और खड़ा हो गया। क्या जाने, कौन है वह ? प्राणों के मोह ने मेरे अशक्त शरीर में एकबार फिर चेतना जाग्रत कर दी। जैसे ही दैत्य का काला शरीर मेरे पास आकर गिरा मैंने पास पड़ा हुआ, एक पत्थर संभाल लिया। परन्तु इससे पूर्व कि मैं उसे, उस पर फेंकता, बिजली की तरह लपक उसने एक ही पंजे में उसे मेरे हाथ से छुड़ा दिया और एक लम्बी बू··· ऊ··फ···कर वह अकस्मात् मेरे पाँव के पास गिर पड़ा। शायद कह रहा था—'अब युद्ध का क्या काम ? जिस इच्छा को लेकर तुम मेरे घर पर अतिथि हुए थे, प्राणों पर खेल—जैसा कुछ मुझ से बना—मैंने उसे पूरा कर दिया। अब आओ, हम और तुम, अभिन्न मित्र बन जायँ।' शायद यही सब उसका अभिप्राय रहा हो।

परन्तु मैं लड़खड़ा रहा था। टाँगें काँप रही थीं। हठात् मैं भी काँपा और एकबार फिर अचेत होकर दैत्य के ऊपर ही गिर पड़ा।

अभी शायद दस मिनट से अधिक न बीते होंगे कि एक ठंडे, कोमल हाथ के स्पर्श ने मुझे फिर जगा दिया। देखा, शेखर, आनन्द और बिहारी सजल नेत्रों से मुझे देखते हुए मुसकरा रहे हैं। वहीं पता चला, श्याम सकुशल है। यद्यपि थोड़ी-बहुत चोट सभी को आई है मगर चिन्ता की विशेष बात नहीं है।

सुनकर शेखर और आनन्द का सहारा ले मैं खड़ा हो गया।

हमने देखा, सामने ही पत्थरों की वीरशय्या पर दैत्य निःसंज्ञ पड़ा हुआ है। अकेले ही आठ शत्रुओं का मान-मर्दन कर वह मूर्छा की चिरनिद्रा में सो रहा है। उसका खुला हुआ मुख, जिससे उसने न जाने कितने लोगों का रक्तास्वादन किया होगा, अब भी भयजनक प्रतीत हो रहा था। प्रबल शत्रु से डरकर नतमस्तक होजाने वाले राजनीतिज्ञों को आदर्श का संदेश देता हुआ वह अब भी मानव का पथ-प्रदर्शक बना हुआ था।

अपने शस्त्र मस्तक से छुआकर हमने उस वीर को सैनिक अभिवादन किया।

७

जलदस्यु



आज जिस प्रसंग को लिखने बैठा हूँ उससे यह परिणाम भले ही निकाल लिया जाय कि बेड़े की यात्रा 'मृत्यु-यात्रा' का ही दूसरा नाम है; मगर मानव-जीवन का जो यथार्थ दिग्दर्शन उसमें अन्तर्निहित है उसकी सत्यता से भला कौन इन्कार कर सकता है ?

उस दिन, श्रावण के श्याम मेघों से घिरे हुए आकाश के नीचे—मीलभर चौड़े पाट में फैलकर बहती हुई, बीस-बीस हाथ ऊँची तरंगें फेंकती हुई, गंगा की मँझधार में—हमारे उस क्षुद्र बेड़े ने जिस तरह अकेले असहाय रहकर यात्रा की थी, मानव-जीवन के ये असंख्य छोटे-छोटे बेड़े भी क्या उसी तरह इस संसार-सागर में निस्संग यात्रायें नहीं करते फिर रहे ? उस दिन जिस तरह गंगा के भयंकर आवर्तों ने बेड़े को अपने अन्दर फँसाकर निगल जाने की चेष्टा की थी, संसार की आधि-व्याधियाँ भी क्या, उसी तरह मानव-जीवन को ग्रस लेने की नित्य चेष्टायें नहीं किया करतीं ? करती हैं, जी; सदा ही किया करती हैं। इसीलिए, पूर्वकाल के क्रान्तदर्शी मानवीय जीवन के साथ नौका की जो तुलना कर गये हैं उसमें लेशमात्र भी अत्युक्ति नहीं है।

मगर, इस समय इस वेदान्त चर्चा की इच्छा नहीं है। इस समय तो गंगा का वही शून्य निर्जन किनारा याद आ रहा है, जिस पर एकदिन, श्रावण मास के एक शुक्रवार को, हम आठ यात्रियों ने गंगा-विहार के उद्देश्य से डेरा डाला था। उस दिन गंगा का रूप जैसा भयंकर हो रहा था, उसमें नंगे हाथ तैरने का स्पष्ट अर्थ था—मृत्यु। इसलिए यही निश्चय किया गया था कि बेड़ा बाँधकर उसके द्वारा ही यात्रा की जाय।

किनारा बेड़ा बाँधने के सर्वथा उपयुक्त था। गंगा की लहरों से कटकर वह एक ऐसी छोटी-सी खाड़ी की तरह बन गया था कि उसमें पहुँचकर गंगा की चंचल लहरें स्वयं ही मन्द पड़ जाती थीं। वह मानों किसी संयमी का सधा हुआ चित्त था, जिसमें चित्तवृत्तियाँ उठने का साहस ही नहीं कर पाती थीं। वहाँ का पानी भी अधिक गहरा न था और आसपास की झाड़ियों में सैकड़ों सलीपर जहाँ-तहाँ अटके पड़े थे। सलीपरों का यह विशाल भंडार ही हमारा मुख्य प्रयोजन था। मगर उनमें से ८४ उपयोगी सलीपर छाँटकर उन्हें एक स्थान पर एकत्रित कर देना सहज काम न था। इसके लिए हमें पूरा एक घंटा खर्च कर देना पड़ा। बाद में, कमर भर जल में खड़े होकर बयालीस-बयालीस सलीपरों की दोहरी तहें जमाकर उन्हें सुदृढ़ रस्सियों और मज़बूत तारों से कसकर बाँधने में बहुत सा समय लगा और तब कहीं जाकर हमारी गंगा-यात्रा के लिए इक्कीस फीट लम्बा बारह फीट चौड़ा एक छोटा-सा बेड़ा तय्यार हो सका।

दो-तीन छोटे-मोटे काम अभी और भी शेष थे। बेड़े के दोनों तरफ लोहे के तीन-तीन कुंडल चप्पुओं के फाँसने के लिए अभी और भी लगाये जाने थे। बीस-बीस फीट लम्बी जंजीरों में बंधे हुए दो लंगर भी उसके दोनों तरफ लटकाये जाने थे और उसके चारों तरफ लोहे की सुदृढ़ तारों का एक पक्का जाल—या फंदा—भी बिछाया जाने वाला था; जो बेड़े पर आक्रमण करने वाले जल-जन्तुओं से आत्मरक्षा करने के लिए विशेष रूप से तय्यार कराया गया था। काम यद्यपि छोटे-छोटे ही थे मगर इनमें भी एक घंटे से कम नहीं लगा।

सोचा तो यह गया था कि बारह बजे तक सब कामों से निबटकर ठीक साढ़े बारह बजे चल दिया जाय। मगर इन जरा-जरा से कामों में ही इतना अधिक समय लग गया कि साढ़े बारह तो भोजन करते में ही बज गये। उसके बाद थोड़ा विश्राम भी आवश्यक था। सो, जैसे ही गंगा-किनारे के पत्थरों पर लेटे, थकावट के कारण नींद आगई और बेचारे प्रोग्राम का किसी को पता ही न रहा।

जब नींद खुली; देखा, सामने का प्रायः सारा ही दृश्य बदल गया है। बेड़ा जहाँ खड़ा किया गया था, उस स्थान से वह कई गज़ पीछे हटकर खड़ा हुआ है। उसके केन्द्र में, चार-पाँच फीट ऊँचा बाँस गाड़कर उस पर सफेद रेशमी पताका कौन फहरा गया है, पता नहीं। बेड़े के ऊपर जहाँ-तहाँ जंगली फूल बिखरे पड़े हैं, जैसे, जलकन्याओं ने अभी हाल में ही उस पर पुष्प क्रीड़ा की हो। पताका के नीचे बिछे हुए एक साफ अंगोछे पर पकी हुई ताज़ी जामुनों का ढेर लगा है। परन्तु सब से अधिक आश्चर्य उस व्यक्ति पर हो रहा है, जो मानों उस पर अपना एकाधिकार जमाये बहुत ही उद्दंड भाव से हमारी ओर देख रहा है। उसके सुगठित शरीर पर गोपी-

चंदन का लेप, सिर पर जटाजूट, कंठ में रुद्राक्ष-माला, कंधे और छाती पर यज्ञोपवीत की तरह लिपटा हुआ भयंकर साँप, कमर में गज चर्म और दायें हाथ में लम्बा त्रिशूल है—पुराणों में महारुद्र का जैसा वर्णन पढ़ने में आता है, ठीक वैसा ही।

'किरातार्जुनीय' की वह घटना याद हो आई, जब एक वराह के तुच्छ प्रश्न को लेकर हिमालय की एक ऐसी ही घाटी में, एक दिन किरातवेशी शिव ने मध्यम पांडव के साथ ज़बर्दस्ती ही युद्ध ठान लिया था। तुच्छ वराह की जगह इसबार कहीं इस तुच्छ बेड़े को लेकर तो युद्ध नहीं ठनेगा ? सभी आश्चर्य में थे। आँखें मल-मलकर देख रहे थे, कहीं वे सपना तो नहीं देख रहे ?

तभी शिव ने पुकारा—"यात्रियो, हम बहुत प्रसन्न हैं कि अंत में तुम लोग नींद के मोह से मुक्त हुए। इसे तुम लोग अपना अहोभाग्य ही समझो, जो सोकर उठते ही तुम्हें शिव के दर्शन हुए। यह तुम्हारा और भी बड़ा सौभाग्य है, जो आज तुम लोग उनके हाथ का दिया हुआ वन्य प्रसाद पा सकने के अधिकारी भी बने हो। यदि जरा ही गर्दन घुमाकर देखोगे, प्रसाद तुम्हें अपने सिरहाने के पास ही रखा हुआ मिलेगा। उठो; और···"

अभी वह कुछ और कहने जा ही रहा था कि हठात् फुंकारकर साँप उसके कन्धे पर से उतरकर बेड़े पर कूद पड़ा और बड़े ही भीषण वेग से इधर-उधर चक्कर काटने लगा। उसके पकड़ने की गड़बड़ी में शिव के सिर पर से जटाजूट नीचे गिर पड़ा। मूँछें शायद बनावटी ही थीं, वे भी गिर गईं और सभी ने आश्चर्य से देखा, साँप को पकड़ने के लिए जो उसके आगे-पीछे दौड़ता फिर रहा है श्याम के अतिरिक्त वह और कोई नहीं है।

दौड़कर सभी हँसते हुए एक साथ बेड़े पर जा चढ़े और पकड़-पकड़ाकर साँप को नीचे ले आये। साँप अजगर जाति का था, जिससे डरने की विशेष बात नहीं थी। न वह डसता है, न उसमें विष होता है। तो भी यह तो सभी को मानना पड़ा कि साधनों का अभाव रहते हुए भी श्याम ने शिव का वेश भरने में जो सफलता प्राप्त की वह प्रशंसनीय थी। उसे पहलीबार देखकर तो सभी के मन में एक प्रकार का धुंधला-सा सन्देह उत्पन्न हो गया था कि आज शायद् सचमुच ही उन्हें कैलाशवासी शिव ने दर्शन दिये हैं।

हम लोग जब सो रहे थे, इस अभिनय का सूत्रपात तभी हुआ था। जंगल में से जामुनों का थैला भरकर श्याम जब लौट रहा था, एक झाड़ी में लिपटा हुआ यह साँप उसे तभी मिला था और उसे पकड़ लेने पर ही उसके मन में यह वेश भरने की बात उत्पन्न हुई थी। तुरन्त साँप को दो भारी पत्थरों के नीचे सुरक्षित दबाकर वह सीधा गंगा-किनारे जा पहुँचा था और वहाँ एक छोटे-से गढ़े में मैला गंगाजल

इकट्ठा कर, उसमें बहुत-सी जामुनें मसलकर उसने काले-मटमैले-से रंग का एक ऐसा गाढ़ा घोल तय्यार कर डाला था, जिसमें रंगे गये तौलिये ने ही आगे जाकर गजचर्म का पार्ट प्ले किया। रुद्राक्षों की तो कमी होनी ही क्या थी; ढेर-के-ढेर गंगा में बहे आ रहे थे; तारों में पिरोकर जल्दी ही उनकी मालायें बनाली गईं। रह गया जटा-जूट; सो, जंगल के एक पुराने वटवृक्ष ने उसे भी पूरा कर दिया। उसकी कोमल दाढ़ियों को चीथकर उन्हें उसी गंगाजमनी के परिपूर्ण घोल में रंग लेने से जटाजूट तय्यार कर लेने में भी कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। गोपीचन्दन का काम लिया गया गंगा की चिकनी मिट्टी से; नंगे बदन पर जिसका लेप कर लेने के बाद वह साँप को पत्थरों के नीचे से निकाल सीधा बेड़े पर जा बैठा और हमारे जागने की प्रतीक्षा करने लगा। जैसे ही उसने हम लोगों में जागने के लक्षण पाये वह तुरन्त साँप को कन्धे पर डाल, त्रिशूल हाथ में सँभाल, निश्चल, निष्कम्प, बेड़े पर खड़ा हो गया। मगर साँप पालतू न था; इसलिए दो-एक मिनट से अधिक उसने उसके अभिनय का पात्र बनना स्वीकार न किया और उसको पूर्व सूचना दिये बिना ही सहसा बेड़े पर कूदकर उसने उसके बने-बनाये खेल को बिगाड़ दिया। संभव है—यदि दो भारी पत्थरों के नीचे पूरे एक घंटे तक दबाकर उसे व्यर्थ ही कष्ट न दिया गया होता—वह कुछ और देर तक भी श्याम के अभिनय में सहयोग दे देता। मगर तो भी यह उसकी शराफत ही मानी जानी चाहिए जो उसने अवसर पाकर भी श्याम के गले में लिपटकर उसे वहीं पर समाप्त नहीं कर दिया। वह चाहता तो पत्थर के नीचे दबाये जाने का बदला हाथों-हाथ ले सकता था। मगर जान पड़ता है वह कोई शापभ्रष्ट तपस्वी रहा होगा, जिसने अनेक जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या से एक दिन हिंसा पर पूर्ण विजय प्राप्त की होगी।

× × ×

अन्त में लंगर उठाते ही बेड़ा बह निकला। श्रावण की गंगा उसे लहरों-ही-लहरों पर उड़ा ले चली। मगर गंगा के रंग-ढंग अच्छे नज़र नहीं आ रहे थे। ऐसा जान पड़ रहा था जैसे वह, जैसे भी बने, उसे उजाड़ देने पर ही तुली हुई है। इसका कारण शायद यह रहा हो कि नाव, डोंगी, बजरा और मोटरलाँच भी आज उसकी जिस भयंकरता का लोहा माने बैठे हैं, कहीं का यह तुच्छ बेड़ा उसकी उसी मर्यादा की अवहेलना करने जा रहा है। इसीलिए शायद, वह कभी उसके किनारों पर तरंगाघात करती; कभी प्रबल लहरों के धक्के से उसे उलट देने की चेष्टा करती; कभी उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे उन भयंकर आवर्तों में फंसा देने का प्रयत्न करती जहाँ पहुँचकर उसका शायद अस्तित्व ही लुप्त हो जाता। कभी-कभी वह इतने वेग से झपटती कि उसकी लहरें बढ़िया की तरह उसके ऊपर से निकल जातीं और थोड़ी देर के लिए बेड़ा जलमग्न हो जाता। इसी तरह यात्रा हो रही थी।

ऐसे अवसरों पर समय काटना भी एक समस्या होती है। जहाज़ों और बजरों में तो इसका हल 'सुरा, सुन्दरी, संगीत और स्वादुभोजन' के चार 'सकारों' द्वारा कर दिया जाता है; मगर हमारे इन सुदामा महोदय के साथ इन अमीरी शौकों का वास्ता ही क्या था ? वहाँ तो 'जस दूलह तस बनी बराता'—यात्रियों का अधिकांश समय गप हाँकने, उछल-कूद मचाने, बाँसुरी बजाने, वन्य दृश्यों के देखने या कभी-कभी कुमार के आदेशानुसार—जो श्याम की उसी पताका के पास खड़ा हुआ, आँखों में बाइनोक्युलर लगाये बेड़े का नेतृत्व कर रहा था—बेड़े की दिशा को अनुकूल रखने के लिए चप्पुओं का प्रयोग करते रहने में ही कट रहा था।

मगर तो भी—इस सरल हँसी-खुशी की ओट में जो एक बहुत ही गंभीर भय सबके मनों में छुपा हुआ था, कोई भी एक क्षण के लिए भी उसकी ओर से असावधान न था। मुँह से चाहे कोई कुछ न कहे, मगर मन-ही-मन सभी यह मान रहे थे कि आज की यह गंगा-यात्रा उनके जीवन की शायद एक बड़ी भारी भूल है। एक तो, आज गंगा में बेड़े का उतारना ही भूल थी, दूसरे, आठ व्यक्तियों का उस पर बैठकर अपने बहुमूल्य जीवनों को संशय में डाल देने का अति साहस कर बैठना उससे भी बड़ी भूल थी। बेड़ा जैसे-जैसे आगे बढ़ता जा रहा था विपत्तियों की आशंकायें बढ़ती ही जा रही थीं।

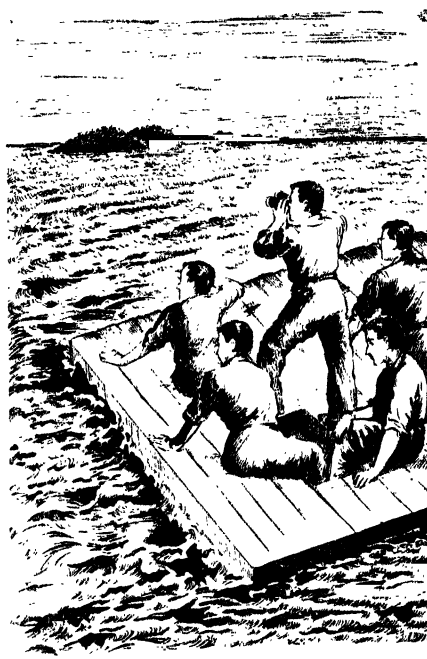
तब भी 'उनके' पादपद्मों में अपने आपको सौंपकर हम एक प्रकार से निश्चिन्त ही थे। उनकी वह चिरकालीन प्रतिज्ञा—अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः—हमें खूब याद थी। इसलिए चिन्ता के गम्भीर कारणों के रहते हुए भी चिन्ता करनी छोड़ दी थी। मृत्युदण्ड-प्राप्त, अर्द्धमृत अभियुक्त की तरह जीवन के इन अंतिम क्षणों को विपत्ति की व्याकुलता में न बिताकर हम उन्हें हँसी-खुशी में ही बिताने का प्रयत्न कर रहे थे। जिस यात्रा का उद्देश्य ही मनोविनोद है उसमें चिन्ता का स्थान भी क्या ?

× × ×

तीन ऊदबिलाव देर से हमारा पीछा कर रहे थे। बेड़े से दस-बारह हाथ दूर रहते हुए वे हमारे साथ-साथ बहते चले आ रहे थे। बहुत देर तक तो हमने उनकी तरफ ध्यान ही नहीं दिया। समझा, यों ही साधारण-सी बात है। परन्तु बाद में, जब उन्होंने किसी भी तरह बेड़े का पिंड न छोड़ा, हमें उनकी तरफ ध्यान देना आवश्यक हो गया। वे क्या चाहते हैं, आख़िर, कुछ पता तो चले।

बेड़े के बीचोंबीच, पताका के नीचे बिछे हुए अंगोछे पर जामुनों का जो ढेर लगा था, हमने ख़याल किया, शायद उसका लोभ ही उन्हें घसीटे ला रहा है। दो-चार जामुनें फेंककर देखते ही ख़याल की सत्यता भी सिद्ध हो गई। जामुनें जैसे ही पानी में

गिरीं वे तुरन्त उधर ही लपके और सधे हुए डुबकीमारों की तरह अगले ही क्षण गंगा में से उन्हें बाहर निकाल लाये और कुतर-कुतरकर खाने लगे। तब तो एक नया खेल हाथ लग गया। एक के बाद एक जामुनें फेंकी जाने लगीं; और जैसे-जैसे उनकी मात्रा बढ़ने लगी, ऊदबिलावों की संख्या भी बढ़ने लगी। देखते-ही-देखते एक दर्जन से भी अधिक इकट्ठे हो गये। फिर तो किधर बेड़ा, कहाँ गंगा की विपत्ति · कुछ पता ही न रहा। हम, ऊदबिलाव और जामुनें—केवल ये तीन ही पदार्थ सत्य रह गये।



कुमार बेड़े पर खड़ा बाइनोक्युलर से दूरवर्ती दृश्यों को देख रहा था। हठात्, उसकी आवाज़ सुनाई दी ·· "सर्वनाश !!" और लपककर उसने एक चप्पू को कुंडल में फाँस लिया। सभी चौंक उठे; क्या मामला है ? एक साथ कौनसी विपत्ति आ पड़ी ? कुमार केवल इतना ही कह रहा था—"जल्दी ही बेड़े को दाईं तरफ घुमाओ" और दोनों हाथों से लगातार चप्पू चला रहा था। उसकी देखादेखी हम भी पिल पड़े। वह जिस तरफ बेड़े की दिशा बदलने का प्रयत्न कर रहा था, उसके अनुकरण में हम भी वैसे ही चप्पू चलाने लगे। मामला क्या है, किसी को भी पता न चला।

मामला चाहे पता न चले, मगर इतना तो पता चल ही गया कि अब चप्पुओं का प्रयोग व्यर्थ है। धारा इतनी प्रबल थी कि उसके विरुद्ध चप्पू तो क्या दूसरी कोई शक्ति भी सफल नहीं हो सकती थी। बहुत प्रयत्न करने पर भी बेड़ा टस-से-मस न हो रहा था। कुमार को जिधर सर्वनाश दिखाई पड़ा था, धारा का प्रबल प्रवाह उसे उधर ही भगाये लिए जा रहा था।

तो भी कुछ तो होना ही चाहिए। समय शायद बहुत कम है; सो, जो भी हो सके जल्दी ही हो जाना चाहिए। उपाय भी कुमार को ही सूझा। चप्पू छोड़ वह लंगरों की तरफ लपका और एक ही साथ दोनों को गंगा में छोड़ दिया। परिणाम भी तुरन्त ही निकला। बहता हुआ बेड़ा एक साथ गंगा में खड़ा हो गया।

आघात का वेग शान्त हो जाने के बाद बेड़े पर खड़े होकर देखा, सचमुच ही

कुमार की सतर्कता और सूझ ने हमें सर्वनाश से बचा दिया था। लगभग सौ हाथ दूर, पहाड़ की चट्टानों में एक विशाल गुफ़ा रामायण की सुरसा की तरह मुँह बाये गंगा की आधी धारा को पेट में निगलती जा रही है। उसके अन्दर घुसने वाली और अन्दर से लौटकर बाहर निकलने वाली धाराओं में द्वन्द्व युद्ध-सा मचा हुआ है। कई हजार मन जल एक साथ उबल रहा है। बीस बीस हाथ ऊँचा उछल रहा है। फेन उगल रहा है। भैरवनाद कर रहा है।

लंगरों की सहायता से यद्यपि बेड़े को उसमें फँसने से बचा लिया गया था; मगर यह बचना कितनी देर का? बेड़े को कब तक इस तरह खड़ा किया जा सकेगा? गंगा की यह बाढ़ अभी कम-से-कम महीना भर तो उतरेगी नहीं। इतने लम्बे समय तक रात की जंगली हवाओं में इस तरह नंगे बदन पडे रहने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। तिस पर पेट का प्रश्न इससे भी बड़ा है। गंगा के मैले जल से प्यास भले ही बुझाई जा सके, मगर इन चार-पाँच सेर जामनों और दो-ढाई सेर सत्तू के सहारे भोजन की समस्या कब तक हल की जा सकती है? आज नहीं तो कल उपवास की शरण लेनी ही पड़ेगी। फिर उसके बाद? माना गंगा में मछलियाँ काफी हैं। इच्छा करने पर जाल डालकर पकड़ी भी जा सकती हैं और फिर गंगा में बहती हुई लकड़ियों को पकड़कर, बेड़े पर आग जला उन्हें भूना भी जा सकता है। मगर मुश्किल तो यह है कि जन्म भर माँस जो नहीं खाया, न खाने का विचार ही है; इसलिए भोजन की समस्या तो बनी ही हुई है। ऊपर से, आकाश में बादल घिरे हैं। कभी भी बरस सकते हैं। भीगना जो होगा, सो तो होगा ही; निमोनियाँ-प्लूरेसी में फँसकर गंगालाभ हो जाय तो भी आश्चर्य नहीं है।

मगर इधर लंगर उठा देने का भी साहस नहीं हो रहा। बेड़े पर पड़े-पड़े तो शायद प्राण बचाने का कोई उपाय कभी निकल भी आय, मगर एकबार उस गुफ़ा में पहुँचकर तो मृत्यु एकदम निश्चित है।

ऊदबिलावों का याद ही न रहा था। किसे पता था इस विपत्ति में भी वे बेड़े का पीछा न छोड़ेंगे। हम जब अपनी ही उधेड़बुन में लगे थे एक ऊदबिलाव न जाने किधर से अचानक बेड़े पर चढ़, अंगोछे का एक सिरा मुख में पकड़, यह जा-वह जा, छपाक से गंगा में कूद पडा। हम जब तक कुछ उपाय करें तीन-चौथाई जामुनें और अंगोछा गायब था। कोई और समय होता तो शायद हँस ही पड़ते। मगर इस समय तो ये जामुनें हमारा बहुत बड़ा सहारा थीं। उनके यों हाथ से निकल जाने से हमें निराशा भी हुई और क्रोध भी। श्याम के हाथ में इस समय यदि कोई ऊदबिलाव पड़ जाता, वह गीले अंगोछे की तरह उसे निचोड़े बिना न छोड़ता। मगर तब भी बची-खुची जामुनों को बटोरकर लिलीपुट के इन जल-दस्युओं से हम भविष्य के लिए

सावधान हो गये।

क्रमशः साँझ हो गई और उसके थोड़ी ही देर बाद भयजनक सन्नाटे को साथ लिए रात्रि का सघन अन्धकार शिवालक-घाटियों पर छा गया। बारह बजे का अन्तिम शो समाप्त हो जाने के बाद वाद्य संगीत बन्द होकर निर्जन सिनेमा-भवन में जिस तरह सन्नाटा छा जाता है, समस्त वन-पर्वत-घाटियाँ दूर तक एक साथ नीरव-निश्शब्द हो गईं। पक्षियों के संगीत, उनकी चहल-पहल, वनेचरों की आनन्द-क्रीड़ायें और उनके यातायात सहसा बन्द हो गये। एक भी शब्द नहीं सुन पड़ रहा। केवल उस गुफ़ा के द्वार पर निरन्तर गरजता हुआ प्रलय का-सा वह घर-घर महानाद ही आकाश-पाताल में व्याप्त होने लगा। सत्तू के आहार से सायंकालीन भोजन का नाटक खेलकर हम लोग जब नीरव भाव से बेड़े पर लेट गये, रात्रि के उस सघन अन्धकार में वह महानाद ऐसा जान पड़ने लगा जैसे हमारे कहीं बहुत पास ही यमराज की किसी अज्ञात पुरी में से मरणोन्मुख प्राणियों के महाप्रयाण की सूचना देने वाले अनेक संख्यक पौंड्र महाशंख एकसाथ बज रहे हैं, जो मानों हमारे कानों में गूँजकर कह रहे हैं—'तुम भी तय्यार हो जाओ, जी; तुम्हारा भी समय आ पहुँचा।' दूर··· गंगा-तटवर्ती वन भागों में टिमटिमाते हुए जुगनू ऐसे लग रहे हैं जैसे यमलोक की कितनी ही अदृश्य प्रेतात्मायें अपने छोटे-छोटे प्रदीप उठाये, इन मरणासन्न जीवात्माओं को खोजती फिर रही हैं।

चिन्ता के कारण एक तो वैसे ही नींद नहीं आ रही थी, यदि कभी अचानक आँख लग भी जाती तो गंगा की कोई प्रबल लहर समूचे बेड़े को आमूल-चूल हिलाकर हमें जगा जाती। कभी-कभी कहीं का कोई अभागा सूखा लक्कड़ बहता हुआ बेड़े के साथ आकर जोर से टकरा जाता और बेड़े के भग्न हो जाने की आशंका उपस्थित कर देता। अँधेरे में ही सब लोग मिलकर जब उसे गंगा में बहा देते तब कहीं चैन पड़ती। तब शायद एक बजा होगा। सहसा आनन्द की कराह सुनकर सभी घबरा गये। उसे किसी कीड़े ने काट लिया था और उसी की पीड़ा से वह कराह रहा था। टार्च जलाकर जो देखा तो सैकड़ों छोटे-छोटे कीड़ों से बेड़े का वह भाग भरा हुआ है। तरह-तरह के विचित्र रूप-रंग के कीड़े, जिन्हें आज तक कभी देखा भी न था, बेड़े पर दखल जमाये मजे में घूमते फिर रहे हैं। ये सम्भवतः उन्हीं मोटे लक्कड़ महाराज की कृपा है, जो स्वयं तो धकेले जाकर आगे बह गये, मगर अपना यह अनन्त अभिशाप हमारे पल्ले बाँध गये। पीड़ा बढ़ रही थी, इससे इतना तो स्पष्ट था कि जिसने काटा था वह और चाहे कोई भी रहा हो मगर साँप नहीं था। इन नवागन्तुक कीड़ों का ही कोई भाई-बन्धु था। मेडीसन पेटी साथ में रहने से आनन्द की व्यवस्था तो तुरन्त की ही गई; उन कीड़ों की व्यवस्था में भी विलम्ब नहीं किया गया। चुन-चुनकर छोटे-मोटे सभी

कीड़ों को गंगा में विर्सजित कर दिया गया।

सत्तू तो समाप्त हो चुका था। केवल सेरभर जामुनें बच रही थीं। उन्हें कहीं ऊदबिलाव न उड़ा ले जायँ; पंचतन्त्र के वीणाकर्ण परिव्राजक की तरह एक पोटली में बाँधकर उन्हें बहुत ही यत्न से पताका की नागदन्तिका में लटका दिया गया था। वैसे देखा जाय तो इस अँधेरे में ऊदबिलावों का इतना डर न था जितना जंगली हाथियों का। कारण, हमें पता था इन पावस के दिनों में वे लोग जंगल के भीतरी भागों में से निकलकर गंगा के उन रमणीय तटों पर आकर रहने लगते हैं—ठीक वैसे ही जैसे सरकारी दफ़्तर गर्मियों में पहाड़ों पर बदल जाते हैं। वे लोग कभी-कभी मौज में आकर तैरने का आनन्द लेने के लिए गंगा में भी उतर पड़ा करते हैं। ऐसे में यदि किसी बिगड़ैल का ध्यान इधर पड़ गया तो संसार के समस्त दुःखों से हमारा एकसाथ मुक्ति-लाभ कराने में वह एक क्षण की भी देर न करेगा, हम यह अच्छी तरह जानते थे। इसीलिए पहरा बहुत कड़ा कर दिया गया था। किसी प्रकार का हलका-सा, धीमा-सा शब्द सुन पड़ने पर भी तुरन्त टार्च जलाकर उसका कारण जान लेने में ज़रा-सा भी प्रमाद न किया जाता था।

इसी तरह प्रभात हो गया। कल के अर्द्ध उपवास के कारण यद्यपि शरीर में हलकी-सी शिथिलता आ गई थी मगर उत्साह में शिथिलता न आई थी। इसीलिए प्राभातिक सन्ध्यावन्दन से निवृत्त होने के पश्चात्, कल की बची हुई जामनों से भूख को धोखा देखा देने की क्रिया समाप्त कर जब कुछ देर तक मौन विश्राम किया जा चुका; दिन का शेष भाग कविता, संगीत और हास्य सम्मेलनों के सहारे इस तरह बीत गया कि किसी को यह भी पता न रहा कि वे किस विपत्ति में फँसे हुए हैं।

मगर रात होते ही विपत्ति ने सहसा दर्शन दिये। उमड़-घुमड़कर मेघ घिर आये। ठण्डी हवायें बह उठीं। बिजली कड़कने लगी। आकाश फट जाने की तय्यारी करने लगा और थोड़ी ही देर बाद मूसलाधार वर्षा ने आकाश-पाताल एक कर दिया। दस-पन्द्रह मिनट तक तो वर्षा बुरी नहीं लगी। मगर बाद में वह एक साथ असह्य हो उठी। ठण्डी हवाओं ने ठण्डी बूँदों को इतना ठण्डा बना दिया कि वे सुई की तरह नंगे बदन में चुभने लगीं। कँपकँपी चढ़ आई। दाँत किटकिटाने लगे। बचने का और कोई उपाय न देख जिसे जहाँ स्थान मिला बेड़े से चिपटकर पड़ गया। मगर इससे सरदी का भला क्या इलाज होना था। जैसे-जैसे वर्षा का वेग बढ़ता गया सरदी भी बढ़ती गई। और किसी की चिन्ता तो नहीं थी मगर आनन्द की तरफ से निश्चिन्तता नहीं मिल रही थी। कीड़ा-काटने की पीड़ा तो उसकी कल रात ही मिट गई थी मगर उसके बाद उसे जो ज्वर हो आया था वह अब तक भी नहीं उतरा था। उसके ऊपर यह वर्षा! चिन्ता की बात तो थी ही। मगर

उपाय नहीं था। शेखर बीच-बीच में जब उसकी नाड़ी-परीक्षा करने लगता, वह कांपते हुए स्वर में कह उठता—"घबराओ मत। सिद्धस्रोत वाले बाबा का ज्वर-वशीकरण-मन्त्र जप रहा हूँ। जैसे ही उसके दो हजार जाप पूरे हुए कि ज्वरासुर भागता हुआ नजर आयगा। चिन्ता की बात नहीं है।"

आनन्द की ही बात ठीक निकली। उसके दो हजार जाप कब पूरे हुए, या पूरे हुए भी कि नहीं, यह तो पता नहीं; मगर प्रभात होने पर देखा गया कि उसका ज्वर उतर चुका है। वर्षा भी थम चुकी थी और आकाश साफ होकर बाल सूर्य की किरणें वृक्षों की फुनगियों पर नाच रही थीं। मानव-स्वभाव; रात का दुःख भूल एकबार फिर दिन को प्रसन्नता से बिताने के प्रोग्राम बनाये जाने लगे। भोजन के नाम पर तो आज धोखा देने के लिए भी कुछ नहीं था। इसलिए उधर से तो एक तरह से निश्चिन्त ही थे। तो भी संगीत और हास्य विनोद का प्रोग्राम बनाने का हमारा अधिकार कौन छीन सकता था ? सो, कल की तरह उसे आज फिर बनाया गया। मगर आज, कल जैसा रंग नहीं जमा। भूख की शिथिलता विशेष रूप से प्रतीत हो रही थी। यहाँ तक कि बातचीत करने और उठने-बैठने में भी कठिनता अनुभव की जा रही थी। ऐसे में बाइनोक्युलर ही एक ऐसा साधन लगा जिसने समय काटने में थोड़ी-बहुत सहायता दी। उसकी सहायता से वन-पर्वतों के दृश्य देखने का प्रोग्राम काफी मनोरंजक रहा। कितने ही नाचते हुए मोर, कितने ही भागते हुए मृग, जोहड़ों में लोटते हुए कितने ही वराह और इसी तरह के दूसरे कितने ही दृश्य देखने में आये। मगर उन में से एक गीदड़ का दृश्य सबसे अधिक आकर्षक रहा। एक झाड़ी के नीचे वह चुपचाप अकेला सो रहा था। कितनी निश्चिन्त रही होगी उसकी वह निद्रा ! संसार के कितने मनुष्य वैसी नींद पा सके होंगे ! हमें ऐसा लगा जैसे समस्त त्रिभुवन में वैसा निश्चिन्त और सुखी प्राणी दूसरा नहीं है। उसके मुख पर बैठकर जब कभी मक्खियाँ उसकी निद्रा में व्याघात पहुँचाती थीं, उन्हें हटाने के लिए वह आँखें मींचे हुए ही, मुख खोलकर, सिर हिलाकर, एक विशेष प्रकार की चेष्टा करता था और फिर शायद यह सोचकर कि, उसने अपना कर्त्तव्य पूर्ण कर दिया है और मक्खियाँ अब उसे परेशान न करेंगी वह बहुत ही संतुष्ट भाव से फिर उसी तरह गाढ़ निद्रा में सो जाता था। तब उसके ओठों और मुख पर झलकती हुई वह आत्मसंतोष की भावना देखने ही योग्य होती थी। दृश्य इतना भावपूर्ण था कि सभी ने उसे कई बार देखा।

कुमार शायद किसी ऐसे ही सुयोग की प्रतीक्षा में था। बोला—"ठीक ऐसी ही दशा इस बेड़े की भी है। परसों से लंगर डालकर यह बेचारा जो एकबार सोया है तो आज तक भी जागने का नाम नहीं ले रहा। गंगा की लहरें उसे धक्के दे-देकर जगा

रही हैं, लंगर उठाकर आगे बढ़ चलने का प्रोत्साहन दे रही हैं, मगर उसकी कायरता की नींद इतनी प्रगाढ़ हो चुकी है कि उस सोये हुए गीदड़ की तरह वह भी किसी तरह जागने का नाम नहीं ले रहा।"

शेखर ने कहा—"मगर जागने का यह दुस्साहस कहीं सभी को एक ही साथ न ले डूबे, यह भी तो एकबार सोच लेना होगा। गंगा की जैसी हालत है वह तो देख रहे हो, न ?"

कुमार ने उत्तर दिया—"खूब देख रहा हूँ। बल्कि, यह भी देख रहा हूँ कि जागने का दुस्साहस यदि सभी को एक साथ ले डूबे तो आश्चर्य नहीं है। मगर यहाँ पड़े रहने से भी तो प्राण-रक्षा की आशा नहीं दीख पड़ रही। इस तरह घुल-घुलकर प्राण देने की अपेक्षा तो उस गुफ़ा में जाकर एकदम मर जाना कहीं अच्छा है।"

पिछली बात का सभी पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। प्रतिक्षण बढ़ती हुई शारीरिक क्षीणता का अंतिम परिणाम शीघ्र ही क्या होगा, सभी को स्पष्ट दीख रहा था। तिस पर, उस छोटे से बेड़े पर पड़े-पड़े सभी उकता गये थे। दिन पहाड़-से लग रहे थे। काटे नहीं कटते थे। रात की भयंकर वर्षा और कठोर सर्दी भी किसी को भूली न थी। ऐसी ही सब बातों ने मिलकर एक ही क्षण में वातावरण कुछ ऐसा तय्यार कर दिया कि सभी ने भविष्य की परवाह न कर तत्काल लंगर उठा देना ही उचित समझा।

कुमार ने खड़े होकर सभी का क्रमशः मत लिया और जब सभी को सहमत पाया, लंगर उठा देने की तय्यारी की जाने लगी। बहुत ही धीरे-धीरे बाईं तरफ का लंगर उठा देने के पश्चात्, जैसे ही दायाँ लंगर उठाया गया कि पिंजरे से छूटे हुए पंछी की तरह बेड़ा एक ही साथ भाग निकला। गुफ़ा थी ही कितनी दूर; तिस पर धारा का वेग अत्यन्त तीव्र था। अगले ही क्षण वह गुफ़ा के द्वार पर जा पहुँचा। एकसाथ आठ प्राणियों की बलि लेने के आनन्द में सहस्रों लहरें वहाँ भूखे भेड़ियों की तरह पहले से ही तय्यार खड़ी थीं। जैसे ही बेड़े ने उनके सामने आत्म-समर्पण किया वे एक साथ उस पर टूट पड़ीं और अगले ही क्षण उसे लेकर पाताल में समा गईं।

हमें नहीं पता, आगे क्या हुआ। मगर जान पड़ता है गुफ़ा का द्वार छोटा था और बेड़े का आकार बड़ा, अतः वह उसे निगल न सकी। उससे बीस-पच्चीस हाथ दूर अजगर साँप की कुँडली की तरह सत्तर-अस्सी वर्ग गज़ के घेरे में चक्कर खाती हुई एक भंवर उबाल ले रही थी। एक प्रबल तरंग आई और उसने समूचे बेड़े को गेंद की तरह उछालकर उसमें पटक दिया। भंवर में गिरते ही इक्कीस फीट की ऊँचाई नाप वह स्तंभ की तरह सीधा खड़ा हो गया और घूमती हुई चकरी की तरह वेग से चक्कर खाने लगा।

हम लोगों की तब क्या दशा थी, स्वयं हमें ही कुछ पता न चल रहा था। जीवित हैं, या मृत; इस लोक में हैं, या परलोक में; कुछ भी स्पष्ट न था। हाँ, श्वास-प्रश्वास की गति के कारण यह अनुभव तो अवश्य हो रहा था कि हम चाहे कहीं भी क्यों न रहे हों. जीवन के चिह्न हम में अब भी मौजूद हैं। हम अब भी जो आत्म-रक्षा में जुटे हुए थे वह किसी बुद्धि-चेष्टा के कारण नहीं, केवल शरीर-स्नायुओं की स्वाभाविक प्रक्रिया के कारण।

बेड़ा जब चकरी की तरह भंवर में घूम रहा था हम तब उसकी रस्सियाँ पकड़े चुपचाप उससे चिपटे पड़े थे। कौन गया, कौन रहा; यह हिसाब सँभालने की न तो हमारे पास शक्ति थी, न अवसर ही। बेड़े ने अभी शायद बीस-पच्चीस चक्कर ही खाये होंगे कि एक तरंग फिर उठी और उसने उसे यहाँ से भी उठाकर फेंक दिया। पानी के पृष्ठ से कई हाथ ऊपर उछलता हुआ वह सामने की धार में जाकर गिरा और पीठ के बल चित्त लेट मज़े में तैरने लगा। हम उसके ऊपर थे। इसे भाग्य का ज़ोर ही समझना चाहिए कि गिरते समय वह सीधा ही गिरा। इसका कारण शायद यह भी रहा हो कि आठ व्यक्तियों का दबाव उसे उधर ही झुकाये हुए था। परन्तु इतना तो स्पष्ट था कि यदि कहीं वह जरा भी उल्टा—पीठ के बल—गिरा होता, उसके नीचे दबकर आठ आदमियों को जीवित ही जल-समाधिस्थ हो जाना पड़ता।

विपत्ति शायद टल गई थी। परन्तु तो भी कुछ देर तक किसी के मुख से कोई बात नहीं निकली। बाद में जब हानि-लाभ का हिसाब सँभाला जाने लगा तो पता चला कि बेड़े के आठों यात्री तो सकुशल हैं परन्तु शेखर का मैडीसन बैग, कुमार का बाइनोक्युलर, तरुण का टार्च, आठ जोड़े शू, छहों चप्पू और चारों मशालें गंगा की भेंट हो गई हैं। इतने सारे अचेतन पदार्थों को खोकर आठ बहुमूल्य प्राणों की रक्षा का सौदा हमें बहुत ही सस्ता जंचा। भाले-कुल्हाड़ियाँ इसलिए बच गईं कि वे शुरू से ही बेड़े की रस्सियों में अटकी हुई थीं। श्याम की पताका को भी विशेष क्षति नहीं पहुँची। हाँ, जामुनों के घोल में रंगा हुआ उसका तौलिया, जिसने उस दिन कृत्तिवास बनने का अभिनय किया था, किसी भी तरह न बचाया जा सका। अन्य वस्तुओं के साथ-साथ वह भी गंगा में समा गया। आशा है, पौष-माघ के दिनों में एकसाथ कितने ही ऊदबिलाव उसे ओढ़कर घोर सर्दी से अपनी रक्षा कर सकेंगे।

× × ×

यहाँ से नया अनुभव मिला। अब जहाँ तक बन पड़ता हम बेड़े को तेज़ धार से बचाकर धीमे पानी में रखने का प्रयत्न करने लगे। शिवालक की चक्करदार, टेढ़ी-मेढ़ी घाटियों से निकलकर बेड़ा अब मैदान में आ चुका था। यहाँ पानी यद्यपि अधिक गहरा था मगर चट्टानों के अभाव के कारण उसमें उछल-कूद और ऊँची तरंगों की

अधिकता नहीं थी। स्वभावतः यहाँ पानी का वेग भी कम था। इससे बेड़े की चाल धीमी तो अवश्य पड़ गई थी मगर सहसा किसी विपत्ति में पड़ जाने की आशंका भी जाती रही थी।

तीसरा पहर बीत चुका था। आकाश में धीरे-धीरे बादल फिर इकट्ठे हो रहे थे। मगर बीच-बीच में सूर्य भी चमक उठता था। प्रशान्त, गंभीर, निस्तरंग पानी पर तैरता हुआ बेड़ा मन्द अतिमन्द चाल से बहा जा रहा था।

सामने, गंगा के बीच में एक छोटा-सा रेतीला द्वीप दूर से दीख पड़ रहा था। कुछ झाड़ियों के अतिरिक्त उसमें जीवित प्राणी का कोई भी चिह्न न था। केवल एक भूरा-सा धुँधला-सा शहतीर पुलिन की रेता पर ऐसे लम्बा पड़ा था जैसे कोई अजगर साँप नदी-किनारे लोट रहा हो। कौतूहलवश हमने बेड़े को उधर ही बढ़ा दिया। द्वीप से हम अभी दो सौ हाथ दूर रहे होंगे कि धुँधला शहतीर हिला और धीरे-धीरे पानी में उतर गया।

"मगरमच्छ !!" सभी एकसाथ चिल्ला उठे। मगर वह वास्तव में ही मगरमच्छ था यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता था। बाइनोक्युलर रहा होता तो इसका निर्णय सहज में ही हो जाता। तो भी उसके पानी में उतरने के ढंग से उसके मगरमच्छ होने की ही अधिक संभावना थी। हो तो वह अजगर भी सकता था; कारण, इधर के द्वीपों में इस तरह के मोटे अजगर अनेक बार देखे गये हैं, मगर अजगर इस तरह पानी में कभी नहीं उतरता। स्थलचर होने से वह झाड़ियों में ही छुपा करता है।

यह सच है कि साधारणतया मगरमच्छ मनुष्य पर आक्रमण नहीं किया करता; भय खाता है। परन्तु यदि कदाचित् वह नर-भक्षी हो और कई दिन का भूखा हो तो शिकार पर झपटने में वह कभी आगा-पीछा नहीं किया करता। कभी धोखा देकर—कभी स्पष्ट ही आक्रमण कर बैठता है।

यदि नाव या डोंगी रही होती कोई चिन्ता ही नहीं थी। मगर बेड़े की दूसरी बात है। चारों तरफ से एकदम खुला और आवरणहीन होने के कारण आक्रमण-कारी के लिए उस पर आक्रमण कर बैठना कठिन नहीं है। पानी से केवल छः-छः इंच ऊँचा रहने से उसका उस पर चढ़ आना भी बहुत सहज है।

आत्मरक्षा के नाम पर हमारे पास इस समय या तो पुराने ढर्रे के थोड़े-से शस्त्र थे या लोहे का वह जाल था जो हमने ऐसे ही अवसरों के लिए विशेष रूप से तय्यार कराया था। सो, जाल तो बहुत पहले से ही बेड़े के चारों तरफ लगा हुआ था, पारिशेष्यात्, हमारे लिए तो अब इतना ही कर्त्तव्य रह गया था कि विपत्ति की तरफ से सावधान रहें और समय पड़ने पर धैर्य को हाथ से न जाने दें।

अभी पन्द्रह मिनट भी न बीते होंगे कि बेड़े से लगभग २० हाथ दूर पानी में एक विशेष प्रकार की हलचल उत्पन्न हुई जैसे कोई भारी पदार्थ नीचे से उठ रहा हो; फिर एक लम्बोतरा-सा मुख बाहर निकला, जिस पर बनी हुई दो हरी-हरी आँखों में बहुत ही क्रूरता भरी हुई थी। अब सन्देह नहीं रहा कि वह मगरमच्छ ही है, अजगर साँप या कोई दूसरा प्राणी नहीं। साथ ही वह नरभक्षक है और भूखा भी; इसमें भी कोई संशय नहीं रहा। थोड़ी देर तक तो वह चुपचाप खड़ा हुआ हमें विचित्र ढंग से घूरता रहा मगर बाद में डुबकी लगाकर अन्तर्धान हो गया। दो-तीन मिनट बाद वह फिर निकला। इसबार उसका केवल मुख ही नहीं, समूचा आधा शरीर पानी के बाहर था। पहले ही की तरह कुछ देर तक घूरते रहने के बाद वह सहसा



बेड़े के चारों ओर चक्कर काटने लगा। वह इतनी तेजी से घूम रहा था कि रायफल के अतिरिक्त दूसरे किसी भी शस्त्र से उसका शिकार नहीं किया जा सकता था। तरंगों पर तरंगें उठने लगीं और उनके आघात से बेड़ा झोंके खाने लगा। कई बार तो तरंगें इतनी प्रबल हो उठतीं कि समूचा बेड़ा छः-छः इंच पानी में डूब जाता। यद्यपि यह अवस्था दो ही चार क्षण रहती मगर ये दो-चार क्षण ही अत्यन्त भयंकर होते। जलदस्यु के लिए बेड़े पर—या यों कहना अधिक ठीक होगा कि हम पर—झपटने का यही सब से अच्छा अवसर होता। मगर न जाने उसके मन में इससे भी भयंकर और कौनसी योजना थी जिसे पूरा करने की प्रतीक्षा में वह अभी तक हम पर आक्रमण नहीं कर रहा था।

चार-पाँच मिनट तक इसी तरह चक्कर काटते रहने के बाद वह एकबार फिर पानी में डुबकी लगा गया। मगर अगले ही क्षण वह फिर निकला और उसी तेजी से बेड़े की परिक्रमा करने लगा। इसबार उसकी हरकतों से ऐसा पता चल रहा था कि उसके मन में दूसरी कोई योजना नहीं है और वह जल्दी ही बेड़े पर झपटने की तय्यारी कर रहा है। कारण, वह बेड़े के बहुत ही पास आ गया था। इस समय यदि हम चाहते तो उसे भाले से भी छू सकते थे।

ऐसा ही हुआ; दो-चार चक्कर काटकर वह पनडुब्बी की तरह सीधा बेड़े पर टूटा और देखते-ही-देखते उसके ऊपर चढ़ आया । मौके की बात ! बेड़े के जिस हिस्से पर उसने हमला किया था उधर कुमार के सिवाय दूसरा कोई न था । उसे अकेला पाकर ही शायद उसने आक्रमण किया था । गजभर लम्बी मज़बूत लाठी में लगे हुए पैंने फरसे के अतिरिक्त उस समय उसके हाथ में दूसरा कोई शस्त्र भी न था। उसे अपने ऊपर आते देख उसने उसे ही खेंच लिया और दो कदम पीछे हट पूरे जोर से मगरमच्छ पर हमला किया । मगर सामने का शत्रु इस कला में उससे कहीं अधिक फुर्तीला और चालाक था । गजभर पीछे घूम उसने फरसे की चोट से अपने को साफ बचा लिया और जब तक हम लोग उसकी सहायता को पहुँचें, उसने आगे लपक, कुमार की दोनों टाँगें अपने मुख में पकड़ लीं ।

शिकार को पकड़ मगरमच्छ तुरन्त पानी में घुस जाता है; एक क्षण की भी देर नहीं लगाता । फिर गहरे पानी में पहुँच किसी सुरक्षित स्थान में बैठ बहुत ही निश्चिन्तता से वह उसे निगल लेता है । उसके फन्दे में फँसा हुआ कोई प्राणी उससे बचकर कभी सकुशल घर लौट आया हो, आज तक नहीं सुना गया । उसके पेट में जीवित समाधि लेने के अतिरिक्त उसकी दूसरी गति हो ही नहीं सकती ।

इससे पहले कि वह कुमार को लेकर पानी में अंतर्धान हो एक साथ कितने ही फरसे और कितनी ही कुल्हाड़ियाँ उस पर एक साथ बरस उठीं । मगर आश्चर्य था कि उन्हें चुपचाप सह लेना उसे स्वीकार था लेकिन कुमार को छोड़ देना स्वीकार न था । इससे भी अधिक आश्चर्य इस बात पर था कि वह तुरन्त पानी में डुबकी लगा क्यों नहीं उतर जाता; अपने ऊपर पड़ती हुई मार से बचकर निकल क्यों नहीं भागता ? शिकार तो उसके हाथ में है ही ।

इस आश्चर्य का रहस्य-भेद किया, स्वयं कुमार ने ही । टाँगों से खड़े हो सकने के अभाव में वह बेड़े पर गिर पड़ा था और मगर के फन्दे में फँसे रहने पर भी उसके होश-हवास अभी दुरुस्त थे । घबरा जाने की अपेक्षा एक तरह की निश्चिन्तता ही उसके मुख पर दीख पड़ रही थी । चिल्लाकर एक तरह का आदेश देते हुए उसने कहा—"बस, अब ठीक है । वह पूरी तरह हमारे फन्दे में फँस चुका है । यही समय है, इसे मार डालने का । छोड़ना मत···अरे, निधि ! कहाँ मार रहे हो, उसकी थूथनी पर मारो न,·· थूथनी पर । किसी तरह मुझे तो छुटकारा मिले ।"

कड़ाक ! कड़ाक !! आठ-दस पैनी कुल्हाड़ियाँ उसकी थूथनी पर बजीं और उसके मुख का ऊपरी भाग कटकर दूर जा गिरा । बड़े ही कष्ट से उसके कटे हुए मुख में से अपनी दोनों टाँगों को खेंच वह कराहता हुआ बेड़े पर लेट गया और धीरे-धीरे बोला—"जाल ने इसके चारों पैर बुरी तरह फँसा लिए हैं । वह हिल-डुल तक भी

नहीं सक रहा । जब तक वह मर न जाय उसे छोड़ना मत"—और आँखें मींचकर चुपचाप लेट गया।

× × ×

आधे घंटे बाद लंगर उठाकर बेड़ा जब सफेद ध्वजा फहराता हुआ आगे चल पड़ा, दो प्राणी उस पर बहुत ही पास-पास लेटे हुए थे। एक तो खून से लथपथ मगर-मच्छ; दूसरा कुमार। वह तब भी बेड़े का नायक था; तब भी उसका संचालन कर रहा था। बीच-बीच में—शायद बेहोशी में ही—वह कभी-कभी गा उठता था—

"कर्म-क्षेत्र यह, कर्म किये जा,
साहस का पीयूष पिये जा।
फल की इच्छा कर न बावरे,
वह तो मिल जाता बिन माँगे।
तू बढ़ता जा आगे-आगे।"

८

मल्लयुद्ध

कार्तिक मास के एक तीसरे प्रहर में कोठी के चबूतरे पर बैठा मैं जंगलों में से संगृहीत किये कितने ही वानस्पतिक पत्तों का 'एलबम' तय्यार कर रहा था। वन में तीसरे पहर का मोर बोल चुका था और उसकी केका सुनकर वनवासी पशु-पक्षी अपने विश्राम-स्थानों को त्याग सायंकालीन भोजन की व्यवस्था के लिए निकल चुके थे। शम्भू रसोइये को छोड़ आजकल कोठी पर और कोई नहीं है। 'संघ'-सदस्यों में से जिन-जिन के आने की बात है, वे अगले महीने से पहले नहीं आ रहे हैं। इसलिए आजकल अवकाश-ही-अवकाश है। प्रातः गंगा-स्नान, मध्याह्न में भोजन-विश्राम और अवशिष्ट समय अध्ययन या वन्य संस्मरणों के लेखन इत्यादि में बीत रहा है।

अचानक कुछ दूर से आते हुए किसी के आह्वान ने मुझे सतर्क कर दिया। देखा, अटेची केस के धक्के से आम्रोद्यान के जीर्णद्वार को धकेलकर खोलता हुआ, बहुत ही उत्तेजित दशा में, जो मेरी ओर भागा चला आ रहा है - वह और कोई नहीं, संघ का अभिन्न सदस्य विपिन है। सुदूर कानपुर से यह अचानक ही यहाँ कैसे आ पहुँचा? इस तरह बेतहाशा क्यों भागा चला आ रहा है? क्या जाने क्या मामला हो;—सोचकर मैंने कुल्हाड़ी संभाल ली, टार्च उठा लिया; और—"क्या है? क्या बात है रे, विपिन? तू यहाँ अचानक कैसे? भलेमानस, एक पत्र तो डाल दिया होता, कब आया कानपुर से?"—कहता हुआ उसकी तरफ बढ़ चला।

"अभी चला ही आ रहा हूँ। परन्तु ये सब बातें अभी नहीं। अभी तो पैर बढ़ाते मेरे पीछे-पीछे चले आओ"—कहकर वह जिस तरह आया था वैसे ही उलटे पाँव पीछे लौट पड़ा और आम्रोद्यान से निकल जंगल की ओर भाग निकला। "शम्भू! यह संभाल लेना। इसमें बहुत से रुपये हैं?"—कहकर अटेची केस उद्यान में ही पटकता गया।

"मगर, कुछ पता तो चले, मामला क्या है?"—उसके पीछे-ही-पीछे भागते हुए मैंने पूछा।

"नहीं, अभी नहीं बताऊँगा। मजा किरकिरा हो जायगा। बस, चलते आओ।"

मन हलका हुआ। समाचार चाहे कुछ भी हो, है आनन्द का ही। यह जानकर हृदय में जो आशंका उठी थी वह शान्त हो गई। तब तक विपिन स्वयं ही बोल उठा—"स्टेशन से उतर, तीनों धारायें लाँघ मैं जैसे ही वेणुवन में पहुँचा कि हठात्

वहाँ एक ऐसा दृश्य देखा, शायद वर्षों से तुम जिसकी प्रतीक्षा में थे। सोचा, ऐसा सुअवसर हाथ से न जाने देना चाहिए। बहुत ही तेज़ भागता हुआ तुम्हारे पास पहुँचा और तुम्हें खबर दी। अच्छा ही हुआ, तुम कोठी पर मिल गये।"

"मानता हूँ, मैं कोठी पर ही मिल गया। परन्तु वास्तविक समाचार तो तुमने अब तक भी नहीं सुनाया, विपिन!"—कहकर मैं हँसने लगा।

"अरे, वह तो अभी पता चल जायगा।"

वेणुवन आ गया। घुसते ही वह एकाएक ठहर गया और ओठों पर अँगुली रखने के इंगित से मुझे चुप रहने का संकेत करता हुआ, बहुत ही दबेपाँव एक झुरमुट की तरफ बढ़ने लगा। वैसे ही सावधान रहते हुए मैंने भी उसका अनुगमन किया। पाँच ही हाथ बढ़े होंगे कि हम दोनों की चार आँखों ने एक ऐसा दृश्य देखा जो अश्रुतपूर्व न होते हुए भी अदृष्टपूर्व अवश्य था। एक छोटे से पलाश-वृक्ष के तने पर लिपटा हुआ, गज़भर गर्दन आगे बढ़ाकर किसी अभागे की घात में तन्मय बैठा हुआ, धूसर वर्ण का महाकाय, महाभीषण अजगर साँप, आँखों के सामने दीख पड़ रहा है। रह-रहकर उसके दोनों नेत्र चमक जाते हैं और दोनों जिह्वायें इस तरह लपलपा रही हैं, जैसे वह बहुत ही भूखा हो।

सन्ध्या उतर आई है। निकटवर्ती वन भागों में सर्वत्र सन्नाटा छा रहा है। कभी-कभी किसी दूरवर्ती वन-पखेरू की सायंकालीन ध्वनि, न जाने कहाँ-कहाँ से चक्कर काटती हुई कानों में आ लगती है; परन्तु उससे इस वन की गंभीरता और भी बढ़ रही है।

सोचने लगा—यमराज की भाग्य-पुस्तक में आज यहाँ किस अभागे की मृत्यु लिखी हुई है? इस महाप्राणी की उदर-दरी में आज कौन चिरसमाधि लेने जा रहा है?

अकस्मात् हमारे ठीक पीछे से आते हुए चीं-चपड़, कूँ···कूँ···और उछल-कूद के शब्दों ने उस एकान्त स्थान के सन्नाटे को सहसा भंग कर दिया। देखा, सौ-एक हाथ दूर वानरों का एक छोटा-सा यूथ मचलता-खेलता चला आ रहा है। मगर, उसका यूथपति। वह कहाँ है?

लो, वह रहा। वह सामने—एक कच्चे बेलफल को खाने के बाद वृक्ष से उतरकर यूथ के आगे मस्त चाल से चला आ रहा है। न इसे दुनियाँ की कोई चिन्ता है, न फिक्र। एकदम निश्चिन्त है।

कौन कहता है, उसे अपने उत्तरदायित्व का बोध नहीं? उसे खूब पता है, वह यूथपति है। इसीलिए तो बीच-बीच में ठहरकर, पीछे गरदन घुमाकर, अपनी अनुगत सेना को देख लेता है। सब आ तो रहे हैं, न। कोई आज्ञा-भंग या

उपद्रव तो नहीं कर रहा ?

"अभागे ! बचकर, बचकर !!"—भीतर-ही-भीतर मेरा हृदय पुकारने लगा। परन्तु चींटी से कुंजर तक, सभी के भोजन की जो व्यवस्था करते हैं—उनकी इच्छा क्या है, कौन जानता है ? यूथपति हमारी ही तरफ चला आ रहा है। अर्थात् पलाश वृक्ष के नीचे से जो पगडंडी गई है—उसी पर; ठीक अजगर के मुख में !!

हठात् एक बिजली-सी तड़पी; क्षणभर के लिए एक धूसर वर्ण का मोटा-सा रस्सा आकाश में फेंका-सा हुआ दीख पड़ा; और देखा, यूथपति अजगर के मृत्युपाश में फँसा हुआ था। पता भी न चला, कब तने की लपेट खोलकर उसने अपने पन्द्रह फीट लम्बे भारी शरीर को आकाश में उछाला और कब उस अभागे को लपेटकर विवश कर दिया।

विपिन ने एक अर्थपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा, परन्तु मैं चुप रहा। कुछ उत्तर नहीं दिया। यूथपति पर आई हुई आकस्मिक विपत्ति ने मेरे हृदय पर इस तरह अधिकार किया हुआ था कि कुछ भी बात करने की मेरी इच्छा नहीं हो रही थी। सोच रहा था, जीवन को पुरातन कवि जो 'जल लोल बिन्दु चपल' से उपमा दे गये हैं, वह कितनी सत्य है। बिना किसी तरह की पूर्व सूचना दिये मृत्यु के दूत किस तरह प्राणियों को अचानक आ दबोचते हैं। अभी एक ही क्षण पूर्व जिसे जीवन के समस्त आनन्द उपलब्ध थे, अगले ही क्षण, वह किस निर्दयतापूर्वक उन सब आनन्दों से वंचित कर दिया गया। हाय रे, क्या इसी सृष्टि को श्रुति ने 'मधुमयी' कहकर पुकारा है ?

"तुम क्या सोच रहे हो, निधि ? बोलते क्यों नहीं ? हमारे रहते एक मांसभोजी का निरपराध शष्पभोजी पर विजयी हो जाना क्या तुम्हारी दृष्टि में शोभाजनक है ?"—विपिन ने पुकारकर कहा।

"मगर जय-पराजय का प्रश्न अब रह ही कहाँ गया है, विपिन। देख लो, न। उधर तो सब समाप्त भी हो चुका।"—कहते हुए मैंने जैसे ही टार्च का बटन दबाया कि कहीं पास ही सूखी घास में एक सरसराहट-सी हुई; और एक काली-सी छाया यूथपति को छोड़कर कहीं अन्तर्धान हो गई ! अजगर भाग गया है।

मगर इससे क्या होता है ? अजगर के भाग जाने से क्या यूथपति के प्राणों की रक्षा की जा सकी ? बिलकुल भी नहीं। उस विकराल दानवीय-पाश ने—सुनते हैं एकदिन जिसने परम बली मध्यम पाण्डव को भी विवश कर दिया था—उस बेचारे दीन शाखामृग के अंजर-पंजर इस तरह तोड़-मोड़ दिये थे कि 'क्वास्य ग्रीवा, क्व चरणौ च, क्व पाणि-शिरसस्तथा'—कुछ भी पता न चल रहा था। विराट् नगर में वल्लभ के हाथों मारे गये सेनापति कीचक की तरह यूथपति का शरीर भी

पहचान सकने की सीमा से पार हो चुका था।

देखकर विपिन की अवस्था ऐसी हो उठी जैसे यह सारी दुर्दशा अजगर ने उसके अपने शरीर के साथ ही की हो। क्रोध में भरा, वह तुरन्त उस पलाश-द्रुम की तरफ बढ़ा, जिधर अजगर भाग गया था। वृक्ष की शाखा-शाखा, पत्ता-पत्ता, टार्च के प्रकाश में छान डाला गया; मगर वह कहीं भी न दीख पड़ा। वृक्ष के आस-पास न झाड़ियाँ थीं, न घास। केवल एक जंगली मैदान-सा था। उसे भी खोज डाला गया; मगर अजगर कहीं भी दिखाई न पड़ा।

'हो न हो, इसी ढाक के घने पत्तों में छिपा बैठा है, वह। इतना विशाल शरीर यों सहज में ग़ायब नहीं हो सकता'—कहकर एकबार फिर लौटकर उसने उसी पलाश-वृक्ष पर प्रकाश फेंका।

धम्म ! एक भारी पदार्थ वृक्ष पर से गिरा और विपिन की टाँगों के बीच में से होता हुआ एक ओर भाग निकला।

"वह है ! वह है !"—विपिन चिल्लाया और अगले ही क्षण अजगर हमारे टार्च की 'शूटिंग' में था। वह जैसे ही लपककर एक दूसरे वृक्ष पर चढ़ने लगा कि हम उसके सिर पर जा पहुँचे। बढ़कर विपिन ने उसकी गरदन दबोच ली और बच्चे की तरह वह हमारा कैदी बन गया।

× × ×

कोठी से पचास हाथ दूर, पाँच फीट ऊँचे दो हाथ चौड़े ईंटों के एक छत-हीन गोल घेरे में अजगर को छोड़ दिया गया। रात के अंधेरे में इससे और अच्छा प्रबन्ध न किया जा सका। सोचा था रात बीत जाने के बाद प्रातःकाल होते ही उसके ठहरने के लिए कोई और दूसरा उत्तम प्रबन्ध कर दिया जायगा। मानो वह हमारा कोई मान्य अतिथि रहा हो।

परन्तु अगले दिन ब्राह्ममुहूर्त में ही पता चल गया कि कोठी की कोई भी चीज न चुराकर मान्य अतिथि महोदय भाग खड़े हुए हैं।

"अवश्य ही ईंटों के घेरे में कहीं पर कोई बड़ा छिद्र है, जिसके रास्ते वह भागा है"—विपिन की सम्मति थी।

परन्तु देखने पर पता चला कि कभी किसी समय में जिन्होंने यह सुदृढ़ घेरा बनवाया था वे बड़े ही दूरदर्शी थे; अजगर भाग सके ऐसा कोई भी छिद्र उन्होंने उसमें नहीं रहने दिया था। आज भी ईंटों का वह घेरा वैसा ही बना है। एक भी सूराख, एक भी छिद्र, उसमें नहीं है।

"तो फिर ?"—विपिन सोचने लगा।

"इसमें इतना सोचने की क्या बात है, विपिन ? तांतिया भील जब भागा

था, तो क्या जेलघर की दीवारें तोड़कर ? अरे भाई, पहरेदारों की आँखों में धूल झोंककर, दीवार फाँदकर ही भाग गया था न वह । यहाँ चूँकि पहरेदार लोग कमरे में बिछे हुए पलंगों पर आनन्दपूर्वक निद्रा का उपभोग कर रहे थे, आँखों में धूल झोंकने की आवश्यकता ही नहीं थी ! केवल दीवार को फाँदना भर शेष था । सो तुम्हारे वे मान्य अतिथि अपने उसी एक कर्त्तव्य को पूर्ण कर रातोंरात भाग खड़े हुए हैं ।"

इससे उत्सुकता और भी बढ़ गई । वह भूखा है—यह तो हम जानते ही थे । इसलिए यहां से भागकर वह कहाँ पहुँचा है, यह समझ लेना भी हमारे लिए कठिन न रहा । अगर कल हम उसके काम में बाधा न डालते तो शायद उस जीवित यूथपति को उदरस्थ कर वह अपनी भूख की समस्या को भी कभी का हल कर चुका होता । परन्तु अब भी समय है । फुर्ती करने से वानर का मृत शरीर अब भी उसके हाथ लग सकता है—इसी आशा को लेकर वह भागा है । परन्तु हमारा विचार उससे भिन्न था । इस वन में गीदड़ों और लकड़बग्घों की कमी नहीं है । अजगर के पहुँचने से बहुत पहले ही वे लोग वानर-शव को खा-पीकर समाप्त कर चुके होंगे; और अब अजगर को एकबार फिर नये सिरे से अपनी भूख मिटाने की व्यवस्था करनी पड़ेगी, नये सिरे से नये शिकार की घात में बैठना पड़ेगा । इसलिए यदि हम एकबार फिर बड़े सवेरे ही उसे खोज निकालें, तो उसकी शिकार-पद्धति को दूसरी बार देखने का अवसर भी हमें मिल सकता है । हमारी उत्सुकता का यही कारण था ।

अभी पूर्व में उषा का प्रथम प्रकाश भी प्रस्फुटित न हुआ था कि हम अजगर की खोज में निकल पड़े । यद्यपि अन्धकार की सत्ता नष्ट हो चुकी थी, प्रकाश का आविर्भाव अभी स्पष्ट रूप से नहीं हुआ था । अभी पक्षी भी नहीं जागे थे । ऐसी प्रशान्त वेला में वन की वह प्रभात-यात्रा हमें बहुत ही मधुर प्रतीत हुई ।

वेणुवन में पहुँचते ही हमें पता चल गया, हमारे अनुमान का एक-एक अक्षर सत्य है । सामने ही, उसी पलाश-द्रुम के तने से लिपटा हुआ, वही अजगर कल की ही तरह—आज फिर—किसी अभागे की घात में परम जागरूक बैठा हुआ है ।

कहा— "अवश्य ही किसी निकटवर्ती शिकार पर इसकी दृष्टि है, विपिन ! देख नहीं रहे हो, इसकी आँखें, रह-रहकर कैसे चमक रही हैं । भूखी जिह्वायें कैसे लपलपा रही हैं !

"यही बात है"—विपिन ने कहा ।—"वह देखो, पलाश-द्रुम के अंधेरे में वह जो एक लम्बा-सा जीवित प्राणी बहुत ही चौकन्ना खड़ा दीख पड़ रहा है, आज उसी पर इसका दावा है ।"

"अरे, यह तो गोह है ।"

"मगर गोह की पूंछ पर इतने बड़े-बड़े कांटे नहीं होते। इसकी पूंछ तो आरे की तरह कांटों से भरी है। बहुत सम्भव है यह गोह न होकर, गोह-जाति का कोई दूसरा ही अदृष्टपूर्व प्राणी हो।"

अभी यह विवेचन समाप्त भी न हुआ था कि देखा—अजगर अपनी उसी बिजली की-सी फुर्ती के साथ तने पर से उछल उस गोह नामक प्राणी पर टूट पड़ा। परन्तु गोह भी शायद तय्यार था। इससे पहले कि अजगर उसे लपेटकर विवश करे, उसने एक अनोखा पैंतरा काट इस शीघ्रता से महासर्प पर अपनी काँटेदार पूंछ से आक्रमण किया कि वह तिलमिलाकर गोह को छोड़ दूर जा खड़ा हुआ; और पृथ्वी से दो फुट ऊँची गरदन उठाये, आश्चर्य, अपमान और क्रोधभरे नेत्रों से अपने इस अनोखे शत्रु की ओर घूरने लगा; मानो पूछ रहा था—इससे पहले आज तक कोई भी मेरी शक्ति का अपमान नहीं कर सका है। सच बता, तू कौन है? इधर जंगल के किस भाग में तेरा निवास है?

मगर गोह निर्विकार खड़ा था। मंजे हुए खिलाड़ी की तरह वह अब भी स्थिर, चुस्त और स्थितप्रज्ञ-सा खड़ा हुआ बड़ी ही उपेक्षा से अपने शक्तिशाली शत्रु के दूसरे आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहा था। मानो, कह रहा था—तूने शायद मुझे भी यूथपति वानर समझ लिया होगा। परन्तु यह तेरा भ्रम है, रे! ज़रा आगे तो बढ़; कर आक्रमण; और देख कि मैं कौन हूँ?

अजगर भी शायद उसकी इस गर्वोक्ति को समझ रहा था, और उस पर दूसरा आक्रमण करने में हिचक रहा था। वह तो शायद यहाँ तक भी सहमत जान पड़ रहा था कि यदि गोह मैदान छोड़कर उसके सामने से भाग जाना चाहे तो वह उसे भाग जाने देगा; गोह के लिए भी यह अच्छा सुयोग था। भला, क्या रखा है इस चुनौती में, इस वीरत्व प्रदर्शन में और इस लड़ाई-झगड़े में? शान्ति, प्रेम और सद्भावना में ही तो संसार का कल्याण निहित है। तब शत्रु के सामने से हटकर, अपने प्राणों की रक्षा कर लेना ही उसके लिए क्या सर्वोत्तम उपाय नहीं है?

परन्तु जैसे-जैसे क्षण बीतने लगे, समस्या विकट होने लगी। न तो अजगर ही मैदान से हट रहा था; न गोह ही। जान पड़ता था, दोनों ही अपनी-अपनी आन पर डटे हैं। वन्य प्राणियों में अजगर का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। स्वयं हाथी भी उसके बल को स्वीकार करता है। आज वही शक्तिशाली अजगर न जाने कहाँ के एक अकिंचन गोह से हार मानकर अपनी चिर स्तूयमान महिमा को धब्बा लग जाने दे; यह असम्भव था;—येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्—वह रणक्षेत्र से नहीं हट सकता। रहा गोह; तृतीय श्रेणी के वनवासियों में उसकी भी प्रतिष्ठा कम नहीं है। उच्चतम दुर्गों के विषम शिखरों पर अकेले चढ़कर अपनी कमर

में पचास-पचास सैनिकों का भार एक साथ संभाल सकने की उसकी शक्ति को कौन नहीं जानता ? महाराष्ट्र-इतिहास में तानाजी की 'यशवन्ती' अमर है। तिस पर इस पहली 'छूट' में उसने अजगर को स्पष्ट नीचा दिखाया भी है। तब वह भी शत्रु के सामने से क्यों भागे ?

शायद, ऐसे ही सब कारण रहे होंगे कि दोनों में से कोई भी पीछे हटने का नाम नहीं ले रहा था; और मेरे इस विश्वास को पुष्ट कर रहे थे कि मल्लयुद्ध की दूसरी 'छूट' अवश्यम्भावी है।

वही हुआ भी। बहुत ही एकाग्रता से मैं उनकी गतिविधियों का निरीक्षण कर रहा था। यहाँ तक कि उनकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चेष्टा भी मेरी आँखों से नहीं बच रही थी। परन्तु जब मेरी इस एकाग्रता की परीक्षा का असली क्षण आया, मैं जान ही न सका, कब दोनों एक दूसरे पर टूट पड़े ? आक्रमण इतना आकस्मिक था कि चकित रह जाने के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई चारा न था। पहल किसने की; कब की; किस प्रकार की;—इन तीन प्रश्नों में से मैं एक का भी उत्तर ठीक से न पा सका। तिस पर मेरा दावा यह है, कि मैं उनकी प्रत्येक, छोटी-से-छोटी चेष्टा को बड़े ध्यान से देख रहा हूँ ! कैसी विडम्बना है !

चिरदिनों से मेरा यह विश्वास रहा है कि इस क्षिप्रकारिता और आकस्मिकता में ही पशु जगत् का वास्तविक बल निहित है। वैसे तो शारीरिक बल में भी पशु अजेय है, परन्तु मानव-जगत् ने उनके इस पाशविक बल को कई बार पराजित किया है; लेकिन क्षिप्रकारिता और आकस्मिकता के क्षेत्र में मानव-संसार की महान्-से-महान् साधना भी उसे पशु-संसार की तुलना में नहीं खड़ा कर सकी है। अपनी इस मूक सन्तान को प्रकृति ने शायद यही सबसे बड़ा वरदान दिया है।

इस सम्बन्ध में मुझे दो आपबीतियाँ स्मरण आ रही हैं। गरमियों के दिन थे। तीर्थयात्रियों से हरिद्वार की धर्मशालायें भर उठी थीं। माँ भी आई हुई थीं। मेरे अतिरिक्त, मेरे दो मित्र भी मेरे साथ थे। जिधर देखो उधर बन्दर-ही-बन्दर। नाक में दम था। उस दिन, जब हम तीनों को भोजन कराकर माँ स्वयं प्रसाद पाने बैठीं, तो इस विचार से कि कहीं बन्दर दुःखी न करें, हम तीनों जने, चारों दिशाओं में मुँह किये, लाठियाँ संभाले, उनके आस-पास पहरे पर बैठ गये। युवावस्था, बुद्धि, क्षिप्रकारिता, लाठी; सभी कुछ हमारे पास था। परन्तु तब भी हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा; जब देखा, न जाने कब, कहाँ से अकस्मात् आकर बन्दर उनकी थाली में से एक परांठा ले भागा है। हमारी ओर देखकर माँ हँस पड़ीं। अभिप्राय यह कि तुम तीन-तीन पहरेदार बैठे हो; पर बन्दर को न रोक सके ?

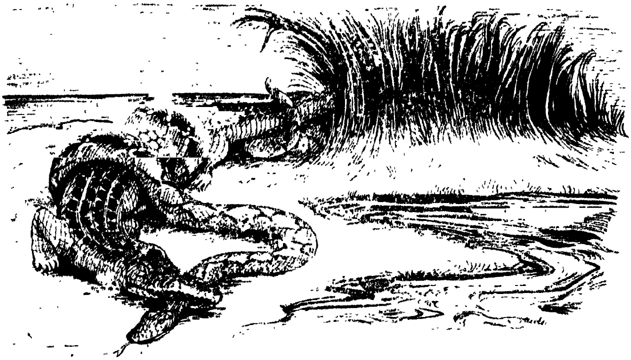
दूसरी घटना भी ऐसी ही है। गंगा की धारायें क्षीण हो चुकी थीं। शरद्

ऋतु के दिन थे। सूनी आनन्दवाटिका के अत्यन्त सघन वन में एक घने वृक्ष की छाया में बैठा, मैं एक दिन—नीलगायों का यूथ कहाँ बैठा क्या कर रहा है—यह जानने के उपाय रच रहा था। हार्दिक इच्छा यह थी कि यदि हो सके एक मातृ-नीलगाय को पकड़कर पाला जाय और देखा जाय कि दिनभर में वह कितना दूध देती है; उसका दूध मनुष्य के लिए उपयोगी हो सकता है कि नहीं ? चारों ओर निस्तब्ध सन्नाटा छा रहा था। वन इतना शान्त था कि पत्ते की एक धीमी-सी खड़-खड़ भी साफ़ सुनी जा सकती थी। हठात्, मुझ से बारह-तेरह हाथ दूर, एक खटुए के वृक्ष की ओट में किसी का लम्बोतरा-सा मुख और उस पर की दो आँखें चमकीं और मैं चौंक उठा। अत्यन्त गुप्त रूप से इस अज्ञात स्थान में छिपकर बैठा मैं जिन लोगों पर जासूसी खेलने का कौशल रच रहा हूँ, उन्हीं का एक अज्ञात नामधेय गुप्तचर न जाने कब से खड़ा हुआ मेरी एक-एक हरकत का चुपचाप निरीक्षण कर रहा है ! जिनके पास ऐसे निपुण जासूस हैं उन्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। सोचने लगा—यह किसी दिवंगत नीलगाय की प्रेतात्मा तो नहीं है जो हवा में उड़कर यहाँ आ पहुँची है ? नहीं तो इन सूखी झाड़ियों और सूखे पत्तों से छाई वनभूमि में से—आहट किये बिना—इधर-उधर आ-जा सकना शरीरधारी के लिए तो संभव हो नहीं सकता। तब भी उस दिन उस नर-नीलगाय ने इसी असंभव को संभव करके दिखाया था।

इस अजगर-गोह युद्ध में भी मैंने पशुओं की इन्हीं विशेषताओं के दर्शन किये। अभी एक ही क्षण पहले जिन्हें एक दूसरे से पृथक् खड़े देख रहा था, उन्हें अगले ही क्षण एक दूसरे के साथ गुत्थम-गुत्था होते, उलट-पलट, हुँकार-फुंकार, धर-पकड़ करते देख, मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सोचने लगा—इन दो क्षणों के मध्य में एक वह क्षण भी तो अवश्य आया होगा जब दोनों एक दूसरे पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़े होंगे, एक दूसरे पर झपटे होंगे। परन्तु उस अभागे क्षण का पता ही न चला कि वह कब आया और कब बीत गया ?

इस संघर्ष में धूल-मिट्टी का जो एक छोटा-सा बादल उन दोनों योद्धाओं के आस-पास उठ गया था, प्रारम्भ में तो उसने यह भी न देखने दिया कि किसका पलड़ा भारी है, किसका हलका ? कौन प्रबल है, कौन निर्बल ? परन्तु बाद में, धूल बैठ जाने के बाद, सब बात बहुत ही स्पष्ट हो गई। इस बार महासर्प की सांघातिक लपेट ने गोह को पूरी तरह विवश बना दिया था। साँप जैसे-ही-जैसे उसके पेट, पीठ और छाती को भींचता जा रहा है, उसकी अवस्था बिगड़ती जा रही है। यहाँ तक कि उसकी वह काँटेदार पूँछ भी—जिसके बल पर उसने पहली छूट जीती थी—इसबार व्यर्थ हो गई है। कह नहीं सकता, अजगर ने उसके कौनसे मर्मस्थल को दबा लिया है कि उसमें हिलने-जुलने की शक्ति भी नहीं रह गई है। क्रमशः अजगर की राक्षसी

लपेट भयंकर होने लगी और उसे सहन न कर सकने के कारण, देखते-ही-देखते गोह का मुख खुल गया, जीभ लटक गई, दाँत निकल आये और आँखें पथरा गईं। कष्ट



से लिए जाने वाले दो-चार अन्तिम श्वास, प्राण निकलते समय की अन्तिम छटपटाहट; अन्तिम हिचकी; और गोह का प्राण-पक्षी उसकी देह को छोड़कर सदा के लिए उड़ गया। हाय रे, कितनी भयंकर मृत्यु थी वह; कितनी वेदनापूर्ण!

न जाने जंगल के किस दूरवर्ती प्रदेश में रहने वाले इस अभागे प्राणी ने इस अपरिचित जंगल में आकर अपने प्राण दे दिये! अपनी प्रेयसी या अपने छोटे शिशु की न जाने कौनसी माँग पूर्ण करने के लिए यह आज प्रभात में ही घर से निकला होगा! और इस समय कितनी उत्सुकता से वे सब इसकी बाट जोह रहे होंगे! परन्तु; कहाँ हो तुम रे,—अभागो! सुनलो; कान खोलकर अच्छी तरह सुन लो; अब तुम्हारा यह प्रियजन तुम्हारे पास कभी न लौटेगा। अब कभी भी तुम उसका स्नेह न पा सकोगे; कभी भी उसके साथ स्नेहालाप न कर सकोगे। इस अपरिचित वनभूमि में वह तुमसे सदा के लिए वियुक्त होकर, एक दिन प्रत्येक व्यक्ति पर आने वाली चिरनिद्रा में सो चुका है। एक भूखे दैत्य का ग्रास बन चुका है।

गोह की मृत्यु का यह अवसाद इतना प्रगाढ़ हो उठा कि मेरा मन एकबारगी ही तिक्त हो गया, और भी कितनी ही बार म्रियमाण पशुओं को छटपटाते देखा है; मेरे लिए यह कोई नई बात नहीं है। परन्तु न जाने क्यों इस अपरिचित गोह की मृत्यु ने मेरे हृदय की समस्त वेदना को इस तरह पुंजीभूत कर दिया था कि मैं वहाँ अधिक देर तक न खड़ा रह सका और चुपचाप कोठी की तरफ चल पड़ा।

"वाह, चले किधर?"—मुझे रोककर विपिन ने धीमे स्वर में मेरे कानों में कहा—"असल बात तो अभी देखी ही नहीं। इतने मोटे शिकार को यह भूखा अजगर निगलता किस तरह है, युद्ध का यही भाग तो सबसे मुख्य है। अन्यथा ऐसी

छोटी-मोटी लड़ाइयाँ तो पहले भी देखी जा चुकी हैं।"

अगत्या रुकना पड़ा। लौटकर मुंह फेरा ही था कि देखा; विजयी अजगर अपने पराजित शत्रु के प्राणहीन, खुले हुए मुख के बहुत ही पास अपनी गरदन बढ़ाये, विशाल मुख फैलाये सचमुच ही उसे निगल जाने की तय्यारी में है।

हिश् !!—और गोह ने साँप को पकड़ लिया। चौंककर मैं और विपिन कितने ही कदम पीछे हट गये। बहुत ही आश्चर्य से देखा, जिसे दिवंगत समझा था, वही गोह एकबार फिर बिजली की तरह चमक उठा है और जैसे छिपकली लपककर झींगुर को पकड़ लेती है, उसने भी अजगर की आगे बढ़ी हुई गरदन को झपटकर मुंह में दबोच लिया है।

यह सब तो पीछे समझ पड़ा कि उसका वह इस तरह साँस रोककर, टाँगें अकड़ाकर, आँखें पथराकर, मुरदा-सा बनकर पड़ जाना—अजगर की गरदन को अपने मुख की पहुँच तक लाने की एक छलपूर्ण चाल मात्र थी; और कुछ नहीं। परन्तु उस समय तो सब से बड़ा आश्चर्य यही हो रहा था कि अजगर सरीखा सधा हुआ शिकारी भी शत्रु की इस सस्ती-सी चाल में किस तरह आ गया ?

मगर इसमें आश्चर्य की शायद बहुत बड़ी बात नहीं है। सोचकर देखा जाय तो ऐसे प्रमाद प्रायः सभी से हो जाते हैं। जिस तरह भूख की व्याकुलता में मनुष्य कईबार जलते दूध में मुँह डालकर, जीभ जला डालने की मूर्खता कर बैठता है, यहाँ अजगर से भी लगभग वैसी ही गलती हो गई थी। एक तो वह कितने ही दिन का भूखा था, तिस पर कल लम्बी प्रतीक्षा और संघर्ष के बाद जो एक शिकार उसके हाथ में आया भी था वह भी उससे बलपूर्वक छीन लिया गया था। कहीं आज भी इस हाथ में आये नये शिकार को कोई पीछे से आकर न छीन ले—इस भय और आशंका में उससे यदि यह गलती हो गई तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु दुःख इसी बात का था कि उसकी यह इतनी-सी भूल ही उसके लिए बड़ी महँगी हो उठी। साँप का सबसे बड़ा मर्मस्थल है, उसकी गरदन। उसके दबोच लिए जाने पर वह कितना असहाय हो उठता है, अनुभवी गोह इस बात से सुपरिचित जान पड़ता था; और तभी उसने इतना लम्बा दाँव खेला था।

विवश हुआ अजगर नाना उपायों से अपनी गरदन छुड़ाने की चेष्टा कर रहा था। मगर गोह इस क्रूरता से उसे दबोचे हुए था कि साँप का कुछ भी वश न चल रहा था। परिणाम यह हुआ कि जिस राक्षसी लपेट में उसने गोह को अब तक प्राण-पण से जकड़ा हुआ था वह एक साथ ढीली पड़ गई और गोह को एकबार फिर, अपनी पूँछ चलाने का सुयोग मिल गया। एक क्षण की भी देर न लगाकर उसने साँप के शरीर पर इस वेग से आठ-दस प्रहार एक साथ कर डाले कि अजगर के

असुरक्षित शरीर में से स्थान-स्थान से रक्त बह निकला। उसकी पीठ और पेट से माँस के लोथड़े लटकने लगे।

अजगर ने समझ लिया, केवल विजय ही हाथ से नहीं जाती रही, जीवन की आशा भी जा चुकी है। तब शत्रु को जीवित छोड़ देने से भी क्या लाभ?—उसके शरीर में अब रह भी क्या गया है? खून निकल चुका है, जगह-जगह से कटकर शरीर छलनी हो चुका है। इस समय तो जीने की अपेक्षा मृत्यु ही उसके लिये अधिक उचित है। शायद यही सब सोचकर, जीवन-मरण की उस सन्धि-वेला में उसने एकबार फिर अपनी बची-खुची सारी शक्ति बटोरकर इस भयंकरता से गोह के शरीर को कसना शुरू किया कि घबराये हुए गोह के मुख से अपने आप ही उसकी गरदन छूट गई और देखते-ही-देखते अजगर ने उसके शरीर को तोड़-मोड़कर समाप्त कर डाला। इसबार सचमुच ही गोह के प्राणों ने उसके शरीर को त्याग दिया; सचमुच ही उसकी मृत्यु हो गई।

परन्तु अजगर की अवस्था भी अधिक क्षण तक जीने योग्य नहीं रही थी। गोह के शरीर पर से बहुत ही धीरे-धीरे अपनी लपेट खोलकर वह जैसे ही दो-चार डग आगे सरका, मृत्यु ने मार्ग में ही उसकी जीवन-लीला भी समाप्त कर दी। उसका वह प्राण-त्याग के समय का छटपटाना मुझे आज भी नहीं भूला है।

इस तरह इन दो 'पशु-देहधारी क्षत्रियों' का अन्त हुआ। जानता हूँ अपने मनुष्यत्व के अभिमान में हममें से कितने ही नर-नारी इन दोनों को 'तुच्छ पशुमात्र' बताकर उनके इस अत्यन्त वीरोचित मल्लयुद्ध को उपहासास्पद और अप्रशंसनीय बना देना चाहेंगे। परन्तु मेरा विश्वास है कि मनुष्य और पशु दोनों की ही जो समान-रूपेण जननी हैं, इस चराचर विश्व का प्रत्येक छोटा-बड़ा प्राणी जिनकी प्रियतम सन्तान है, उन आद्याशक्ति के न्यायालय में इन दोनों क्षत्रियों को भी वही गौरव प्राप्त होगा जो मानव-क्षत्रियों को प्राप्त होता है।

विश्व-प्रेम के इन उदात्त विचारों के वशीभूत होकर उस समय मैं एक ऐसा कार्य कर बैठा, सामान्य अवसरों पर जिसकी कल्पना भी शायद मेरे मन में न आती। जानता हूँ, मानवीय शास्त्रों में पशु के लिए कहीं भी दाह-क्रिया का विधान नहीं है, कोई करता भी नहीं है, देखने में अस्वाभाविक-सा भी जंचता है। परन्तु उस दिन इन समस्त चिर-मान्य प्रथाओं को भंग कर विपिन की सहमति और सहायता से मैंने सिद्धाश्रम के उस पावन सैकततीर्थ में, पुण्य जलाशय के एक पवित्र तट पर, एक ही चिता पर एक साथ रखकर, उन दोनों क्षत्रिय शरीरों को एक ही साथ भस्म कर दिया। इस भस्मान्त संस्कार में राम-नाम की गगन-भेदी ध्वनियाँ नहीं हुईं; श्मशान यात्रा में सहयोग देने वाले शोक-यात्रियों की भीड़ नहीं हुई; स्वजन-सम्बन्धियों का चीत्कार-

मिश्रित अश्रु-निवेदन नहीं हुआ और परलोक पथ की यात्रा करने वालों के शरीर पर शोभा पाने वाले बहुमूल्य शालवस्त्रों का प्रदर्शन भी नहीं हुआ। सारी प्रक्रिया बहुत ही साधारण रूप में हो गई—

"Slowly and sadly we laid them down,
From the field of their fame, fresh and gory;
We carved not a line, and we raised not a stone,
But we left them alone with their glory".

६

मृत्यु-दूत



सूनी घाटी,
निशा अंधेरी,
जंगल भीषण;
झिल्ली का झंकार बढ़ाती दिल की धड़कन।
ऐसे में—
सुन पड़ती किसकी,
धीमी-धीमी,
शंकित-सी, हलकी-सी, पगध्वनि ?
कौन आ रहा,—
इस शून्य जलाशय तट पर अपनी प्यास बुझाने,
पाषाणों पर धीरे-धीरे पैर बढ़ाता ?
कौन ? हरिण ?—
ओ ठहर अभागे,
इधर न आ;
कब से बैठा कर रहा प्रतीक्षा
—इस निर्जन झाड़ी में—
वह भूखा मृत्यु-दूत,
तेरा अस्तित्व मिटाने।

१०

मचान पर

वह वटवृक्ष बहुत पुराना था। सारे जंगल में वैसा विशाल और गंभीर वृक्ष शायद ही कोई और रहा हो। एक, छः-सात फीट ऊँचे टीले पर—साधक तपस्वी की तरह वह अकेला, एक पग पर खड़ा था। वन्य वराहों और मस्त हाथियों की तो बिसात ही क्या, बड़ी-बड़ी आँधियां और भूकम्प भी उसके उस एक पग को विचलित न कर सके थे।

मैं दिनभर से उसकी शाखा पर बैठा मचान बाँध रहा था। बड़े सवेरे ही जंगल से पाढल के तीन मोटे लट्ठे काट लाया था। वे इतने भारी थे कि उन्हें उठाकर पेड़ पर चढ़ाना असंभव जान पड़ा। परन्तु जल्दी ही इसका उपाय कर लिया गया। तीन मज़बूत रस्सियाँ मेरे पास थीं। तीनों के एक-एक सिरे में एक-एक लट्ठा बाँध दिया गया और रस्सियों के दूसरे सिरों को पकड़कर मैं वृक्ष पर चढ़ गया। एक चिकनी डाल को घिर्री बना मैंने डोल की तरह उन तीनों को एक-एक कर ऊपर खेंच लिया और बाद में दो सुदृढ़ शाखाओं में अच्छी तरह जमा दिया। इससे मेरी मचान के लिए पाँच हाथ चौड़ी छः हाथ लम्बी एक त्रिभुज तय्यार हो गई। इस त्रिभुज पर कितने ही मज़बूत लट्ठे बिठा मैंने एक विश्राम-योग्य पक्का धरातल तय्यार कर लिया और उस पर एक-एक फुट ऊँचे पत्ते और कुशा घास बिछाकर एक कोमल और गुद-गुदा बिस्तर भी बिछा डाला।

मचान तय्यार थी। परन्तु अभिलाषा और भी आगे बढ़ रही थी। मचान को कुटिया का रूप दिया जाने लगा। इसके लिए बाँसों की आवश्यकता पड़ी। हाथ-पाँव थक चुके थे। शरीर विश्राम माँग रहा था। मगर अभी विश्राम कहाँ? वृक्ष से उतर एक बार फिर जंगल में पहुँचा।

देखा, वहाँ एक ही पहर में भारी परिवर्तन हो चुका है। बाँस काटने योग्य अनुकूल वातावरण नहीं दिखाई पड़ रहा।

कहाँ, वह चहल-पहल से भरी हुई प्रातःकाल की वनभूमि; कहाँ यह निस्तब्धता से भरा हुआ तीसरे पहर का महारण्य। दूर तक वनघाटियों में अभेद्य सन्नाटा छाया हुआ है। स्थान-स्थान पर विरल-छाय-द्रुमों के नीचे छन-छनकर आती हुई धूप निरानन्द, कटुता और निराशा के अजस्र वातावरण का सृजन कर रही है। जैसे किसी बस्ती को सूना छोड़ उसके सारे ही निवासी कहीं भाग गये हों और उसकी

वीथियों, गलियों, मकानों और चौराहों में सर्वत्र प्रेतलोक का-सा सन्नाटा छा रहा हो; वनभूमि की भी कुछ वैसी ही अवस्था इस समय दीख पड़ रही है। कहाँ गये इसके वे असंख्य पक्षीगण, जो अभी प्रभात में ही तरह-तरह की बोलियाँ बोलते हुए चहचहा रहे थे? कहाँ गईं वे नीलगायें, वे बारहसिंगे, वे मृगयूथ, वे वराह, वे शृगाल, वे शशक; जो अभी चार ही घंटा पहले यहाँ जीवन का स्रोत बहा रहे थे? इतनी ही देर में वे सब कहाँ भाग गए? कोई भी तो नहीं दीख पड़ रहा। केवल, कहीं-कहीं कोई इक्का-दुक्का बन्दर वृक्ष के तने के सहारे बैठा दिवानिद्रा का आनन्द लेता दीख पड़ रहा है। बीच-बीच में वह जब बेचैनी से करवट बदलने लगता है, या किसी दूसरे निकटवर्ती छायादार वृक्ष की खोज में सूखे पत्तों पर पैर रखता हुआ अलसाया-सा चलने लगता है, तब उसका हलका-सा मर-मर शब्द एक विचित्र तरह की गंभीरता उत्पन्न कर देता है। मैं तो जानता हूँ कि यह बन्दर के चलने का ही पदशब्द है। मगर दूसरे आदमी के लिए, जिसे पता न हो, कहीं दूर खड़ा हो, यह शब्द अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न कर देता है। सहसा उसका हृदय धड़कने लगता है, और कोई उसके कानों में कह उठता है—"क्या कहते हो? उसका पदशब्द भी तो ऐसा ही होता है जी! यदि कदाचित् यह वही हो, तब?"

ऐसे संदिग्ध एकान्त में बाँस काटने के लिए कुल्हाड़ी चलाने में भी हिचक हो रही है। केवल, भय या संशय के कारण ही नहीं; ऐसा लग रहा है, जैसे मैं वनवासियों की किसी सर्वमान्य प्रथा के उल्लंघन करने का महापराध करने जा रहा हूँ। जानता हूँ, यह तीसरा पहर वनेचरों के विश्राम का समय है। इस समय सहस्रों पखेरू द्रुमशाखाओं और निकुंजों में पड़े दिवानिद्रा का आनन्द ले रहे हैं। सहस्रों वनेचर शीतल झाड़ियों और छिपे आवास-स्थानों में पड़े विश्राम पा रहे हैं। वनवासियों की चिर पुरातन प्रथा के अनुसार इस समय कोई किसी से वार्तालाप नहीं कर सकता; गा नहीं सकता; चिल्ला नहीं सकता; अत्यन्त आवश्यकता के बिना पर्यटन नहीं कर सकता और किसी पर आक्रमण भी नहीं कर सकता। भक्ष्य और भक्षक के बीच में इस समय जो अनाक्रमण संधि बनी हुई है उसका भंग भी नहीं किया जा सकता। तब मैं भी इस प्रथा की क्यों अवहेलना करूँ?

परन्तु, घड़ी ने बताया साढ़े तीन बज चुके हैं। अधूरी मचान को बनाते-बनाते ही सायंकाल का अँधेरा उतर आयगा। फिर समय ही कहाँ रहेगा। मन-ही-मन वनदेवता से क्षमा माँग कितने ही बाँस काटकर धरती पर गिरा दिए और उन्हें जैसे-तैसे घसीट-घसाटकर वटदादा के नीचे पहुँचा दिया। पहले की ही तरह उन्हें भी वृक्ष पर चढ़ा लगभग डेढ़-डेढ़ फुट ऊँचा एक सुन्दर घेरा और चार-पाँच फुट ऊँची एक छत तय्यार कर डाली; और बाद में उसे कुशा घास और पत्तों से छाकर शीघ्र ही पंचवटी

की एक दूसरी पर्णशाला बना डाली।

एक ही काम अब और शेष था। पर्णशाला कैसी बनी है; वृक्ष के नीचे से वह कैसी दीखती है; देर से यह जानने की उत्सुकता मुझे हो रही थी। सो, वटदादा के केश पकड़ फिर नीचे उतरा और एक अनतिदूरवर्ती शिला पर बैठ निश्चिन्त हृदय से अपनी अभिलाषा को तृप्त करने लगा। अपनी वस्तु चाहे कितनी ही कलाशून्य और फीकी क्यों न हो, ममता की आँखें उसे सुन्दर के अतिरिक्त दूसरे किसी भी रूप में नहीं देखना चाहतीं। यही हाल मेरा था, वास्तव में पर्णकुटी चाहे कैसी ही रही हो, मगर मुझे वह बहुत सुन्दर जान पड़ रही थी। तिस पर पवित्र कुशा और वटवृक्ष की भावना ने उसे योगाश्रम की किसी दिव्य कल्पना के क्षेत्र में ला खड़ा किया था। चिन्तामय नागरिक वातावरण से दूर, सिंह-व्याघ्र रक्षिणी, विटपवासिनी उस पर्ण-कुटी को देख मेरा अन्तस्तल पुलकित हो उठा। वटदादा की अनेक भुजाओं ने उसे चारों तरफ से घेरकर अपनी गोद में सुरक्षित बैठाया हुआ था। उसके हरे-भरे पत्तों की स्निग्ध छाया में वह त्रेतायुग के किसी एकान्तवासी महाखग का अतिप्राचीन घोंसला जान पड़ती थी।

हठात् दाईं ओर के किसी जंगल में काकड़ बोल उठा। थोड़ा घबराया और चारों तरफ देखने लगा। इस असमय में काकड़ की आवाज़!! अभी तो शेर के निकलने का समय भी नहीं हुआ। आज उसे कहीं भ्रम तो नहीं हो गया? मगर तो भी दिन तो ढल ही चुका है। सूर्यास्त होने में भी अब देर नहीं है। ऐसे में मृत्यु के अदृश्य दूत अंधेरी गुफ़ाओं में से निकल यदि समय से पहले ही वनभूमियों में पद-संचार करने लग पड़े हों तो आश्चर्य भी क्या है?

थोड़ी ही दूर पर पहाड़ी नाला बह रहा था। उसके किनारे पहुँच, हाथ-मुँह धो, ढक्कनदार लोटे में पानी भर जल्दी ही वापस लौट आया और सीधा मचान पर जा पहुँचा। भूख ज़ोरों से लग रही थी। दिनभर कड़ी मेहनत जो की थी। पके हुए बेलों और आधा सेर फालसों के अतिरिक्त सेरभर सत्तू और आधा सेर भुने हुए चने भी थे। सब से पहले पावभर सत्तू में कानपुरी बूरा और थोड़ा-सा जल मिलाकर आहार-यज्ञ का श्रीगणेश किया। फिर तीन बेलफल; बाद में थोड़े से चने और अन्त में फालसों की पूर्णाहुति। इस तरह दिनभर की कसर निकाल कुशा के बिस्तर पर चुपचाप लेट गया। कुछ देर तक तो जागता रहा, मगर बाद में कब नींद आ गई, पता न चला।

× × ×

जब आँख खुली, शायद आधी रात बीत चुकी थी। कब्रिस्तान का-सा भीषण सन्नाटा चारों तरफ छाया हुआ था। कुछ भी नहीं सूझ पड़ रहा था। आकाश में

तारे तो अवश्य चमक रहे थे, मगर चाँद नहीं था । रात के पहरेदार पक्षी की 'घुक्-घुक्' ध्वनि और सद्योमृत हरिणों के शवों पर 'मर्सिया' पढ़ती हुई झिल्लियों की करुणा-भरी पुकार के सिवाय कहीं भी कोई शब्द न सुन पड़ रहा था। एड़ी से चोटी तक सारा ही जंगल भय में डूबा हुआ था। स्वयं वटदादा भी इस तरह सन्नाटा खेंचे खड़े थे, जैसे इस संसार में उनका किसी से भी कुछ वास्ता नहीं है। समूचा वृक्ष गाढ़ निद्रा में नीरव सो रहा था। बस, उस पर केवल एक मैं ही साथी-शून्य, अकेला जाग रहा था।

नाले के किनारे के पत्थरों में से किसी का पदशब्द देर से सुन पड़ रहा था। कोई जैसे बहुत ही धीरे-धीरे चल रहा हो। शब्द धीरे-धीरे पास आता जा रहा था। कौन होगा ? मैं सोचने लगा। तभी उसने स्वयं ही उत्तर दिया । एक ऊँची दहाड़ ने आस-पास की घाटियों को गुंजा दिया। झाड़ियों की एक-एक भरा, नाले का मैदान, वटदादा की डालियाँ और उनके साथ ही मेरी मचान तक एकसाथ काँप उठे। चारों तरफ खलबली-सी मच गई । मचान के नीचे से भागते हुए जानवरों की पग-ध्वनियाँ एकसाथ सुन पड़ने लगीं। उनमें कितने ही हरिण रहे होंगे, कितनी ही नील गायें। परन्तु पाँच-चार मिनट बाद ही फिर पहले-सा सन्नाटा छा गया; जिससे यह अनुमान लगाना कठिन न रहा कि वे किन्हीं सुरक्षित स्थानों में जाकर दुबक गए हैं।

सहसा मुझे ख़्याल हुआ मेरी मचान भी तो धरती से केवल १५ फीट ऊँची ही है। उसकी दहाड़ों से स्पष्ट पता चल रहा है कि क्रमशः वह इधर ही आ रहा है। सो, यदि यहाँ आकर उसकी दृष्टि कहीं ऊपर घूम जाय और मचान पर मुझे बैठा देख आज मेरे ही शिकार से भूख मिटाने का संकल्प कर वह इस वृक्ष के नीचे ही डेरा डाल दे—तब उससे बचने का मेरे पास क्या उपाय है ? विशेष अवस्थाओं में उसे १५ फीट से भी ऊँची छलाँग मार लेते हुए देखा गया है । वैसे, निन्यानवे प्रति-शत तो यह एकदम असंभव ही है कि वह मचान पर झपटने का साहस करे। कारण, शेर इस तरह भूख मिटाने के लिए मचानों पर आक्रमण नहीं किया करता। हरिणों और नीलगायों को मारकर धरती पर से ही वह अपना भोजन प्राप्त किया करता है। मगर तो भी शेर ही तो ठहरा। जो बात उसने पहले कभी न की हो आगे भी वह उसे न करेगा ऐसा कोई विशेष बन्धन तो उस पर लागू नहीं किया जा सकता। स्वेच्छाचारी तानाशाहों की तरह वह जब जो कुछ भी अपनी स्वेच्छा से कर निकले, उसके जंगल-नियमों के अनुसार वही उसके लिए उचित और वैध है। उसके इस स्वेच्छाचार पर अंकुश लगाने के लिए भारतीय नवविधान में भी तो अब तक किसी धारा का निर्माण नहीं हुआ है। इसी लिए मेरी आशंका निर्मूल नहीं है।

हृदय धड़कने लगा। क्षण-प्रतिक्षण व्याकुलता बढ़ने लगी। शेर के देखने का जो चाव मेरे मन में बहुधा बना रहता है, वह अब भय में बदलने लगा।

उसी समय मेरी पास वाली डाल पर से "गुटरगूं"'"गुटरगूं" करते हुए दो जंगली कबूतर धीरे-धीरे पंख फड़फड़ाने लगे।

उनकी भाषा का बोध न रहने से, मैं यह तो न समझ सका, वे मुझ से क्या कहना चाहते हैं, परन्तु इतना अनुभव मैंने अवश्य किया कि उनकी उस ध्वनि में मित्रता, आत्मीयता और पड़ौसी-पन की स्निग्ध भावना भरी हुई है। यह जानते हुए भी कि वे अकिंचन पक्षीमात्र हैं, विपत्ति में मेरी कोई भी सहायता नहीं कर सकते; केवल इतना ही जानकर कि दो जीवित पदार्थ मेरे पास बैठे हुए हैं—उनकी उपस्थितिमात्र ने मेरी अकेलेपन की भावना को दूर कर दिया। ऐसा अनुभव होने लगा जैसे मैं अकेला नहीं हूँ। दो और भी साथी मेरे पास बैठे हुए हैं। मेरी ही तरह उन्हें भी शेर की दहाड़ सुन पड़ रही है। वह मचान पर आक्रमण कर सकता है, उन्हें भी ऐसा सन्देह है। परिस्थिति चिन्ताजनक है, यह वे भी अनुभव कर रहे हैं।



तीन न होते हुए भी, मुझे ऐसा लगने लगा जैसे हम तीन हैं। विचार यद्यपि अवास्तविक था, मगर उस समय वह मुझे अत्यन्त वास्तविक जान पड़ने लगा और मेरा हृदय एकबार फिर आत्म-विश्वास और धैर्य से भर उठा। एक कुल्हाड़ी के अतिरिक्त—जो सदा मित्र की भाँति मेरे हाथ में रहती थी—आत्म-रक्षा के लिए मेरे पास और कोई साधन न था। माचिस या मसाल तक भी नहीं। तब भी—शल्यो जेष्यति पांडवान्—मैंने बड़े ही भरोसे के साथ उसे ही उठा लिया और सावधान होकर भविष्य की प्रतीक्षा करने लगा।

मगर देर तक प्रतीक्षा न करनी पड़ी और मेरी धुंधली आशंका को सत्य सिद्ध करते हुए शेर ने मचान के नीचे आकर मुझे चुनौती दी। पहले एक ऊँची दहाड़;

फिर उसके बाद होने वाले छोटे-छोटे गर्जन···रह-रहकर सुनाई पड़ने लगे। एक बार, दो बार, तीन बार ·। हृदय थामकर मैंने नीचे झाँका। देखा, साकार रूप में वह सामने उपस्थित है। अन्धकार रहने से उसका शरीर और उसकी शक्ल तो स्पष्ट न देखी जा सकी, मगर तब भी उसे पहचान सकने में विशेष कठिनाई न हुई। मचान बाँधते समय बहुत-सी भाभड़ वृक्ष के नीचे ही पड़ी रह गई थी, जो अपने विशिष्ट पीले रंग के कारण इस अंधेरे में भी बहुत कुछ साफ-सी दीख पड़ रही थी। उस पर खड़े होने की प्रतिरंजना के कारण शेर का शरीर भी बहुत कुछ स्पष्ट देखा जा सकता था। दो जलते हुए अंगारों की चमक से मैं यह भी अच्छी तरह समझ गया कि वह ऊपर ही देख रहा है। अर्थात्, सब मिलाकर छलाँग में अब देर नहीं है।

तभी, एक तड़प उठी; एक झपट; एक दहाड़; एक हलचल; और एक ताकतभरे पंजे की चपेट ने मचान की डाल को झकझोर दिया। शेर उछला तो सही, मगर शायद छलाँग का हिसाब ठीक नहीं बैठा और मचान तक न पहुँच वह फुट-दो फुटभर नीचे ही रह गया। मेरा अनुमान है कि यदि छलाँग दो फुट के लगभग और ऊँची रही होती, तो उसका पंजा बहुत संभव था कि ठीक मेरे घुटने पर ही आकर बैठा होता। यद्यपि चारों तरफ बने हुए डेढ़ फुट चौड़े घेरे के कारण उससे भी मुझे किसी तरह की विशेष हानि न पहुँच सकती।

प्रयत्न में असफल होकर वह देखते-ही-देखते ओठों में गुर्राता हुआ, डाल पर पंजों की खरौंच देता हुआ, फिसलता हुआ, धरती पर जा गिरा। सारा ही काम इतनी जल्दी और अचानक हो गया कि मैं कुल्हाड़ी संभाले बैठा ही रह गया; उधर घटना का प्रथम अध्याय समाप्त भी हो गया।

धरती पर गिरते ही वह फिर उछला। मगर यह दूसरी छलाँग पहली की अपेक्षा और भी हल्की रही और इस बार वह शायद डाल तक भी नहीं पहुँच सका। मांसभोजी होने के कारण इससे अधिक श्रम कर सकना उसके लिए कठिन था। जान पड़ता है, पन्द्रह-पन्द्रह फीट ऊँची दो छलाँगों ने उसे इस तरह थका डाला था कि तीसरी छलाँग उसके लिए असंभव हो उठी थी। नहीं तो दूसरी छलाँग के बाद तीसरी छलाँग लगाकर वह अपने भाग्य की कम से कम एक बार और भी परीक्षा कर सकता था।

वृक्ष के नीचे छोटे-छोटे पत्थर और सूखे पत्ते व कुशा घास बिछी हुई थी। उन पर चलने के पदशब्द से मैंने अनुमान लगाया कि या तो थकान मिटाने की इच्छा से धीरे-धीरे टहलता हुआ वह तीसरी छलाँग लगाने की तय्यारी कर रहा है, या मचान तक पहुँच सकना असंभव जान विदा होने जा रहा है।

जब १५-२० मिनट तक भी तीसरी छलाँग की नौबत न आई, समझ लिया, मेरे अनुमान का दूसरा पक्ष ही ठीक है—शेर सचमुच विदा हो चुका है। बहुत ही

संतुष्ट भाव से नीचे झाँककर देखा, कहीं भी कोई शब्द नहीं सुन पड़ रहा। वही पहले का-सा निःशब्द सन्नाटा चारों तरफ छाया हुआ है। इतनी भयानक विपत्ति से अपने को यों सहज में ही छूट गया जान मैंने उनके उद्देश्य से सिर झुकाकर उन्हें हार्दिक धन्यवाद दिया और निश्चिन्त होकर फिर मचान पर लेट गया।

मगर न जाने क्यों नींद नहीं आ रही थी। एक हलका-सा सन्देह अब भी मन में बना ही हुआ था। कोई जैसे धीरे-धीरे कान में कह रहा था, "विपत्ति अभी टली नहीं है। किसी भी समय फिर भी आ सकती है ! सावधान !!"

उसका कारण था। मैं जानता था शेर परले दर्जे का मक्कार प्राणी है। वह कब अकस्मात् क्या कर बैठे कुछ कहा नहीं जा सकता। घायल हो जाने के बाद वह जिस तरह मुरदा-सा बनकर धरती पर पड़ जाता है और इस तरह शिकारी को अपने पास बुलाकर उस पर अचानक झपट अपना पूरा बदला चुका लेता है, उसकी इस मक्कारी को तो प्रायः सभी जानते हैं। मगर सच तो यह है कि उसकी सम्पूर्ण शिकार-पद्धति ही मक्कारी से भरी होती है। शिकार की खोज में वह जब निकलता है तब सब से पहला उसका जो काम होता है वह यह, कि वह पाँच-छः बार खूब ऊँची आवाज़ में दहाड़ता है। दो एक नामी शिकारियों से जब मैंने इन दहाड़ों का कारण पूछा तो वे इतना ही बता पाये कि वह भूख के कारण ही ऐसा करता है। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। उसकी इन दहाड़ों में एक बहुत गहरी चाल भरी होती है जो प्रकृति ने उसे स्वभाव से ही प्रदान की है। उन्हें सुनकर हरिणों और नीलगायों के घबराये हुए झुंड जैसे ही इधर-उधर भागने लगते हैं, वह फुर्ती से धरती पर लेटकर अपनी अद्भुत श्रवण-शक्ति की सहायता से बहुत सहज में ही यह पता चला लेता है कि वे लोग किस दिशा में, कितनी दूरी पर, भागे जा रहे हैं। अपनी इस असाधारण श्रवण-शक्ति के बल पर वह कभी-कभी दो-दो मील दूर भागते हुए हरिणों का पता चलाता हुआ पाया गया है। इससे उसकी बहुत सी मेहनत बच जाती है और वह निश्चिन्त होकर उन का पीछा कर सकता है।

साधारणतया शेर की प्रधान शिकार-पद्धति यही है और सौ में से नब्बे अवसरों पर उसे इसमें सफलता मिलती है। मगर कई बार ऐसा भी होता है कि झुंड का पीछा करने के बाद भी उसे सफलता नहीं मिलती। तब वह बहुत ही झल्ला उठता है। उस समय वह किस तरह बेहद क्रूर और भयंकर बनकर शिकार की लम्बी प्रतीक्षा में, कहीं किन्हीं झाड़ियों में दुबककर बैठ जाता है और बाद में, शिकार को पकड़कर उसके साथ जिस निर्दयता से पेश आता है—उसकी इस भयंकरता के प्रत्यक्ष दर्शन बहुत कम लोगों ने किये होंगे। इसका कारण यही है कि शिकारी लोग बहुधा शिकारी बनकर ही जंगल में जाते हैं, विद्यार्थी बनकर नहीं।

कई बार तो यहाँ तक देखा गया है कि शिकार में असफल हुआ शेर—गोली खाकर घायल हुए शेर से भी कहीं अधिक—भयंकर हो उठता है, और उस हालत में, अपनी असफलता की झुंझलाहट या भूख मिटाने की धुन में वह कभी-कभी अपनी सामर्थ्य से भी बढ़कर काम कर बैठता है।

इसीलिए मचान पर लेटकर भी मुझे शान्ति नहीं मिल रही थी। अपनी दोनों छलांगों में असफल होकर झल्लाया हुआ शेर निराश भिखारी की तरह चुपचाप लौट गया हो, इस बात पर विश्वास नहीं हो रहा था।

आधे ही घंटे में सन्देह सत्य हो उठा। शेर वास्तव में ही वृक्ष के नीचे से हट कर कहीं दूर नहीं गया था। अवश्य ही वह पास ही कहीं किसी झाड़ी में बैठा अपनी थकान मिटा रहा था। उसने एक क्षण के लिए भी अपना संकल्प नहीं बदला था। यह सब मुझे तब पता चला जब एक बार फिर मचान के नीचे हलकी-हलकी पदध्वनि सुन पड़ने लगी।

वह वटवृक्ष, जिस पर मेरी मचान थी, एक छः-सात फीट ऊँचे टीले पर खड़ा था, यह पीछे लिख आया हूँ। शेर ने अबतक जो दो छलाँगें लगाई थीं, वे समतल भूमि से ही लगाई थीं, टीले पर चढ़कर नहीं। टीले से मचान केवल आठ-दस फीट ऊँची ही रह जाती थी। मचान बनाने की अपनी इस भयंकर भूल को मैंने तब समझा जब मैंने देखा, वह एक ही छलांग में टीले पर चढ़ आया है। थोड़ी ही देर बाद वे ही दोनों जलते हुए अंगारे फिर दीख पड़ने लगे—वह ऊपर ताक रहा है; इस बार रक्षा नहीं दीख पड़ती।

बिजली की तरह मेरे मस्तिष्क में एक विचार आया कि यदि मैं जल्दी ही मचान छोड़ पेड़ की ऊँची डालियों पर चढ़ जाऊँ तो अब भी बच सकता हूँ। मगर शेर ने मुझे ऐसा करने का अवसर ही न दिया। मैं जैसे ही मचान से बाहर निकलने लगा, एक थर्रा देने वाली दहाड़ ने वृक्षतल के समूचे वायुमंडल को झकझोर दिया और अगले ही क्षण मचान की छत मचमचा उठी। शेर मचान की छत पर था।

मगर एक तो छत फिसलनी और ढलवान थी, दूसरे बाँस की पतली खप्पचों से बने रहने के कारण शेर का बोझ भी नहीं संभाल सक रही थी; और लगातार मचमचा रही थी; कब टूट-टाटकर गिर जाय पता नहीं था। लेकिन, इस मचमचाने ने ही मेरे सामने आत्मरक्षा की एक सफल योजना रक्खी। यदि छत तोड़ दी जाय तो कैसा हो? परिणाम अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी। मगर इतने विस्तार के साथ सोचने का तब समय ही कहाँ था? शेर ऊपर चढ़ चुका था और किसी भी क्षण उसके मचान में घुस आने का भय था। नीचे-ही-नीचे से कुल्हाड़ी के आठ-दस भरपूर हाथ मार मैंने छत को तोड़ डाला और भड़भड़ाकर जैसे ही वह गिरने लगी, चौंके हुए

शेर को मुझ पर आक्रमण करना छोड़ पहले अपनी रक्षा की चिन्ता करनी पड़ गई। भूकम्प आने पर जैसे लोग सब कुछ भूल कर मकान से बाहर निकल भागने की करते हैं, उसे भी मेरा ख्याल छोड़, भाग उठने के लिए बाधित होना पड़ा। देखते-ही-देखते छत गिर पड़ी और उसके बाँस, भाभड़ और पत्ते कुछ मचान पर, कुछ मुझ पर और कुछ नीचे की धरती पर बिखर गये।

एक क्षण की भी देर न लगा मैं कूदकर एक ऊँची शाखा पर जा चढ़ा और हाथ मारता हुआ एक खूब ऊँची जगह पर जा पहुँचा। सम्भव है, मामले को समझ चुकने के बाद शेर ने बाद में भी कुछ छलांगें मारी हों, मगर शिकार हाथ से निकल जाने के बाद, अपने आपको व्यर्थ ही थकाने के अतिरिक्त अब उन छलांगों का कोई लाभ न था।

× × ×

दिन निकलने की तय्यारी करने लगा; पूर्व में प्रभात का अरुण पक्षी चहचहा उठा। शिरीष फूलों की मादक गन्ध घाटी में महक उठी। सामने, पहाड़ी नाले के पुलिन पर खड़े होकर सकुशल रात बीत जाने की प्रसन्नता में बारहसिंगा अपनी सहचरी को पुकारने लगा। मैंने देखा, एक छोटे से कोटर में से वे ही दोनों कबूतर—शायद पति-पत्नी—अपनी गर्दनें बाहर निकाले मेरी ओर भोली नज़र से ताक रहे हैं। "बधाइयाँ, परदेसी ! सैंकड़ों बधाइयाँ !!" यही शायद वे कहना चाह रहे हैं। मुझे ऐसा लगा, जैसे दो स्वर्गभ्रष्ट देवमिथुन कपोत रूप धारण कर इस तपस्वी वटवृक्ष में निवास कर रहे हैं। मार्गभ्रष्ट, असहाय और दीनों को सहायता देने के लिए ही उन्होंने विहंगम रूप धारण किया है। मेरा विचार है, रात की विपत्ति से मैं उन्हीं के आशीर्वाद से बच सका। नहीं तो विपत्ति जिस तरह की थी, उससे बच निकलना किसी-किसी भाग्यशाली का ही काम था। माथा नवाकर मैंने दूर से ही उन दोनों देवताओं को प्रणाम किया।

११

दुःखद अन्त

इसके बाद पूरे एक वर्ष तक वटदादा की सुध न ली जा सकी। उनके साथ यद्यपि यह मेरा एक ही दो दिन का परिचय था परन्तु इतने में ही उनके प्रति इतनी श्रद्धा हो गई थी कि उनके साथ परिचय बढ़ाने की मेरी आन्तरिक अभिलाषा दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही थी। मेरा यह विश्वास हो गया था कि वटदादा एक सजीव और भावुक प्राणी हैं और मेरी भाषा और विचारों को भी भलीभाँति समझते हैं। यद्यपि सांसारिक सम्बन्धों से पृथक् होकर तपोवन के इस एकान्त टीले पर वे चिर वर्षों से अपना एकाकी आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, मगर तो भी मुझ से आन्तरिकता बढ़ाकर वे प्रसन्न ही हुए हैं और अपनी उस प्रसन्नता को उन्होंने कितने ही उपायों से प्रकट भी किया है।

इसीलिए—पूरे एक वर्ष बाद—उस दिन जब अचानक ही उनके पास पहुँच मैंने उनकी एक प्रलम्बमान शाखा को स्नेह-स्पर्श करते हुए पूछा - "कुशल से तो हो, दादा ?" तब नूतन कोंपलों वाले अपने हरे-भरे सिर को हिलाकर उन्होंने बहुत ही स्नेह से मेरी ओर देखा।

इस बार मैं अकेला न था। अन्य साथी भी मेरे साथ थे। वसन्त की समाप्ति और ग्रीष्म का प्रारम्भ रहने से दादा ने जीर्ण वस्त्र उतारकर तपस्विजनोचित नये वल्कल धारण किये थे। उनके प्रथम पुण्य दर्शन से ही अत्यन्त तृप्त होकर तब मेरे साथियों ने भी अनेक प्रकार से उनका कुशल-क्षेम उनसे पूछा था। उनके उसी नये वल्कल पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए श्याम ने पूछा था—"वर्षा और शीत-काल कैसे बीते, महातपस्वी ? तपस्या में कोई विघ्न तो नहीं आया ?" बिहारी ने पूछा था "वेगवती आँधियों ने तुम्हें कष्ट तो नहीं दिया, महाभाग ? वन्य नियमों का भंग करने वाले किसी उद्धत हाथी ने अपनी कण्डू मिटाने की व्याकुलता में तुम्हारी इस सुन्दर त्वचा को उन्मथित कर तुम्हारे शान्त मन को पीड़ा तो नहीं पहुँचाई ?"

और इन सभी प्रश्नों का उत्तर दिया था, एक विहंगम बालिका ने; जो कदाचित् दादा की पालिता कन्या थी। प्रश्न जितने ही स्निग्ध और अकृत्रिम थे, उत्तर भी उतने ही स्नेहपूर्ण।

बाद में दादा की अनुमति लेकर हमने उनकी एक ऊँची शाखा में एक सुन्दर मचान भी बनाई थी। इस बार पन्द्रह फीट ऊँचा न रख उसे तीस फीट ऊँचा रखा

गया था। पहली मचान की अपेक्षा विस्तार में भी वह कहीं अधिक बड़ी थी और एक बिलकुल नई विशेषता उसमें यह रखी गई थी कि उसके धरातल से पांच फीट ऊँची एक दूसरी शाखा में एक खूब मजबूत, चिकनी घिर्री और भी लगाई गई थी ताकि किसी संकट-काल में नीचे खड़े साथी को तुरन्त ऊपर खेंच लिया जा सके। इसके लिए एक सुदृढ़ रस्सी में लटकता हुआ एक बड़ा टोकरा घिर्री में लटकाकर छोड़ दिया गया था और कई बार कई साथियों को उसके द्वारा ऊपर-नीचे चढ़ा-उतारकर उसकी उपयोगिता का परीक्षण भी कर लिया गया था। प्रारम्भ में तो यह नई वृद्धि प्रायः सभी को उपहासजनक प्रतीत हुई मगर आगे जाकर इससे एक दिन जितना बड़ा उपकार हो गया, उसकी किसी ने कल्पना भी न की थी।

मगर, तो भी यह लिखते हुए बहुत ही दुःख होता है कि जिस दादा के प्रति हमारा इतना स्नेह और अनुराग था उन्हें एक दिन हमारे ही कारण कितने ही ऐसे कष्ट उठाने पड़े कि शायद उनका शत्रु भी उन्हें वैसे कष्ट न पहुँचाता। मगर उनसे तो कुछ छिपा नहीं था। सभी कुछ जानते थे, वे तो। वे जानते थे हमने जान-बूझकर उन्हें वे यातनाएँ नहीं पहुँचाई हैं। घटनायें ही कुछ ऐसी आ पड़ी थीं कि जिन्हें हटा सकना हमारी सामर्थ्य से बाहर था।

लेकिन, जो कुछ भी हो; हमारी मचान बाँधने की पहली रात तो खूब निश्चिन्तता में ही कटी। न शेर की दहाड़ ही सुनी गई, न उसके दर्शन ही हुए। जंगल की छोटी-मोटी हलचलों—अर्थात् हरिणों तथा नील गायों की भाग-दौड़ और काकड़ की बहुत दूर से सुन पड़ने वाली आवाज़—के सिवाय उस रात और कोई विशेष बात नहीं हुई।

हम इस बार दस-बारह दिन का कंप का प्रोग्राम बनाकर आये थे; वटबाबा के नीचे प्रधान कंप बनाकर उसके निकटवर्ती कितने ही दर्शनीय स्थानों को देखने की हमारी अभिलाषा थी। आज कण्वाश्रम की यात्रा का दिन था। उसके बारे में सुना और पढ़ा तो बहुत था, मगर उसे देखा एक बार भी न था। बड़े सवेरे से ही—बल्कि सच कहा जाय तो रातभर से ही—उसका चाव हमें लग रहा था। हमें बताया गया था कि लालढाँग से रवासन नदी के किनारे-किनारे भृगुखाल होते हुए मालिनी नदी के उद्भव स्रोत पर पहुँचना होता है; और वहाँ से लगभग १० मील नीचे उतर आने पर चौकीघाटा नामक जो छोटा-सा पड़ाव पड़ता है, वही किसी समय कण्वाश्रम था। परन्तु खैरावन से—जहाँ इस समय हम ठहरे हुए थे—एक दूसरा मार्ग भी कण्वाश्रम गया है, जो पहले मार्ग की अपेक्षा अधिक सीधा, अधिक छोटा परन्तु अधिक भयंकर है। निर्जन तथा दुर्गम वनों से भरा रहने के कारण हमने उसे ही पसन्द किया। हमारा ख्याल है कि अनेक शताब्दी पूर्व हस्तिनापुर से कण्वाश्रम आते समय सम्राट् दुष्यन्त ने भी इसी मार्ग से

अपनी शिकार-यात्रा की होगी। प्रसिद्ध है, अभिज्ञान शाकुन्तल लिखने से पूर्व विश्व-कवि कालिदास ने दो-तीन बार कण्वाश्रम की यात्रा की थी। उन्हें यह वन इतना सुन्दर लगा था कि इसे बार-बार देखकर भी उनकी परितृप्ति नहीं हुई थी। वे राज-कवि थे। राज्य की ओर से ही उनकी यात्राओं का प्रबन्ध हुआ होगा। हमारा ख्याल है कि तब उन्होंने भी इसी सघन तथा भयंकर मार्ग को ही अपना यात्रापथ बनाया होगा; और हमारी ही तरह उन्होंने भी यात्रा करते हुए वन्य पशुओं के अचानक दीख जाने पर "अयं मृगः, अयं वराहः, अयं शार्दूलः !!" कहकर अपने मित्रों का ध्यान उधर आकृष्ट किया होगा। कठिन दोपहरियों में, हमारी ही तरह उन्होंने भी, वनों की इन्हीं "ग्रीष्म विरल पादपच्छायासु"······"अटवीतोऽटवी" आहिण्डन किया होगा। प्यास लगने पर, इन्हीं "पत्रसंकर कषाय" गिरिनदियों का पानी पिया होगा। मध्याह्न में इन्हीं सघन वृक्षों के नीचे लेटकर "प्रच्छाय सुलभ निद्रा" का आनन्द लिया होगा। "नर नासिकालोलुप" भालुओं, "तीव्राघात प्रतिहत तरु" वन्य हाथियों और जोहड़ों में "मुस्ताक्षति" करते हुए जंगली वराहों को भी उन्होंने इसी मार्ग में देखा होगा।

चौकीघाटा पहुँचते हुए शाम हो चुकी थी। पड़ाव पर ठहरने का सुभीता तो था, पर इच्छा नहीं थी; सो जंगल में एक वृक्ष के नीचे ही रात बिताई। अगले दिन दुगड्डा जाकर मालिनी नदी का दो धाराओं का संगम-स्थान देखा। स्थान बहुत साधारण है। छोटा है, परन्तु सुन्दर है। वहीं स्नान-भोजन किया। वहाँ से लौटकर रात फिर उसी वृक्ष के नीचे बिताई। तीन-चार घंटे तक इधर-उधर घूम-फिरकर मालिनी के तटों और तटवर्ती वनों को भी देखा। अगले दिन, बड़े सवेरे ही मालिनी पर स्नान करने के लिए गये। ख्याल आया कभी ऐसे ही प्रभातों में इस "सैकतलीन हंसमिथुना" नदी के तट पर आश्रमवासी छात्र स्नान करने आते होंगे। उन दिनों अवश्य ही नदी पर कितने ही छोटे-छोटे घाट बने होंगे, जो कालक्रम से नष्ट हो जाने के कारण आज नहीं रहे हैं। तट पर कितने ही वृक्ष भी रहे होंगे—नाना जाति और नाना नामों के—जिनकी शाखाओं पर तापस लोग स्नान के बाद अपने गीले वल्कल वस्त्र फैला देते होंगे। यहीं पर किसी दिन कवि के कल्पना-नेत्रों ने किसी ऐसे ही गीले वल्कल-वस्त्र की छाया में बैठकर निश्चिन्त भाव से रोमन्थ करते हुए किसी हरिण के सींग में 'वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्' को देखा होगा। वर्षा-काल में जब मालिनी में बाढ़ आ जाती होगी, आश्रम के तापसकुमारों की कितनी ही तैरी प्रतियोगितायें यहाँ हुआ करती होंगी और विजेता छात्रों को कुलपति के हाथों पुरस्कार मिला करते होंगे।

और वह कण्वदुहिता ? वह भी तो इसी आश्रम की छात्रा थी। उसके अनध्याय दिवस भी तो इसी मालिनी नदी के एकांत तटों पर बीता करते होंगे। ग्रीष्म

की कितनी ही मध्याह्न वेलाएँ वह अपनी उन्हीं दोनों सखियों के साथ बेंतों से घिरे हुए किसी शीतल लतागृह में बिताती होगी। अपनी दोनों सखियों और अपने पालतू मृग के साथ वह कितनी ही बार इस नदी के किनारे-किनारे दूर तक भ्रमण के लिए निकल जाती होगी। वसंत दिनों में, तब इन प्रशान्त किनारों पर लाल-लाल पलाश पुष्पों की बाढ-सी आ रही होती होगी और उन पर गूँजती हुई अनेक मधुबालायें रस-संचय कर रही होती होंगी तब उनके अनुकरण में वह भी कितने ही फूल तोड़-कर किसी वृक्ष-छाया में बैठ उनका मकरन्द पान किया करती होगी। ग्रीष्म में, जब तटवर्ती शिरीष वृक्ष पीले फूलों से सज उठते होंगे और उनकी सुकुमार केसर-शिखाओं का 'ईषदीषत्' चुम्बन करते हुए भ्रमर उन पर गूंज रहे होते होंगे, तब उसकी सखियाँ बहुत ही उत्सुकता से उन फूलों से उसका शृंगार किया करती होंगी। शरद् दिवसों में इन्हीं तटों पर छाई हुई कर्कन्धू झाड़ियों में कर्णकुंडलों सरीखे लाल-पीले बेरों की भीड़-सी लग उठती होगी और तीनों ही सखियाँ उन्हें खाती हुई इधर-उधर घूमती फिरा करती होंगी। आज यद्यपि नदी-किनारे निर्जन और शून्य पड़े हैं, मगर एक दिन यहाँ के ऐसे ही किसी निकुंज में एक अपरिचित सुन्दर युवक के साथ उसका प्रथम परिचय हुआ होगा और यहीं पर उसके साथ गान्धर्व विवाह में परिणीत होकर उसे एक दिन हस्तिनापुर के प्राचीन राजवंश की 'प्रतिष्ठा' बनने के लिए इस प्रिय आश्रम का परित्याग कर देना पड़ा होगा। हाय रे, उस दिन उसके वियोग में सारे ही आश्रम में कैसी व्याकुल-सी उदासी छा उठी होगी। आश्रम-मृगों ने उस दिन तृण चरना छोड़कर उपवास किया होगा; मयूरों ने नृत्य छोड़कर शोक मनाया होगा और उसकी परमप्रिय उद्यानलताओं तथा उसकी 'लताभगिनी' वन-ज्योत्स्ना ने 'पाण्डुपत्र' गिराकर आँसू टपकाये होंगे। और उसके बाद ?

उसके बाद; एक दिन वह भी तो आया होगा जब अपनी आयु के तीसरे पहर में वह एक बार फिर अपने इसी चिर वियुक्त आश्रम में लौटी होगी। और उसकी वे दोनों सखियाँ अनुसूया और प्रियंवदा भी—जो निश्चय ही विवाहित होकर अपने पतिगृहों में गई होंगी—उसकी ही तरह आश्रम में लौट आई होंगी और इस तरह एक बार फिर वे तीनों ही सखियाँ अपने जीवन के कितने ही मधुर वर्ष इस तपोवन में बिता गई होंगी। शायद तात कण्व तब तक दिवंगत हो चुके होंगे। आर्या गौतमी भी परलोक प्रयाण कर चुकी होंगी और कण्व के पट्ट शिष्य शारद्वत कुलपति बने होंगे। उसकी 'लताभगिनी' वन-ज्योत्स्ना तब तक शायद खूब बड़ी हो चुकी होगी और उसके पाले हुए हरिण-शिशु भी या तो वृद्ध हो चुके होंगे या दिवंगत।

एक दिन ऐसा ही यह आश्रम रहा होगा। परन्तु आज इतनी दीर्घ शताब्दियों के बाद किस दिन, किस कारण से यह दिव्य आश्रम कथाशेष बन गया, कहा नहीं

जा सकता। बहुत खोजने पर भी उसके चिह्नों का पता नहीं चल रहा।

चौकीघाटा से विदा होकर सत्रह मील का मार्ग पार करने के बाद हमने शचीतार्थ नामक एक प्राचीन जलाशय पर ठहरकर भोजन-विश्राम किया। बाद में चार-पाँच मील चलकर हम खैरावन में आ पहुँचे। यहाँ से मचान या वटदादा दो मील से अधिक नहीं थे। सीधा मार्ग छोड़कर यों ही जान-बूझकर भटकते हुए चले जा रहे थे; चूँकि पता था कि हम भटक नहीं सकते। तभी, किसी बारहसिंगे का भयंकर शब्द सुनकर हमें स्तंभित रह जाना पड़ा। साधारणतया बारहसिंगे का शब्द भयंकर नहीं हुआ करता, परन्तु यदि बाघ या बघेरा उसका पीछा कर रहा हो, या किसी शिकारी के हाथों वह घायल हो उठा हो; तब प्राण की आशंका से वह जब डकारता है, उसका वह शब्द बहुत ही भयंकर हो उठता है। मामला अवश्य ही रहस्यमय है। उत्सुक होकर हमने पैर बढ़ा दिये और उधर ही चल पड़े जिधर से यह शब्द आता जान पड़ रहा था।

सामने ही पहाड़ियाँ थीं। दौड़ते हुए उन्हीं पर चढ़ गये और एक छः सौ फीट ऊँचे शिखर पर चढ़कर देखने लगे शब्द कहाँ-किधर से आ रहा है? मगर जिसे खोजने के लिए इतनी भाग-दौड़ की थी, बहुत खोजने पर भी उसका तो कुछ पता न चला; हाँ, उसके स्थान पर जो एक दूसरा दृश्य देखने को मिला वह बहुत ही अद्भुत था। सामने ही एक खूब चौड़ा पहाड़ी नाला पूर्व से पश्चिम की ओर बह गया है। उसके दोनों ही तट सघन पर्वतों से इस तरह छा उठे हैं कि उनके भीतर क्या है, जानने का उपाय नहीं है। नाला अधिक गहरा नहीं है। फुटभर से अधिक पानी उसमें शायद ही रहा हो। उसी नाले के शीतल प्रवाह में कुछ नहीं तो पचास-साठ जंगली हाथी इधर-उधर फैले हुए स्नान का आनन्द ले रहे हैं। कितने ही ठंडी और गीली रेत में सूँड फैलाये मस्त लेटे हुए हैं। उनमें कितने ही नर हैं, कितनी ही मादायें। तरुण भी हैं, प्रौढ़ भी, शिशु भी; कितने ही इतने छोटे हैं कि शायद अच्छी तरह चल-फिर भी न सकते हों; और मचलते, पूँछ हिलाते, मातृस्तनों में दूध पीने में लगे हैं।

इन से दस-बारह हाथ दूर, एक बहुत ऊँचा स्थूलकाय हाथी, जिसके लम्बे दाँत तीसरे पहर की धूप में चमक रहे हैं, एक ऊँचे वृक्ष की छाया में खड़ा सूँड हिला रहा है। यह शायद यूथपति है। उसके गठे हुए भारी शरीर को देखकर मुझे अंजनवन निवासी उस एक दाँत वाले खूनी हाथी की याद आ गई जिसने यहीं-कहीं इन्हीं घाटियों में अनेक वर्ष पूर्व किसी दूसरे हाथी के साथ मल्लयुद्ध किया था। आश्चर्य नहीं, तब यही यूथपति उस खूनी का प्रतिद्वन्द्वी रहा हो। कारण, इस सारे यूथ में यही एक ऐसा पहलवान दीख पड़ रहा है जो उसकी भयंकर टक्करें झेल सका हो।

परन्तु वह खूनी ? आजकल वह कहाँ है ? बहुत दिनों से उसके सम्बन्ध में कोई समाचार नहीं सुना गया है। एक बार उड़ती हुई खबर सुनी थी कि गौरीवन के जंगलों में किसी शिकारी के हाथों वह मारा गया है। और उसकी वह प्रेमिका ? वह आजकल कहाँ है ? एक बार उसी ने तो उस खूनी को मौत के फन्दे में फँसने से बचाया था। एक बार ही क्यों; ऐसे अनेक संकटों से अनेक बार उसने उसे बचाया था। सुना गया था खूनी की प्रणयिनी बनकर भी उसने यूथ का परित्याग नहीं किया है और आज भी हाथियों के किसी यूथ में वह अपने दिन बिता रही है।

मगर श्याम के उपद्रवों का अन्त नहीं है। मैं बाइनोक्युलर लगाकर अभी उन हाथियों में से उस हथिनी को पहचानने जा ही रहा था—कारण, मैं उसे खूब पहचानता हूँ; कई बार देख चुका हूँ—कि मेरे पास ही खड़े होकर उसने एक लम्बी या ओ···ई · की पुकार से घाटी को प्रतिध्वनित कर दिया। हाथियों में एक साथ हलचल मच गई। कितने ही काले पहाड़ नाले के जल को पैरों से उछालते हुए, घबराये हुए, इधर से उधर भागते दीख पड़ने लगे।

हमारे सामने ही—गीली रेत पर विश्राम करती हुई एक हथिनी—जो बहुत ही निश्चिन्त भाव से अपने बच्चे को दूध पिला रही थी—एक साथ उठकर बच्चे को सूँड में लटकाकर एक तरफ भाग निकली। बड़ा ही विचित्र दृश्य था वह। उस भयभीत हथिनी के भयानक अभिनय में कुछ ऐसा अपूर्व सौन्दर्य भरा था कि वर्णन की अपेक्षा देखने से ही उसका अधिक सम्बन्ध था। जैसे-जैसे कोलाहल बढ़ता जाता, हथिनी की दौड़ और भी तेज़ होती जाती। मगर वह चाहे कितना ही क्यों न भाग ले, उसे अन्त में अपने साथियों से पिछड़ ही जाना पड़ेगा। अपने उस दो-तीन मन के बच्चे को उठाकर भागना उसे बहुत ही महँगा पड़ रहा था। वह चाहती तो अब भी बच सकती थी; मगर बच्चे का त्याग करने के बाद ही; उसे सूँड में से पटककर निकल भागने के बाद ही; इसके अतिरिक्त उसके लिए दूसरा चारा नहीं था, हुआ भी यही। देखते-ही-देखते यूथवाले तो आगे निकल गये; मगर वह अभी नाले को भी पार न कर सकी थी। तो भी भागती ही जा रही थी। इधर हमारा शोरगुल बढ़ रहा था, पहाड़ी से उतरते हुए हम उस हथिनी का पीछा कर रहे थे और वह प्राण बचाने के लिए बगटुट भागी जा रही थी। पचास-साठ झल्लाये हुए जंगली हाथियों के बीच में इस तरह नंगे हाथ जा पड़ने का कितना भयंकर परिणाम निकल सकता है—इसका कुछ भी विचार न कर अन्धाधुन्ध भागते हुए हम लोग जब पहाड़ी से उतरकर नाले में जा पहुँचे, हथिनी तब भी भाग ही रही थी। उसके और हमारे बीच में शायद तब फर्लांगभर से अधिक अन्तर न रह गया होगा। घबराकर जैसे ही 'शार्ट कट' करने के अभिप्राय से वह एक गड्ढे में होकर निकलने लगी कि सहसा

बच्चा उसकी सूंड में से छूटकर गिर पड़ा और वह आगे निकल गई।

हमारा ख्याल है, उसने शायद जान-बूझकर ही बच्चे को गढ़े में छोड़ दिया था। उसका कदाचित् यह विचार रहा होगा कि भय का कारण हट जाने के बाद—अर्थात् हम लोगों के वापस लौट जाने के बाद—वह आकर बच्चे को उठा लेगी। इस समय तो जैसे भी बने उसे अपनी रक्षा करनी चाहिए। या—यह भी संभव है, उसकी इच्छा बच्चे को छोड़ने की न रही हो, गढ़े में अचानक पैर ऊँचा-नीचा पड़ जाने से ही वह उसकी सूंड से छूटकर गिर पड़ा हो।

कुछ भी रहा हो; मगर हम बच्चे के सिर पर जा पहुँचे थे। इसी बीच हथिनी जंगल में किधर ग़ायब हो गई पता नहीं चला। मगर उसका बच्चा—जिसका आकर्षण ही हमें यहाँ तक खेंच लाया था—हमारे सामने पड़ा हुआ था। मेले में खोये हुए नर-शिशु की तरह भौंचक्का-सा, व्याकुल-सा, वह बहुत ही करुण स्वर से धीरे-धीरे आक्रन्दन कर रहा था। सूने गढ़े में पड़ा हुआ पत्थरों पर सिर धुन रहा था। उसके छोटे से मुख से रह-रहकर निकलती हुई पुकार में 'माँ माँ···' की ध्वनि बहुत ही स्पष्ट पहचानी जा सकती थी।

हृदय के किसी कोने में एक वेदना-सी चुभने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे अपनी माताओं से बलपूर्वक वियुक्त किये गए अतीत काल के सहस्रों · लाखों बच्चे पास ही कहीं एक साथ बिलख रहे हैं। उनकी करुण पुकार से आकाश-पाताल व्याप्त हो रहे हैं। सोचने लगा, क्या मातृवियोग की पीड़ा इतनी ही दीर्घ और चिरस्थायी होती है कि जन्म-जन्मान्तरों तक भी वह नहीं भुलाई जा सकती? तब उस पीड़ा के कारणीभूत अपराधियों का वह दण्ड भोग? वह भी तो इतना ही दीर्घ और चिरस्थायी होता होगा। कदाचित् जन्म-जन्मान्तरों तक भी उसका प्रक्षालन न हो सकता होगा।

सिहर उठा। चिल्लाकर कहा—"ठहरो। बच्चे को हाथ न लगाना।" मगर कौन सुनता है वहाँ? सभी जोश में थे। मेरे मना करने से कहीं पहले ही बच्चा रस्सियों से बाँधा जा चुका था; और अब वे लोग उसे साथ में लेकर बहुत ही खुशी से लौट रहे थे।

"अरे! यह क्या कर डाला, श्याम?"—मेरे मुख से अनायास ही निकल गया।

"वाह, तो तुम क्या यह चाहते हो, इसे शेर का शिकार बनने के लिए यहीं छोड़ दिया जाय?"

"मैं भी जानता हूँ और तुम भी कि छोड़ देने पर यह शेर का शिकार न बन सकेगा। इसकी माँ दूर नहीं गई है। कहीं आसपास ही छिपकर खड़ी है। हमारे लौटते ही वह इसे मजे में उठा कर ले जायगी।"

"तुम्हारा यह अनुमान ही तो है। यह भी तो संभव है, अपनी जान बचाने के लिए वह इसे पटककर कहीं दूर निकल भागी हो। ऐसी अवस्था में भी तुम्हारी क्या यही सम्मति है कि इसे यहीं अकेला छोड़ देना उचित है ?"

उत्तर नहीं दिया। केवल अनमना होकर उनके साथ चलने लगा। बच्चा बहुत ही भोला और छोटा था। यहाँ तक कि अभी उससे अच्छी तरह चला भी न जा रहा था। तब भी हम उसे पुचकारते हुए, थपकियाँ देते हुए, और कभी-कभी—जब वह बीच-बीच में बच्चों की तरह मचल उठता या हठ पकड़ लेता—धकेलते हुए मचान की तरफ ले जाने लगे। जानते थे, वह मनुष्य का बच्चा नहीं, हाथी का है; भूख लगने पर उसे दूध की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता पड़ेगी; इसलिए तरुण और कुमार को पहले से ही दूध के प्रबन्ध के लिए भेज दिया गया था। मीलभर पर ही गूजरों का पड़ाव है, जैसे भी बने कम-से-कम दो बाल्टी दूध का प्रबन्ध अवश्य कर दिया जाय।

मचान पर पहुँचते-पहुँचते साढ़े छः बज गए। दिन ढलने की तय्यारी करने लगा। तो भी दूर से ही पाँच-पाँच सेर दूध से भरी दो बाल्टियां देखकर थकान और चिन्ता एक साथ ही मिट गई। हाथी का बच्चा भैंस का दूध पीना पसन्द करेगा कि नहीं; सन्देह था। मगर जब बाल्टी उसके सामने रख सभी उसे घेरकर खड़े हो गये,



थोड़ी देर तक लौकिक शिष्टाचार दिखाने के बाद कुंभयोनि के दो ही आचमनों में उसने समस्त क्षीरसागर को निश्शेष कर दिया।

"वाह, पट्ठे! माँ का दूध नहीं लजाया तूने"—कहते हुए शेखर ने उसकी पीठ पर दो-चार थपकियाँ दे डालीं।

सन्ध्या-वन्दन और भोजन करते-ही-करते सूर्य का सात घोड़ों वाला रथ

पश्चिमाशा की ओर झुक गया। अंधेरा होने से पहले ही बच्चे का प्रबन्ध हो जाना आवश्यक था। अन्त में यही स्थिर किया गया कि उसे वटदादा के तने के साथ इस तरह बाँध दिया जाय कि हिलने-जुलने और उठने-बैठने की स्वतन्त्रता रहने पर भी वह रस्सी खोलकर जंगल की तरफ न जा सके। मगर शेर की तरफ से सन्देह रह ही गया। हम सब के मचान पर चढ़ जाने पर रात के अंधेरे में उसके इधर आ निकलने और उसके हाथों इसके मारे जाने में आश्चर्य की कोई भी बात न थी। इसलिए निर्णय किया गया कि तीन जनों को मचान पर भेजकर शेष पाँच नीचे ही ठहरकर बच्चे का पहरा दें। तीन को मचान पर इसलिए भेजा गया कि आवश्यकता पड़ने पर नीचे वालों को घिर्री द्वारा सहज ही ऊपर खेंच लिया जा सके।

रात के अंधेरे के साथ-साथ जंगल की भीषणता भी बढ़ने लगी। दस बजे तक तो सभी जागते और बातचीत करते रहे, मगर बाद में पहरा बैठा दिया गया। दो जने जागते और तीन सोते। दो घंटे बाद पहरा बदल दिया जाता। इसी तरह रात बीतने लगी।

तब शायद दो बजे का समय रहा होगा। आनन्द और शेखर पहरा दे रहे थे; कि अचानक शेखर ने झटककर मुझे जगा दिया और धीरे से कहा—"हाथी आ पहुँचे हैं !!"

"हाथी !!" बहुत ही अचम्भे से मैंने कहा। यदि किसी का कभी भय था तो वह, शेर का ही; हाथी का तो स्वप्न में भी ख़याल न था।

तुरन्त ही सारे कैम्प को जगा दिया गया। मशालें जला ली गईं और तेज़ टार्चों की रोशनी से चारों तरफ देखा जाने लगा कि वे लोग कहाँ तक आ पहुँचे हैं ? देखा, केवल फर्लांगभर दूर, उनका झुंड धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। धीरे इसलिए, कि मशालों के प्रकाश और टार्चों की चकाचौंध ने उन्हें काफी चौंका दिया था। मगर उससे उनका आगे बढ़ना रुक गया हो सो बात नहीं थी; माथा झुकाये, सूँड उठाये वे जमेक़दम बढ़ते ही आ रहे थे।

भाग्य अच्छे थे, मचान वालों को जगाना नहीं पड़ा; वे पहले ही जाग रहे थे और बिना कहे ही उन्होंने टोकरा तुरन्त नीचे उतार दिया, जिस पर बैठकर आनन्द और शेखर अगले ही क्षण मचान पर जा पहुँचे। टोकरा फिर उतरा; और इस बार बिहारी और मैं मचान पर थे। तीसरी बार वह फिर उतरा; मगर श्याम जैसे ही उसमें बैठा कि वटदादा के नीचे हाथियों की भाग-दौड़ सुनाई देने लगी। रक्षा के सभी यथा-संभव उपाय किये गये। रस्सी में बाँधकर पाँच-छः मशालें टोकरे के चारों तरफ एक साथ नीचे लटका दी गईं ताकि हाथी उसके पास पहुँच उसे हानि न पहुँचा सकें। इसके अतिरिक्त ऊपर से पत्थरों की जो लगातार वर्षा की जा रही थी; सो अलग।

मगर इतने पर भी टोकरे की रक्षा न की जा सकी। मशालों की परवाह न कर एक मनचले हाथी ने लपककर टोकरे को—जो अभी आधे ही रास्ते में था—सूँड से पकड़ ही तो लिया; जिससे रस्सी टूट गई और वह लुढ़कता हुआ हाथियों के बीच में जा गिरा। देखते-ही-देखते कितने ही हाथी उस पर एक साथ टूट पड़े और एक ही क्षण में उन्होंने अत्यन्त निर्दयता से उसे कुचल डाला!! दृश्य इतना भयंकर था कि देखा न जा सका।

तभी वटदादा की दाढ़ियों में होती हुई कोई चीज़ मचान पर आकर इस तरह गिरी कि सभी चौंक गये। समझा ऊपर की कोई डाल टूटकर आ गिरी है; मगर टार्च से देखा, तो श्याम खड़ा है।

क्षणभर अवाक् रहकर कहा—"तुम!!"

श्याम ने हाँफते हुए कहा—"हाँ, भाग्य अच्छे थे कि मैं बच गया। सच पूछो, तो ये हाथी लोग बहुत ही उजड्ड और गंवार होते हैं। सभ्यता तो इन्हें छू तक नहीं गई है। टोकरा अच्छा-भला ऊपर चढ़ रहा था कि इतने में ही एक गधे हाथी ने उसे एक ही झटके में नीचे खेंच लिया। मगर पास ही एक मोटी दाढ़ी लटक रही थी; लपककर मैंने उसे ही पकड़ लिया और उन कुत्तों की नज़र बचाता हुआ यहाँ तक आ पहुँचा।"—फिर कुछ देर ठहरकर मेरी पीठ पर हाथ मारता हुआ बोला—"मगर भाई, आनन्द तो तब आया होगा जब ये इतने सारे मूर्ख उस टोकरे पर एक साथ टूटे होंगे और बाद में देखा होगा, वह खाली है!!"—कहकर वह अपनी रसिकता पर आप ही हँसने लगा।

कहा—"आज तुम्हारी जिम्नास्टिक और स्थिर बुद्धि ने बड़े ही कठिन समय में तुम्हारी सहायता की, श्याम! नहीं तो·····"

× × ×

लेकिन हाथी वृक्ष के नीचे से टलने का नाम नहीं ले रहे थे। उनकी इच्छा शायद बच्चे को छुड़ा ले जाने की थी। सो, इस बारे में हम भी उनसे सहमत थे। हमारी भी यही इच्छा थी कि किसी तरह वे बच्चे को लेकर यहाँ से टलें तो जान बचे। परन्तु मुश्किल यह थी कि बच्चा रस्सियों के चक्रव्यूह में इस तरह फँसा था कि उसे छुड़ा ले जा सकना हाथियों के बस की बात न थी। इधर हाथियों की मनोवृत्ति को देखते हुए यह भी कठिन था कि हम ही नीचे उतरकर बच्चे के खोलने की व्यवस्था कर दें। हाँ, शुरू-शुरू में हाथी जब आ रहे थे, तभी यदि उसे खोल दिया जाता तो इतना बखेड़ा शायद होता ही नहीं। मगर तब किसी को यह बात याद ही नहीं आई। अब तो एकमात्र यही उपाय रह गया था कि हाथी किसी तरह थोड़ी देर के लिए टलें, तो काम बने।

बड़े ही विचित्र ढंग से इस समस्या का हल हुआ। अभी दस-बारह मिनट से अधिक न बीते होंगे कि अचानक कहीं पास ही शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी और देखा कि वटवृक्ष के नीचे का मैदान साफ हो गया है।—मैदान साफ हो गया, यह तो हुआ ही; साथ ही देर से चले आ रहे इस प्रश्न का उत्तर भी खूब साफ हो गया कि जंगल का वास्तविक राजा कौन है? शेर या हाथी?—"For he knew—what every one else knows—that when the last comes to the last, Hathi is the Master of the Jungle." उस दिन, जंगल-विशेषज्ञ रुडयार्ड किप्लिंग की उपर्युक्त सम्मति हमें यहाँ बहुत ही सन्देहजनक प्रतीत हुई।

शेर की दहाड़ से हमारा विशेष उपकार न हुआ। उसके कारण हाथियों की समस्या के स्थान पर एक दूसरी ही नई समस्या आकर खड़ी हो गई। हाथियों के कारण हमारी सुरक्षा पर चाहे जैसी भी विपत्ति आ पड़ी हो, बच्चे का जीवन सुरक्षित था। मगर अब मैदान में शेर के उतर आने से बच्चे का जीवन भी संकट में आ पड़ा था, जिसकी रक्षा करना हमारा पहला कर्तव्य था। अपने धूर्त स्वभाव के अनुसार—चुपचाप टोह लगाता—वह कभी भी वृक्ष के नीचे आ निकल सकता था और तब बच्चे की किसी भी तरह कुशल न थी। इसीलिए वृक्ष से उतर नीचे पहरा बैठाने की बात फिर आवश्यक हो उठी।

चार जने उतरने जा ही रहे थे कि नीचे से आवाज आई—"बच्चा खुल गया था, उसे फिर बाँध दिया है—अरे, यह कौन नीचे उतर रहा है? ऊपर ही रहो, जी! हाथी फिर आ पहुँचे हैं।"

आवाज, श्याम की थी। न जाने वह कब चुपचाप नीचे उतर गया था। कहा—"अगर हाथी आ ही रहे हैं, तो तुम्हीं नीचे क्यों खड़े हो? नीचे जब जा ही पहुँचे थे तो बच्चे को खुला ही क्यों न रहने दिया? खैर, अब जल्दी ही ऊपर आ जाओ। हाथी तो सचमुच ही आ पहुँचे।"

"आ पहुँचे, तो हमीं कौन पीछे हैं? हम भी आ पहुँचे"—कहते हुए श्याम ने जैसे ही कूदकर मचान पर पैर रखा कि दादा की नीचे की धरती एक बार फिर हाथियों से भर उठी।

उनका इस बार का आक्रमण पहले की अपेक्षा अधिक भयंकर था। यदि वह कदाचित् सफल हो जाता तो मचानसमेत हमें तो नीचे आना ही पड़ता, वटदादा की भी पूरी दुर्गति हो जाती। इतनी ही देर में उन्होंने जैसा 'हत्याकाण्ड' मचा डाला था, वटदादा के लिए वही कम क्षतिजनक न था। सूँडों से पकड़-पकड़कर उन्होंने कितनी ही दाढ़ियाँ तोड़ डाली थीं। चारों तरफ एक तूफान-सा आ रहा था। ऐसा जान पड़ रहा था जैसे इस बार उनका सारा ही विद्रोह दादा की दाढ़ियों के ही विरुद्ध

है। प्रायः सारे ही हाथी उन्हें ही पकड़-पकड़कर खेंच रहे थे। उनकी इन हरकतों के कारण वृक्ष की उन सभी शाखाओं को भय हो गया था, जिनसे फूटकर वे लटक रही थीं। हमारी मचान की भी कुशल न रही थी। वह जिन दो सुदृढ़ शाखाओं पर बँधी थी, उनमें से फूटकर भी कितनी ही दाढ़ियाँ नीचे लटक रही थीं। हाथी उन्हें भी खेंच रहे थे और मचान पर एक चिरस्थायी भूकम्प-सा आया हुआ था। वह कब टूट जाय, कुछ पता न था।

प्राचीन भारतीय युद्धपद्धति में एक बड़ा दोष यह बताया जाता है कि राजा, सेनापति या झंडे के गिरते ही सेना के पाँव भी उखड़ जाया करते थे। भारतीय युद्ध-पद्धति में यह दोष रहा हो या न रहा हो, मगर हमें यह अच्छी तरह पता था कि हाथियों के झुंड में यह दोष अवश्य होता है। उनके यूथपति के मरते या भागते ही शेष हाथी भी मैदान से भाग खड़े होते हैं। इसलिए दूसरी सब बातों को छोड़कर हम उनके यूथपति की ही खोज में लगे थे। अभी सात-आठ घंटे पहले ही पहाड़ी पर खड़े होकर हमने उसे खूब अच्छी तरह देखा था। अपने भारी शरीर तथा दोनों लम्बे दाँतों से वह जल्दी ही पहचाना जा सकता था। सो उसके खोज लेने में अधिक देर न लगी और तुरन्त दो जलती हुई मशालें उसकी तरफ उतार दी गईं। काले नाग की तरह मशालों ने जैसे ही उसकी पीठ को डसा, एक ऊँची चिंघाड़ के साथ वह मैदान छोड़कर निकल भागा। आगे का काम कठिन न था। बचे हुए हाथियों को खदेड़ देने में हमें विशेष कष्ट न उठाना पड़ा। अपने स्वभाव के अनुसार वे स्वयं ही भाग गये।

लेकिन एक हाथी अब तक भी न भागा था। वह हाथी न होकर शायद वही हथिनी रही होगी जो कल शाम अपने बच्चे को गढ़े में छोड़कर भाग गई थी। इस समय वह अपने सब साथियों के विदा हो जाने पर भी बच्चे को छुड़ा ले जाने का अटल निश्चय कर अकेली ही मैदान में डटी हुई थी। लेकिन हमारी सहायता के विना बच्चे का छुड़ाया जा सकना एक प्रकार से असम्भव ही था; और कठिनाई यह थी कि हमारी सहायता वह लेना नहीं चाहती थी। इसे ठीक 'नहीं चाहती थी' तो नहीं कहा जा सकता था; मगर अपने स्वाभाविक पाशविक अज्ञान और हमारे दुर्व्यवहारजन्य भावान्तर के कारण उसने स्वयं ही एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी कि हमारी सहायता प्राप्त कर सकना उसके लिए एकदम असम्भव हो गया था। बच्चे को बंधनमुक्त कर देने के लिए श्याम ने कई बार वृक्ष से उतरने की चेष्टा की; मगर हर बार हथिनी ने उसे नहीं उतरने दिया। सूँड उठाकर, चिंघाड़कर वह इस तरह उस पर झपटती थी कि विवश होकर उसे मचान पर ही लौट आना पड़ता था। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत ही विचित्र हो उठी थी। बच्चे के सम्बन्ध में हमारा और हथिनी का एक ही उद्देश्य रहते हुए भी बच्चा उसे नहीं सौंपा जा सक रहा था। हम जानते थे बच्चे

को उसकी माँ के हाथ में सौंपकर छुट्टी पा जाने का इससे अच्छा अवसर और नहीं मिल सकेगा; और इसीलिए अपने को संकट में डालकर भी श्याम वृक्ष से नीचे उतरने की चेष्टा कर रहा था। इस तरह शायद वह अपने उस अपराध का प्रक्षालन भी कर लेना चाहता था; बच्चे को पकड़ने के षड़यंत्र का नेतृत्व कर जो उसने किया था। मगर उस हथिनी को ये सब बातें वह कैसे समझाता ? वह कैसे समझाता, कि इस बार वह जो वृक्ष से उतरना चाहता है वह उसके बच्चे को खोलकर उसके हाथ सौंपने के लिए ही। दूसरा कोई भी अभिप्राय उसका नहीं है।

मगर जब प्रभात के हलके लाल रंग का अस्फुट प्रकाश वृक्ष के नीचे फैल गया, देखा, हथिनी नहीं है और बच्चा उसी तरह चुपचाप खड़ा हुआ है। पहले तो सन्देह हुआ हथिनी कहीं दूर नहीं गई है; कहीं आसपास ही किसी सघन वृक्ष के अंधेरे में छिपकर खड़ी हुई है। मगर जब हम लोगों के वृक्ष से नीचे उतरकर बहुत देर तक खड़े रहने के बाद भी किसी के आने की आहट नहीं मिली, समझ लिया हथिनी भी निराश होकर लौट गई है।

बच्चे के पास जाकर देखा तो वह रो रहा है। कितने ही गाढ़े आँसू उसकी आँखों के नीचे बहकर सूख गये हैं, जिनसे जान पड़ता है वह रातभर रोता रहा है; और जब माँ और बेटे का मिलन हुआ है तब तो शायद उसकी रोती हुई माँ ने उसे अपने गले से लगाकर खूब ही रुलाया है। विदा होते समय वह जिस तरह मातृवेदना की हूक इसके हृदय में भर गई है, अपने मातृस्तनों के अन्तिम दूध से इसका पेट भर जाना भी शायद नहीं भूली है। निश्चय ही अब वह दूर निकल गई होगी। मगर यदि उसके पास पहुँचकर उसकी आँखों को देख सकने का कोई उपाय हमारे पास रहा होता, तो निश्चय ही इस बच्चे की तरह उसकी आँखें भी आँसुओं से भरी हुई मिलतीं। जिस मार्ग से वह विदा हुई होगी उसकी कल्पना कर मैं कितनी ही देर तक उसके ख्याल से उधर देखता रहा। ऐसा लगा जैसे व्यथा की एक साकार छाया बहुत ही धीरे-धीरे उस मार्ग पर चली जा रही है।

निश्चय किया कि जैसे भी बने बच्चे को आज ही उसकी माँ के पास छोड़ आया जाय। अवश्य ही वह कहीं बहुत दूर न गई होगी। अगली रात के पुनर्मिलन की आशा से वह अवश्य ही पास ही कहीं लेटी पड़ी होगी। यों तो उसके पद-चिन्हों से भी उसका पता लगा लेना कठिन नहीं है। स्नान-सन्ध्या से निवृत्त हो जैसे ही बच्चे को साथ लेकर पहाड़ियों की तरफ चलने के लिए तय्यार हुए, दो फारेस्ट गार्डों के साथ आते हुए रेंजर ने दूर से ही हमें नमस्कार किया। वे मेरे सुपरिचित हैं। मुस्कराते हुए बोले—"जंगली हाथियों के सम्बन्ध में वन-विभाग का जो नियम है, आप तो उसे अच्छी तरह जानते हैं, निधि बाबू। तब इस हाथी के बच्चे को किधर ले जाने की तय्यारी

हो रही है ?"

"जंगल की धरोहर को जंगल में ही छोड़ आने का विचार किया जा रहा है जनाब !" मैंने कहा।

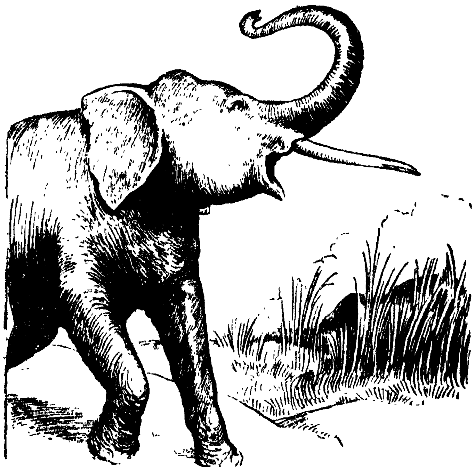
"मगर हाथी अब इसे क्योंकर स्वीकार करेंगे ? किसी शेर का आहार बनाने के अतिरिक्त इस समय आप इसका कोई भी उपकार न कर सकेंगे।"

"हमारे रहते शेर का आहार बन सकने की बात तो समझ में नहीं आती। तिस पर हाथी और उसकी माता रातभर यहीं थे। अभी थोड़ी ही देर पहले विदा हुए हैं। ढूँढ़ा जाय तो सहज में ही मिल सकते हैं और बच्चा उनके हवाले किया जा सकता है।"

"नहीं, सरकारी नियमानुसार अब यह वन-विभाग की सम्पत्ति है। अभी तो हम इसे अपने साथ लेजाने के लिए ही बाधित हैं। बाद में विभाग जैसा आदेश देगा, किया जा सकेगा।

× × ×

दो महीने बीत गये। अन्य कितने ही कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उस बच्चे के सम्बन्ध में आगे कुछ भी समाचार न जाने जा सके। तभी एक दिन गाँव के एक चरवाहे ने आकर सूचना दी कि कई दिन तक लगातार भूखे रहने के बाद खैरावन की एक घाटी में कल ही एक हथिनी की मृत्यु हुई है। उसने अपनी आँखों से हथिनी का मृत शरीर देखा है। तुरन्त सब काम छोड़ मैं चरवाहे के साथ चल पड़ा। पहुँचकर देखा, वही हथिनी है जिसके बच्चे को छीनने का महापाप हमने किया था। बच्चे के वियोग में उसने तड़प-तड़पकर प्राण दे दिये हैं और अपने अभागे शरीर को नितान्त निर्मोही की तरह गिद्धों और चीलों के आगे पटक दिया है।



बताया गया कि इसी स्थान पर, जहाँ अब उसका शव पड़ा है, पूरे डेढ़ मास तक वह बिना अन्न-जल ग्रहण किये पड़ी रही। न जाने कौन नित्य ही उसके लिए, इस पास के गढ़े में ताजा पानी और ताजे टूटे हुए फल-मूल और पत्ते रख जाया करता

था, मगर इसने कभी उन्हें छुआ तक नहीं और एक दिन प्राण दे दिये। यह भी पता चला कि जंगलात वाले उस बच्चे की रक्षा न कर सके। उनका दिया हुआ दूध उसने छुआ तक नहीं; पानी भी नहीं पिया और अन्तिम श्वास तक 'माँ माँ' करते हुए ही उसने प्राण त्याग दिये।

चरवाहा अभी ये सब समाचार सुना ही रहा था; देखा कि एक हाथी उस शव के पास आकर खड़ा हो गया है। अरे! यह तो वही खूनी हाथी है, जिसके बारे में सुना था कि वह मर गया है। मगर उसका खूनीपन अब शायद उसमें नहीं रह गया था। हमें देखकर भी वह हम पर झपटा नहीं। उसने आकाश की तरफ सूँड उठाकर अपनी मृत प्रेमिका के उद्देश्य से--चूंकि यही वह उसकी प्रसिद्ध प्रेमिका थी—अंतिम प्रणाम किया। मानो वह कह रहा था--"करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां, वद, किं न मे हृतम्।"

१२

क्षणिक सौन्दर्य

—"ग्रीष्म के अवतीर्ण होते ही, असंख्य विकसित फूलों से वनश्रेणियाँ हँस उठीं। माधवी और मालझाड़ की लताओं पर लाल और श्वेत फूलों की बाढ़-सी बह चली।—परन्तु, उधर के वनों में, उन पत्र-पुष्प-विहीन झरबेरी की झाड़ियों के कारण वन की शोभा जब कुछ म्लान-सी होने लगी, तब उनके पास ही खड़े हुए अमलतासों और कचनारों के पीले, जामुनी फूलों ने मुस्कराकर कहा—कुछ चिन्ता नहीं जी, हमारे रहते वह म्लान न हो सकेगी !!—परन्तु, इससे क्या यह समझ लिया जाय, कि इन अमलतासों और कचनारों को अपने सौन्दर्य पर कुछ अभिमान है ?—नहीं; जी'''नहीं।—उन्हें खूब पता है; कि अभी थोड़े ही दिन बाद—शरद ऋतु के आते ही—सौन्दर्य के इस क्रम में विपर्यास हो उठेगा। तब आज की यह सूखी झरबेरियाँ ही, जो आज श्रीविहीन हैं, असंख्य हरे पत्तों के परिधान और लाल-पीले बेरों के अगणित कर्ण-कुंडलों से सज उठेंगी; और तब हमारा यह सौन्दर्य ?—यह तो तब तक नष्ट हो जायगा। हाय रे, तुम मानव लोग इस सत्य को कब समझोगे, यह तो पता नहीं; परन्तु, हम अचेतन कहे जाने वाले लता-द्रुमों ने तो इस परम तथ्य को चिरकाल से समझा हुआ है कि क्षणिक सौभाग्य, अस्थायी यौवन और अल्पायुष सौन्दर्य पर अभिमान करने जैसी मूर्खता इस संसार में और नहीं है। गीता के उस स्थितप्रज्ञ की तरह हम तो सदा ही—दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः—बने रहते हैं।"

—वटदादा के सायंकालीन प्रवचन से उद्धृत

१३

हे तपोवन !

हे शिवालक के तपोवन !
हे चिरंतन-प्राच्य संस्कृति की महासंस्था पुरातन !
सूर्य के उदयास्त की ऐसी कहाँ पर दिव्यतायें,
तव क्षितिज में खेलतीं, जैसी मधुर सायं-उषायें ?
रजनियों की स्तब्धता में—वे, गगन की तारिकायें,
नव तुषारों से सदा करतीं प्रथम किसका नवार्चन ?
—नित्य तेरा, नित्य तेरा, हे महावन !
धन्य, निर्झर-नीर-सिंचित पुण्य पावन धाम तेरे,
धन्य तेरी घाटियाँ, पुष्पित लता-द्रुम धन्य तेरे।
मालिनी के कुंजवन वे धन्य तेरे पार्श्ववर्ती,
आज भी रहते जहाँ मृग—कण्व-दुहिता-स्नेहभाजन।
—हे प्रकृति के दिव्यतम क्रीड़ा निकेतन !
नगर-स्पर्श-विमुक्त-हिमगिरि-गह्वरों की शून्यता में—
हो समाहित, चिरयुगों से दे रहा संदेश जो तू,
भ्रांत मानव ने अगर उसको न समझा आज—तो क्या!
एक दिन होकर रहेगा, देख लेना रवि-प्रकाशन ।
—श्रान्त जग के हे परम विश्राम-साधन !

१४

प्रणाम, हे कण्वाश्रम !

हरद्वार से देहरादून जाने वाली साढ़े चार बजे रात की एक्सप्रेस ने —कण्वाश्रम की दूसरी और बिलकुल नई यात्रा के लिये—हमें ठीक साढ़े पाँच बजे रायवाला जंकशन पर जा उतारा। जंकशन नाम सुनकर किसी भारी-भरकम स्टेशन की कल्पना न कर बैठियेगा। स्टेशन छोटा-सा ही है। पीठ-पीछे शिवालक पर्वत, तीन तरफ जंगल, बीच में दो-तीन छोटे-मोटे कमरों वाला स्टेशन नामधारी एक लंबोतरा-सा मकान और उसके सामने एक कच्चा-पक्का-सा प्लेटफार्म; कुल मिलाकर बस इतनी ही उसकी विभूति है। तो भी इसे जो 'जंकशन' पुकारना पड़ता है वह केवल इसलिए, क्योंकि जंकशन कहलाने के लिए जिन शर्तों को पूरा करना आवश्यक है इसने उन्हें पूरा कर दिया है। दिल्ली से देहरादून जाने वाली मुख्य लाइन तो इस पर से गुजरी ही है, हरद्वार से ऋषिकेश जाने वाली एक दूसरी छोटी लाइन का निकास भी यहीं से हुआ है। इस प्रकार दो पृथक् रेलवे लाइनों का विभाजन-स्थान होने के कारण रेलवे-शास्त्र ने इसको भी अपने नाम के साथ 'जंकशन' की उपाधि लगाने का अधिकार दे डाला है।

ख़ैर, जाने दीजिये। स्टेशन चाहे कितना ही छोटा क्यों न रहा हो, उस प्रभात-वेला में उस पर उतरकर तृप्ति का जो एक रहस्यमय आनन्द उस समय मिला, वह सचमुच ही अनिर्वचनीय था। सिगरेट के धुएँ और बीसियों यात्रियों के रातभर के श्वास-प्रश्वास की दुर्गंध से भरे हुए ट्रेन के डब्बे से निकलकर हम जब इसके सीधे-सरल प्लेटफार्म पर आ खड़े हुए तो ऐसा लगा जैसे यातनाओं से भरी किसी नारकीय योनि से निकलकर किसी मोक्षधाम में आ पहुँचे हों। जंगलों की ओषजन मिश्रित स्वच्छ-ताज़ी हवाओं ने हमें एकबारगी ही नई आशा और नई स्फूर्ति से भर दिया।

प्लेटफार्म के सामने ही रेलवे लाइनों का एक जाल-सा बिछा है, जिसे लाँघने पर जंगल शुरू हो जाता है। इस जंगल में से होकर जो एक अस्पष्ट-सा मार्ग गया है, यही कण्वाश्रम का यात्रा-पथ है। यहीं से कण्वाश्रम की पैदल यात्रा शुरू होती है।

वैसे कण्वाश्रम जाने के लिए सबसे छोटा और सुगम मार्ग नजीबाबाद से कोटद्वार होकर गया है। उसमें कष्ट भी कम है; और समय की बचत भी है। परन्तु कालिदास के कण्वाश्रम का विस्तृत तथा सही-सही परिचय पाने के लिए उस तथा

अन्य मार्गों की अपेक्षा यही मार्ग अधिक उपयोगी है। इसलिए हमने जान-बूझकर ही इस मार्ग को पकड़ा था।

स्टेशन के पीछे ही दो-तीन दुकानें हैं। वहाँ से आवश्यक राशन खरीद हम लोग साढ़े छः के लगभग यात्रा के लिए निकल पड़े।

सबसे पहला पड़ाव गौरीघाट आता है, जो रायवाला से लगभग चार मील दूर गंगा के उस पार है। रास्ते में परतीतनगर नामक एक पहाड़ी गाँव और सोंग तथा सुषवा नामक गंगा की दो सहायक नदियाँ मिलती हैं, जिनके कारण आधे से अधिक रास्ता रेतीला और पथरीला है; पाँव रेत में धँसते हैं और चाल तेज़ नहीं रखी जा सकती। तो भी प्रभात का समय इतना ठंडा और सुहावना था कि हमें गंगा पर पहुँचने में दो घंटे से अधिक नहीं लगे।

वहाँ, किनारे पर ही दो तमेड़िये मिले, जिन्होंने बताया कि अभी नाव लगनी शुरू नहीं हुई है और तमेड़ों से ही पार होना होता है। उतराई की दर आठ आना प्रति सवारी है। सो, दो रुपये के एक लाल नोट की दक्षिणा लेकर तमेडियों ने हमें गौरीघाट पर उतार दिया।

घाट के पास ही एक पीपल का वृक्ष है, जिसके नीचे सीमेंट का पक्का चबूतरा बना है। पास ही माँझियों की दो चार झोंपड़ियाँ बनी है और जंगलात की तरफ से एक-दो पक्की कोठरियाँ भी बनी हुई हैं। चबूतरा साफ और स्वच्छ था; बैठकर आधे घंटे तक विश्राम किया।

यहाँ से तीन कच्चे रास्ते तीन तरफ गये हैं। एक ऋषिकेश की तरफ, दूसरा गौरीवन की तरफ और तीसरा कंडरा की तरफ। कण्वाश्रम जाने के लिए यह कंडरा वाला ही मार्ग है। परन्तु गौरीघाट तक पहुँचकर फिर गौरीवन के पुण्य दर्शन न किये जाते, यह कैसे हो सकता था?

अभी चबूतरे पर बैठे शायद दस ही मिनट हुए होंगे, कि देखा, सात-आठ आदमी—जो पहरावे और रंग-ढंग से मोटर वाले जान पड़ते थे—गौरीवन की तरफ से उदास-सा मुँह लिए चले आ रहे हैं। पूछने पर वे सचमुच ही ट्रक वाले निकले। उन्होंने बताया कि बड़े सबेरे ही वे अपनी ट्रक लेकर गौरीवन की तरफ सोख्ता ढोने गये थे। भरकर लौट ही रहे थे कि रास्ते में एक भारी दलदल में उनका ट्रक फँस गया और बहुत माथापच्ची करने पर भी नहीं निकाला जा सका। लाचार, निराश हो उसे वहीं भगवान-भरोसे छोड़ इधर चले आये हैं। ट्रक कैसे निकाला जाय कुछ सूझ नहीं पड़ रहा।

सूझ हमें भी नहीं पड़ रहा था; इसलिए समवेदना प्रकट करने के अतिरिक्त—जिससे उनका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं था—कुछ न किया जा सका। अन्त में, इधर-

उधर की दो-चार और भी बातें कर वे लोग जब गंगा की तरफ उतर गये, अपने प्रोग्राम के अनुसार हम भी चबूतरे से उतर गौरीवन की तरफ चल दिये; और आधे ही घंटे में वहाँ जा पहुँचे।

स्थान सचमुच ही सुन्दर है। किसी अतीतकाल में किसी तपोधन का आश्रम रहा हो तो आश्चर्य नहीं। बेतों के कुंजों में से निकलता हुआ एक छोटा-सा स्वच्छ नाला पूर्व से पश्चिम की तरफ बह गया है। उसके एक ओर बाँसों के झुरमुटों से भरा हुआ नील श्यामल पर्वत और तीन तरफ घना जंगल छाया है। यह वन ऊँचे वृक्षों के लिए प्रसिद्ध है। जामुन और गूलर के वृक्ष भी यहाँ सौ-सौ फीट से कम ऊँचे नहीं हैं। दिन में भी एक भयजनक सन्नाटा रहता है। हालत ऐसी है कि जंगल की विपत्ति कब, किधर से आ निकले कुछ भरोसा नहीं है।

नाले के किनारे ही एक छायादार वृक्ष है, जिस के नीचे बिछी हुई पीले पत्तों की पर्णशय्या पथिकों को विश्राम का निमंत्रण दे रही थी। पास ही एक दूसरे वृक्ष पर चौड़े पत्तों से भरी मालझाड़ की बेल फैली हुई थी। पहले तो थोड़ी देर उसकी छाया में बैठ विश्राम किया; फिर मालझाड़ के पत्ते तोड़ पाँच-छः पत्तलें बना डालीं और जंगल में से थोड़ी-सी सूखी लकड़ियाँ बटोर छाया में लाकर रख दीं। खोजने पर, नाले के किनारे पड़ी हुई एक चौड़ी सपाट शिला भी मिल गई; जिसे खूब धोकर उस पर आटा गूँध लिया गया। फिर, तीन-तीन पत्थरों वाले दो चूल्हे बनाकर, आग सुलगा कर, एक पर पतीली में लिपटवाँ आलू बना डाले और दूसरे पर तवा रख पराँठे तैयार कर लिए। सारे ही काम में डेढ़ घंटे से अधिक नहीं लगा। सम्भव है, अनाड़ी हाथों से बने हुए उस भोजन में कितने ही प्रकार की कमियाँ रह गई हों, परन्तु नागरिक वातावरण से दूर, उस एकान्त जंगल में बैठकर उसे तैयार करने में जो आनन्द मिला वह स्वर्ग के सैंकड़ों आनन्दों से कहीं बढ़कर था। उसे सहज में नहीं भूला जा सकता।

अब नहाने की बारी थी। नाले के किनारे के एक वृक्ष ने गिरकर नाले के आरपार एक पुल बना दिया है। पहले तो उस पर उछल-कूद की गई, बाद में कपड़े उतार सब एक ही साथ नाले में उतर गये। पानी ठंडा तो था परन्तु गहरा न था। तो भी स्नान के आनन्द में किसी तरह की कमी नहीं रही।

अभी शायद आधा ही स्नान किया होगा कि बाईं तरफ वाले जंगल में से एक हलका-सा शब्द सुनाई पड़ा; जैसे कहीं पर कोई वृक्ष की शाखा तोड़ रहा हो। भय तो लगा ही, उत्सुकता भी उतनी ही बढ़ गई; नाले से निकल, भोजन और दूसरा सब सामान वहीं धरा छोड़, बहुत ही दबेपाँव उधर चल दिये, जिधर से शब्द आ रहा था। फर्लांग भर भी न गये होंगे; देखा, एक खूब ऊँचा भारी-भरकम जंगली हाथी, जिसके लंबे नुकीले दाँतों ने उसे और भी भयंकर बना दिया है, बाँस के हरे

डंडे को मजे में चबाता हुआ एक छायादार वृक्ष के नीचे मस्त खड़ा है। पास ही बाँस के झुरमुट में से कुछ पत्ते तोड़कर खाती हुई एक हथिनी भी खड़ी है, जिसका कद हाथी से कुछ छोटा है। उनके अधिक पास जाने का साहस नहीं हुआ। एक तो बिलकुल खाली हाथ थे; दूसरे, यदि कहीं ये दोनों 'हनीमून' पर निकले हुए हों, जैसा कि उनके इस एकांत विहार से मालूम पड़ रहा था, तो इस समय छोटा-सा विघ्न भी उनके क्रोध का पारा चढ़ा देने के लिए काफी था। यही सब सोच हम लोगों ने एक सुरक्षित आड़ में खड़े होकर उन्हें देखते रहने में ही संतोष माना। परन्तु वे वहाँ अधिक देर तक नहीं ठहरे और हटकर पहाड़ की ओट में अंतर्धान हो गये।

इच्छा तो हुई, कुछ दूर तक इनका और भी पीछा किया जाय, परन्तु भूख इस ज़ोर से लग रही थी कि वापस लौट आना आवश्यक हो गया।

आकर देखा तो भोजन ग़ायब। न परांठे हैं, न सब्ज़ी। पास ही गीली रेत पर बंदरों के ताज़े पद-चिह्न पड़े हैं। समझ लिया, चोर कौन है। परन्तु इस समझने से अब बनता क्या था। न चोर को ही पकड़ा जा सकता था, न चोरी का माल ही बरामद किया जा सकता था। चुपचाप संतोष कर लेना पड़ा। बल्कि, यह देखकर एक प्रकार से प्रसन्नता ही हुई कि दूसरा सब सामान सुरक्षित है। फोटो कैमरे, बाइनोक्युलर, टार्च, कंबल, चादरें और पहिनने के कपड़े सब वैसे ही पड़े हैं। उन्हें हाथ नहीं लगाया गया है।

बारह बज चुके थे। कंडरा की तरफ चलने का समय हो रहा था। तो भी ट्रक वालों की ट्रक के सम्बन्ध में अभी कौतूहल बना ही हुआ था। जहाँ वह दलदल में फँसी थी, उनके बताये अनुसार वह स्थान यहाँ से आधा मील से कम ही रहा होगा। सड़क पास ही थी। ट्रक के पहियों के ताज़े चिह्न उस पर अब भी पड़े थे, अभी अधिक सूखे नहीं थे। उन्हीं के साथ-साथ चलते हुए अभी शायद तीन फर्लांग भी न गये होंगे कि देखा, सामने ही सूखी सड़क पर एक ट्रक मज़े में खड़ा है। आस-पास कहीं भी दलदल का चिन्ह नहीं है। हाँ, ट्रक के पहियों पर लगे हुए ताज़े कीचड़ से यह पता अवश्य चल रहा है कि अभी हाल में ही कोई उसे कीचड़ में से निकालकर यहाँ खड़ा कर गया है। कहीं भी कोई टूट-फूट न थी। लकड़ियों का ढेर, जो कम-से-कम सवा सौ—डेढ़ सौ मन से कम न रहा होगा; उस पर वैसे ही लदा हुआ है।

पहले तो सोचा, उसे ट्रकवालों ने ही किसी तरह कर-कराके निकाल लिया होगा। परन्तु बाद में ध्यान से देखने के बाद जब पहियों की कीचड़ मिश्रित लीक के साथ-साथ कीचड़ में सने हुए हाथी के पद-चिन्ह भी दीख पड़े, समझ लिया अवश्य ही किसी जंगली हाथी ने ही दलदल में से निकालकर उसका उद्धार किया है।

जंगली हाथियों के सम्बन्ध में मुझे कई प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव लेने का अवसर मिला है परन्तु उन सबका सम्बन्ध हानि और विनाश के साथ ही अधिक पाया गया है। यह मेरा पहला ही अनुभव था जब किसी जंगली हाथी ने एक उपयोगी वस्तु को तोड़-फोड़कर नष्ट कर देने के बजाय उसकी रक्षा की थी।

सुन रखा था, दक्ष प्रजापति की कन्या सती के साथ विवाह होने के बाद गौरीपति ने अनेक दिनों तक इस वन में गौरी के साथ अपना मधुमास बिताया था। इसीलिए तो इसका नाम गौरीवन है। यह भी प्रसिद्ध है कि उन अतीत दिवसों का स्मरण करने के लिए आज भी वे गौरी के साथ कभी-कभी इस वन में भ्रमण के लिए आया करते हैं। तो क्या, हाथी और हथिनी के रूप में ये कहीं वे ही तो न थे? दुःखी प्राणियों के दुःख पर दयार्द्र हो जाने वाली गौरी ने कहीं इन ट्रकवालों को कष्ट-मुक्त करने के लिए अपने प्रभु से अनुरोध तो नहीं किया था? अवश्य यही बात है। निश्चय ही वे प्रभु ही थे। भक्तों का उद्धार करने वाले वे शंकर ही थे, जो इस प्रकार ट्रक का निस्वार्थ उद्धार कर चुपचाप कहीं अंतर्धान हो गये हैं। मैंने मन-ही-मन उन दोनों वनदेवताओं को प्रणाम किया।

चमकते अंगारे

गौरीघाट पर लौटकर देखा, ट्रकवाले नहीं हैं। इधर हमारे पास भी अब ठहरने का अधिक समय नहीं था। सामने ही, चबूतरे पर तमेड़िये बैठे थे। उन्हें ही ट्रक का सारा किस्सा सुना दिया और कह दिया कि ट्रकवालों से कह दें।

दो बज रहे थे। सामान संभाला और कंडरा की तरफ चल पड़े। कंडरा यहाँ से लगभग बारह मील है। चार मील प्रति घंटा की चाल से वहाँ मजे में पाँच बजे तक पहुँचा जा सकता है। परन्तु मुश्किल यह है कि मार्ग दुर्गम है। कोई निश्चित रास्ता नहीं है; न भविष्य में बन सकने की आशा ही है। अधिकांश रास्ता पथरीला और रेतीला है। इससे हमने अनुमान लगाया कि हमारी चाल की औसत बीस-पच्चीस मिनट प्रति मील से अधिक न हो सकेगी और एक घंटे में ढाई-तीन मील से अधिक रास्ता तै न किया जा सकेगा।

अब जो कुछ भी हो। चल तो दिये ही। आधा मील तक तो रास्ता मजेदार रहा। मगर बाद में दुर्गम हो उठा। चारों तरफ घने वृक्षों से छाया हुआ निश्शब्द जंगल, आगे-पीछे चारों ओर बारह-बारह फीट ऊँची झाड़ियाँ; जिन्हें हाथों से धकेलते हुए चलना पड़ रहा था। कभी-कभी किसी बारहसिंगे या काकड़ की पुकार, या किसी सूने वृक्ष पर बैठे किसी अकेले पक्षी का कर्कश स्वर सुन जाता था। कहीं-कहीं जंगल के भीतरी भागों में चलते हुए किसी पशु के पद-शब्द भी कानों में आ लगते

थे। परन्तु हमारे पास यह जानने का समय नहीं था—वह कौन है ? संभव है हरिण ही हो; नीलगाय हो; या इतने घने जंगल में रीछ या शेर हो तो भी आश्चर्य नहीं। मगर हमारा चलना बराबर जारी था और उनके कारण हमारी यात्रा में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ रहा था। हमने साढ़े तीन बजे से पहले ही इस चार मील के जँगल को पार कर लिया।

इसके बाद कंडरा तक सारा ही रास्ता रेतीला और पथरीला है। जंगल से निकलते ही एक खूब दूर तक फैला हुआ रेतीला मैदान दीख पड़ता है। जहाँ तक दृष्टि डालो—रेत या पत्थर दूसरा कुछ नहीं। बीच में एक पतली-सी नदी 'कादंबरी' की म्लेच्छ कन्या की तरह इठलाती हुई बह रही है। नाम है—विदासिनी। यदि विलासिनी नाम रहा होता, अधिक ठीक रहता। कहीं डेढ़ गज़ चौड़ी, कहीं दो या तीन गज़। पानी—मटमैला, गरम-सा, बेस्वाद। परन्तु प्यास ज़ोर से लग रही थी। मजबूरी थी। थोड़ा-थोड़ा उसी में से पीकर आगे चल पड़े।

रेत में पाँव धंस रहे हैं। चाहने पर भी चाल तेज़ नहीं की जा सक रही। बहुत होगी तो पच्चीस मिनट प्रति मील; अधिक नहीं। तो भी नदी के बहाव के विरुद्ध उसके साथ-साथ ऊपर की तरफ चलते हुए तीन मील का मैदान साढ़े चार बजे तक पार कर ही लिया। यहाँ नदी का जल कुछ अधिक स्वच्छ हो गया है। चौड़ाई भी इतनी है कि उसे नदी कहकर पुकारना उपहास नहीं जान पड़ता।

हरे-भरे वृक्षों से छाये हुए ऊँचे पर्वत दोनों तरफ खड़े हैं और उनके बीच में सितम्बर मास का दिन समय से कुछ पहले ही इस तरह फीका पड़ने लगा; जैसे, असमय में ही कोई सुन्दरी प्रौढ़ा हो उठी हो। सूर्य की किरणों में भी वैसी प्रखरता नहीं रही।

रेत में लगातार चलने से एक प्रकार की थकावट-सी अनुभव हो रही थी और जी कर रहा था किसी जगह ठहरकर स्नान कर डाला जाय तो बात बने। थोड़ा ही और आगे बढ़ने पर एक गाँव दीख पड़ने लगा। पहाड़ी किसान खेतों में काम कर रहे थे। गाँव के दोनों तरफ से दो छोटी-छोटी नदियाँ पहाड़ के साथ बहती हुई यहाँ मिली हैं। संगम पर पानी भी कुछ अधिक गहरा है। होगा, कमरभर। सो, इसी के किनारे बैठ, कपड़े उतार कुछ देर तक तो पसीना सुखाया; फिर जल में उतर खूब जी भरकर स्नान किया।

नहाकर निकले तो पता चला, थकावट तो मिट गई है मगर भूख और भी अधिक चमक उठी है। गौरीवन के बंदरों की कृपा से दिनभर तो उपवास में बीता ही था, अब इस साँझ को, यदि यहाँ कुछ मिल जाय तो सौभाग्य ही समझो।

गाँव में जा पहुँचे। दुकान तो थी, मगर बन्द। खूब मोटा ताला पड़ा था;

अर्थात् खुल सकने की कोई आशा नहीं है। पूछने पर पता चला—नवम्बर मास में, जब यह रास्ता चल पड़ेगा; यात्री आने लगेंगे; तभी खुलेगी और तभी यहाँ चाय-पानी मिल सकेगा।

"अरे भाई, पानी की आवश्यकता नहीं है, पानी तो यहाँ बहुत है। चाय मिल सकेगी कि नहीं ?"

"अभी तो कोई प्रबंध है नहीं।"

"अच्छा, तो नमस्ते। चल दिये।"

कंडरा अभी पाँच मील और है; इधर दिन छिपने की तय्यारी कर रहा है। पैर बढ़ाकर चलने लगे। न रेत की परवाह थी; न कंकरों की; न पत्थरों की। परन्तु इतने पर भी ढाई मील से अधिक पार न कर सके। सायंकाल की काली छाया घाटी में फैल उठी। विदासिनी के सूने तट और भी सूने हो उठे। एक भयजनक निस्तब्धता चारों तरफ छा गई।

एक साफ-सुथरा-सा नदी-किनारा देख, कंधों से कंबल-चादर उतार हमने वहीं डेरा डाल दिया। सायंकाल क्रमशः रात में परिणत हो उठी और आकाश में कहीं-कहीं तारे चमक उठे।

तभी पास ही कहीं से बैलों की घंटियाँ सुनाई दीं और सामने के कुछ ऊँचे मैदान पर कुछ प्रकाश-सा भी दिखाई दिया। बिहारी चुपचाप लेटा था; उठकर बैठ गया। बोला—कोई गाँव मालूम पड़ता है। चलो, देखें न, कुछ खाने-पीने का प्रबंध हो जाय तो।

कंबल-चादर एकबार फिर कंधों पर; और नदी पार कर ऊँचे मैदान पर चढ़ गये।

पाँच-चार झोंपड़ियों का छोटा-सा गाँव है तो सही; मगर दरवाज़े सभी के बन्द हैं। भीतर से निकलती हुई प्रकाश की क्षीण रेखाओं और धीमी-धीमी आवाज़ों से इतना तो स्पष्ट है कि अंदर आदमी हैं। एक झोंपड़ी के दरवाज़े पर हलकी-सी थपकी दी—"है कोई अंदर ? ज़रा दरवाज़ा तो खोलो।"

बहुत ही धीरे-से किसी ने दरवाज़ा खोला और हमें देखकर एक ही साथ फिर तुरन्त ही बन्द कर लिया। था, वह पुरुष ही, स्त्री नहीं थी।

"अजीब लोग हो जी, तुम। अभी मुश्किल से सात बजे हैं और इधर तुम लोग इस तरह दरवाज़े मूँदकर पड़ गये हो; जैसे आधी रात बीत चुकी हो।"

द्वार पर एकबार फिर हलकी-सी थपकी दी। "खोलो जी, कौन है अंदर ? मुसाफ़िरों के साथ तुम्हारे यहाँ क्या ऐसा ही व्यवहार किया जाता है ?"

बात काम कर गई। दरवाज़ा फिर खुला और किसी ने सिर बाहर निकाल

घबराये-से स्वर में पूछा—क्या बात है ?

"गाँव का क्या नाम है ?"

"ताल गाँव।"

"इधर कोई दुकान है ?"

"यह दुकान ही है।"

"चाय मिल सकेगी ?"

"नहीं।"

"भोजन ?"

"नहीं।"

"अच्छा, न सही भोजन। चाय तो चाहिए ही। अभी सात ही बजे हैं—साढे सात होंगे—और उधर वह सामने तुम्हारा चूल्हा भी जल रहा है। चार मुसाफ़िरों के लिए चाय न बना सकोगे ?"

"दूध नहीं है।"

"न सही दूध। अकेली चाय ही बना दो।"

दुकानदार चुप। चाय बनाना स्वीकार है या नहीं, पता नहीं चल रहा। तभी संसार के उस सर्वश्रेष्ठ 'अणुबम' ने कान में आकर धीरे-से कहा—'अरे, छोड़ो इन सब थोथे हथियारों को। अब मेरा प्रयोग करो।' जेब से दो रुपये का एक लाल नोट निकाल आनन्द से कहा—ये तो चाय बनाते दीखते नहीं। लो ये दो रुपये। देखो, यदि आस-पास कोई दूसरी दुकान हो तो। चाय तो पीनी ही है।

तभी दुकानदार की आवाज़ सुनाई पड़ी—अच्छा देखता हूँ, यदि दलपत के यहाँ दूध मिल जाय तो। आप बैठिये।

अगले ही क्षण दो बेंचें बाहर बिछ गईं; दो चारपाइयां; और हम जब तक उन पर मज़े में बैठें—दुकानदार पास की झोंपड़ी से दूध लिये चला आ रहा था। अब, वह झोंपड़ी दलपतसिंह की थी, या स्वयं उसी की, यह तो वही जाने।

चाय पीकर एक रुपया उसके हवाले कर पूछा—अब यह बताओ कि भोजन किसके यहाँ मिल सकेगा ?

हाथ के संकेत से एक झोंपड़ी बताते हुए उसने कहा—वह भी दुकान है। वहाँ जाने से शायद आपको भोजन भी मिल जाय।

हमारे कहने से उसने अपना एक आदमी भी हमारे साथ कर दिया, जो हमें उस झोंपड़ी तक पहुँचा आया।

झोंपड़ी अच्छी-खासी बड़ी थी। बाहर एक छप्पर का बरामदा बना था। दो बेंचें भी पड़ी थीं। एक बेंच पर धुंधले-से प्रकाश वाली एक हरीकेन लालटेन रखी

थी। पास ही खाट बिछाये एक अकेला आदमी गुमसुम बैठा था। यही दुकानदार था।

हमारे साथ आये हुए आदमी ने उससे अपनी पहाड़ी भाषा में धीरे-धीरे कुछ कहा, जिसे शायद उसने पसन्द नहीं किया। बोला—यहाँ इस समय भोजन का कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता।

"और सोने के लिए जगह का ?"—मैंने पूछा।

"जगह भी यहाँ कहाँ है ?"

"है तो सही दोस्त, न दो दूसरी बात है।"

"अजी, न देने की क्या बात है। आप देख तो रहे हैं; यह दुकान है। अन्दर आटा वग़ैरह सामान भरा पड़ा है। बाहर ये ज़रा-सी जगह है। यहाँ आप कहाँ ठहर सकते हैं।"

"अच्छा, ठहरना न सही। तुमने अभी कहा आटा तुम्हारे पास है। लो, ये रुपया। सेरभर आटा ही तोल दो।"—कहकर एक रुपये का नोट उसके सामने फेंक दिया।

कुछ क्षणों तक तो उसने नोट को हाथ नहीं लगाया; बाद में बहुत ही उपेक्षा से उसे उठाकर वह फिर गुमसुम-सा बैठ गया, फिर कुछ देर बाद बोला—अकेले आटे से आपका क्या बन जायगा, बाबू। साथ में कुछ दाल-साग भी तो चाहिए।

"अरे भई, चाहिए तो बहुत कुछ। मगर इस रात में तुम उस सब का कहाँ तक प्रबंध करोगे।"

बोला—"अभी तो मैंने अपना भोजन भी नहीं बनाया है। कम-से-कम एक सेर आटा तो मुझे अपने लिए भी पकाना पड़ेगा। यदि हर्ज न हो तो······"

"हर्ज कैसा ? जब तुम अपने लिए भोजन बनाओगे तो थोड़ा और कष्ट करने पर हमारे लिए भी क्यों न बना सकोगे। लो, ये एक और रुपया। बाकी हिसाब भोजन करने के बाद कर दिया जायगा।"

बाद में पता चला वह जात का ठाकुर था, जिनके हाथ का इधर के ब्राह्मण लोग भोजन नहीं करते। हमारे लिए भोजन तय्यार करने में वह शायद इसीलिए हिचक रहा था।

घण्टाभर बाद, भोजन पाकर जब तृप्त हो गये, हमने उसे धन्यवाद दिया और उसके बाकी पैसों का हिसाब कर दिया। पैसे जेब में रखते हुए उसने पूछा—"अब सोने की बात कहिए।"

"सोयेंगे तो भई, नदी के उस पार ही। वहाँ हम एक अच्छे स्थान का प्रबंध पहले से ही कर आये हैं।"

"नदी के पार !"—वह आश्चर्य से बोला। "वहाँ तो रोज ही रात को प्रेत

आते हैं। आप वहाँ सोइयेगा ?"

"केवल सुने ही सुने हैं, कभी देखे भी हैं ?"

"सुने भी हैं और देखे भी हैं, बाबू। अभी सालभर की ही तो बात है। आप ही की तरह के दो यात्री इन्हीं दिनों नदी पार जाकर सोये थे। सवेरे देखा, एक ग़ायब हैं। प्रेत लोग उसे रात-ही-रात उठाकर ले गये।"

"एक वही घटना देखी या कोई और भी ?"

चारों तरफ़ बहुत ही भयभीत भाव से देखकर धीरे से बोला—"अच्छा, बैठिये। भोजन पीछे करूँगा। पहले अभी हाल की एक ताज़ी घटना आपको सुना दूँ।"

वह उठा और धीरे से दुकान का दरवाज़ा बन्द कर फिर हमारे सामने आ बैठा और बहुत ही दबी हुई आवाज़ से—जैसे मानो इस निश्शब्द अँधेरे में कितने ही प्रेत उसकी बात सुनने के लिए उसकी झोंपड़ी को घेरे खड़े हों—बोला :—

"कोई डेढ़ महीना पहले की बात है। इसी जगह जहाँ आप बैठे हैं हम पाँच-छः जने बैठे चिलम पी रहे थे। आकाश बादलों से घिरा था। रिमझिम बूँदें पड़ रही थीं। चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। चिलम बारी-बारी से घूम रही थी। सभी दो-दो एक-एक कश खेंचकर आगे वाले को चिलम दे देते थे। न जाने किधर-किधर की गप्पें लग रही थीं। तभी एक आदमी यहाँ आया जो हमारा पहचाना हुआ था। ऊपर जो देवी का मन्दिर है उसका पुजारी था। आकर वह भी हमारे बीच में बैठ गया और चिलम पीने लगा। चिलम तीन बार घूम चुकी थी। चौथी बार वह जैसे ही पुजारी के हाथ में आई; न चिलम थी न पुजारी। दोनों ही ग़ायब।—आप शायद हँस रहे हैं। शायद भूतों को नहीं मानते। मगर यह सब मेरी आँखों देखी बात है।"

"और वे नदी किनारे के प्रेत ?"

"वे भी सच हैं। यदि विश्वास न हो तो आज रात वहाँ सोकर देख लें। सब पता चल जायगा।"

"और यदि हम में से भी एक साथी ग़ायब हो गया, तब ?"

"अब यह सब तो आप ही जानें। मैं तो आपको वहाँ सोने की सम्मति दे नहीं रहा। आप स्वयं ही हठ कर रहे हैं।"

"अरे दोस्त, हठ न करने से भी तो काम बनता नहीं दीख पड़ रहा। यहाँ तुम्हारे पास स्थान ही कहाँ है ?"

"हाँ, अन्दर तो कोई स्थान नहीं है। उस छप्पर के नीचे यदि सो सकें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है।"

मगर वहाँ सोने की अपेक्षा तो नदी का खुला किनारा कहीं अधिक अच्छा

था। एक तो यहाँ जगह साफ़ नहीं थी। घास-फूंस, कटी-पटी लकड़ियाँ, गोहों की राख जहाँ-तहाँ पड़ी थी। साँप-बिच्छुओं का पूरा डर था। इसलिए टार्च की सहायता से धीरे-धीरे चलते हुए हम लोग नदी पार कर वहीं जा पहुँचे जहाँ हमने गाँव में आने से पहले सोने का निश्चय किया था।

किनारे पर साफ़ रेत बिछी थी। पास ही कोई सौ हाथ दूर पर्वत-श्रेणियाँ नीरव खड़ी थीं। पके हुए करौंदों की गन्ध लिये ठण्डी हवा धीरे-धीरे बह रही थी। चादरें बिछाकर मजे में वहीं लेट गये। नौ बज चुके थे। घण्टाभर तक तो इधर-उधर की गप्पें लगती रहीं। बाद में कंबल तान सब सो गये।

मगर मेरी आँखों में नींद नहीं थी। प्रेतों पर विश्वास नहीं करता। तो भी रह-रहकर ठाकुर की वही बात याद आ रही थी—"आप ही की तरह के दो यात्री नदी पार जाकर सोये थे। सवेरे देखा, एक गायब है। प्रेत लोग उसे रात-ही-रात उठाकर ले गये।"—बात सच हो सकती है। दो टाँगों वाले प्रेत न सही, चार टाँगों वाला कोई प्रेत हो तो क्या आश्चर्य है। आज दिनभर मार्ग में उसके पद-चिह्न देखते आ तो रहे हैं।

जिम कारबेट के 'मैन ईटर्स आव कमाऊँ' वाले शेरों की याद आ गई। वहाँ भी तो ऐसे ही पहाड़ थे। ऐसे ही दो-दो चार-चार झोंपड़ियों के गाँव। चंपावत की वह नर-भक्षक शेरनी, जिसने २३४ आदमी खाये थे। चाऊगढ़ का वह शेर, जिसने ६४ आदमियों की कब्र अपने पेट में बनाई थी। वे सब प्रेत नहीं तो और क्या थे। एक हाथ में टार्च दूसरे में कुल्हाड़ी संभाले मैं सावधान होकर लेट गया। सोया नहीं।

नदी अनवरत शब्द करती बही जा रही थी। रात खूब घनी-काली थी। घाटी में सन्नाटा छाया था। ऐसा लग रहा था, जैसे प्रलयावस्था में शायद ऐसी ही अवस्था रहा करती होगी और 'चराचर सृष्टि का शव' शायद ऐसे ही अचेत पड़ा महानिद्रा में मग्न रहा करता होगा।

साथी सभी अचेत सो रहे हैं। दिनभर की थकावट के बाद खूब गहरी नींद आ रही है। ईर्ष्या होने लगी। काश, मैं भी ऐसे ही सो सकता। शरद बाबू के 'श्रीकान्त' की वह यात्रा सामने आ खड़ी हुई। भयंकर श्मशान। चारों तरफ शव ! पास ही वह अकेला खड़ा है। रह-रहकर कोई उसके कानों में ठण्डी फूंकें मार रहा है। दूर, घने वृक्षों के झुरमुट में किसी प्रेत शावक के मिमियाने की आवाजें आ रही हैं। आस-पास पड़े हुए नर-मुंड बीच-बीच में हाय-हाय करके रोने लग पड़ते हैं। नरकयोनि की कौनसी यातना उन्हें पीड़ित कर रही है, पता नहीं चल रहा।

हठात्, पहाड़ी के नीचे किसी के पदशब्द सुनाई पड़े। चाँप इतनी धीमी थी

कि उस निश्शब्द रात्रि में ही उसे सुना जा सकता था। दिन होता तो पता भी न चलता। शब्द क्रमशः पास आ रहा है। धीरे से गरदन घुमाकर देखा—दो जलते हुए अंगारे बहुत ही संभलकर नदी की तरफ बढ़े आ रहे हैं। ये ही तो हैं, वे प्रेत; नरभक्षी प्रेत। धीरे से हाथ से हिलाकर श्याम को जगा दिया; और अगले ही क्षण सब जाग गये।

एक साथ दो तेज़ टार्च जल उठे और उनके प्रकाश में देखा, कोई बहुत ही फुर्ती से पहाड़ की तरफ लौटा जा रहा है। उसे यों भागते देख हमारा साहस और भी बढ़ गया। कम-से-कम चालीस-पचास कदम तक उसका पीछा किया और फिर वापस लौट आये।

घड़ी में देखा तो अभी दो ही बजे हैं। मगर उस रात में फिर किसी को नींद नहीं आई। बातों-ही-बातों में प्रभात निकल आया। पहाड़ के नीचे जाकर देखा तो रेत पर पड़े हुए ताज़े पद-चिह्नों से अविश्वास का कोई कारण नहीं रहा। बाद में जयहरी गाँव में जाकर सुना छः महीना पूर्व इन्हीं पहाड़ों में एक नरभक्षक बाघ का शिकार किया गया था। आश्चर्य नहीं, कुछ काल बाद इस दूसरे नरभक्षक का शिकार भी आवश्यक हो जाय।

पद-चिह्न शेर के नहीं, नरभक्षक बघेरे के थे; और इसीलिए हम बच गये। यदि कहीं वह शेर होता, हमारी आगे की यात्रा का क्या स्वरूप होता कहा नहीं जा सकता।

तक्षक से भेंट

तालगाँव से कंडरा लगभग ढाई मील है। जिस विदासिनी नदी के किनारे-किनारे चलते हुए हम तालगाँव पहुँचे थे, उसका नाम यहाँ विदासिनी नहीं रहा है; तालनदी हो गया है। क्यों हो गया है, पता नहीं। सारी रात इसके किनारे बिताकर भी अंधेरे के कारण इसे अच्छी तरह नहीं देखा जा सका था। अब प्रभात में देखा तो सचमुच ही तालगाँव के ऊपर नदी बहुत सुन्दर हो उठी है। जल एकदम नीला और स्वच्छ, चौड़ाई सात-आठ गज़ और गहराई भी कहीं कमरभर, कहीं इससे भी अधिक। वेग इतना कि पार करना सहज नहीं; और इससे लाभ उठाकर गाँव में दो-एक घराट भी लगा दिये गये हैं जिन पर दूर-दूर से लोग अनाज पिसवाने आते हैं।

परन्तु इस नदी का सबसे बड़ा सौन्दर्य हमें तब देखने में आया जब गाँव से चार-पाँच फर्लांग ऊपर जाकर देखा कि नदी है ही नहीं। छोटी-मोटी धार तक नहीं, पानी का चिह्न तक नहीं। चारों तरफ एकदम सूखा हुआ नाला, सूखी रेत, सूखे पत्थर।

बाद में आधा मील और ऊपर चलने के बाद देखा कि नदी फिर प्रकट हो गई है; वैसी ही गहरी, वैसी ही तेज, वैसी ही सुन्दर।

तालगाँव से कंडरा तक के इस ढाई मील के क्षेत्र में वह कम-से-कम तीन बार अन्तर्धान और तीन बार प्रकट हुई है। सहसा गंगा-यमुना की बहिन सरस्वती का स्मरण हो आता है; और त्रिवेणी की वह घटना याद हो आती है जब स्नान करते समय पंडा जी से पूछा था, महाराज, यहाँ तो केवल दो ही नदियाँ आकर मिली हैं फिर इसका त्रिवेणी नाम क्यों ? पंडा जी ने कहा था—सरस्वती यहाँ अदृश्य हो गई हैं। सुनकर हँसी तो आई ही थी, सरस्वती के अदृश्य हो जाने की बात पर कुछ श्रद्धा भी नहीं हुई थी। परन्तु इस तालनदी को देखकर हमारी वह अश्रद्धा आज दूर हो गई। हज़ारों मन पानी की तेज़ धारायें किस तरह अकस्मात् धरती में समा जाती हैं और कुछ आगे जाकर वे किस तरह फिर प्रकट हो जाती हैं, इस मार्ग में यह दृश्य देखने ही योग्य है।

कंडरा से आगे चमकोट खाल की चढ़ाई प्रारम्भ होती है। चढ़ाई काफी विकट है। बीच-बीच में विश्राम किये बिना उसे एक ही साँस में पार नहीं किया जा सकता। ढाई मील बाद 'चमकोट खाल माध्यमिक विद्यालय' नामक एक छोटी-सी संस्था भी मिलती है, जो एक मास के सत्रावकाश के कारण आजकल बन्द थी। एक छोटी-सी दुकान भी है, परन्तु इन दिनों वह भी बन्द थी।

इसके बाद ढाई मील की उतराई है, फिर नदी मिलती है। उसके आगे का मार्ग सूना और भयंकर है। प्यास फिर लग आई थी। परन्तु पानी नहीं था। रास्ते में कहीं-कहीं कच्चे आँवलों के वृक्ष मिल जाते थे और सड़क के दोनों तरफ हरी ब्राह्मी। थे, दोनों ही कड़वे और कसैले; परन्तु प्यास बुझाने में उन्होंने काफी सहायता दी।

उतराई के कारण टाँगों को आराम-सा मिल रहा था। इसलिए खूब तेज़ी से ही उतर रहे थे। बीच-बीच में दौड़ भी लगा लेते थे। रास्ता खूब चक्करदार है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर मोड़ आते हैं और आगे का रास्ता आँखों से ओझल हो जाता है।

हठात्, ऐसे ही एक मोड़ से एक आदमी निकला जो बेतहाशा हमारी तरफ भागा चला आ रहा था। एक हाथ में खुला हुआ छाता, दूसरे में जूते; गिरता पड़ता भागा ही चला आ रहा था।

"ठहरो। घबराओ मत। क्या मामला है ?"

"साँप !!"

"साँप ?"

"हाँ। आप लोग आगे हर्गिज मत जाइये। चौदह-पन्द्रह हाथ लम्बा; एकदम काला है वह। आदमी को देखते ही पीछा करता है। मेरा अभी पीछा किया था, उसने। बचकर ही चला आ रहा हूँ।"

"इधर कहाँ से आ रहे हो ?"

सुनकर जैसे वह एकदम पिघल उठा हो। बोला—क्या बताऊँ, बाबू। अभागा हूँ। इकलौता लड़का जब से घर से नाराज़ होकर निकल गया है उसी के फेर में भटकता फिर रहा हूँ।"

कल तालगाँव के पास एक लड़का हमें मिला था। कुछ उदास-सा, बीमार-सा जान पड़ता था। पूछने पर ठीक तरह से परिचय भी नहीं दे रहा था। मैंने जैसे ही उसका हुलिया उसे बताया तो रोता हुआ वह मेरे पाँव पर गिर पड़ा।—"वही है, बाबू ! वही है। आपको कहाँ मिला था ?"

"तालगाँव से आगे मिला था। शायद गौरीघाट जा रहा था। अगर जल्दी करोगे तो घाट पर ही उसे पकड़ सकोगे।"

वह तो चला गया। अब रह गये हम। आगे की यात्रा कैसे की जाय, यही सोचने की बात थी। उस साँप के बारे में हमने गौरीघाट पर ही सुन लिया था। ऐसी बातें छुपा नहीं करतीं; किसी-न-किसी तरह फैल ही जाती हैं। इधर आने वाले प्राय. सभी यात्रियों को इसके बारे में पता था और तरह-तरह की बातें लोगों के मुख से सुनने में आती थीं। कुछ सच थीं, कुछ कोरी गप्पें। परन्तु इतना तो सभी कहते थे कि वह आदमी को देखते ही पीछा करता है। इसकी सत्यता का प्रत्यक्षदर्शी प्रमाण हमें मिल भी गया था। इसलिए खूब सावधानी की आवश्यकता थी यह तो स्पष्ट था।

एक वृक्ष की छाया में बैठ 'युद्ध समिति' की बैठक हुई और काफी विचार के बाद आत्मरक्षा की एक योजना तैयार करली गई।

सबसे पहले सूखी लकड़ियाँ बटोरी गईं और लगभग दो-दो सेर का बोझ सभी ने अपनी पीठ पर लटका लिया। फिर मिट्टी के तेल को सँभाला गया। उसे कहीं से लाना नहीं था। हमारे पास मौजूद था। ऐसी जंगली यात्राओं में माचिस, मिट्टी का तेल और चीड़ वृक्ष की फुट-फुटभर लम्बी सूखी खपचियाँ—जो समय पड़ने पर रायफल से भी अच्छा काम देती हैं—सदा ही साथ में रखता हूँ।

तेल की कुप्पी पर कार्क खूब मजबूती से लगा था, उसे ढीला कर लिया ताकि समय पर खोलने में देर न लगे। फिर माचिस जेब से निकाल हाथ में सँभाल ली और बहुत ही सावधानी से आगे चल पड़े।

यहाँ सड़क की चौड़ाई कहीं दो गज़ और कहीं तीन गज़ है। उसके एक तरफ बराबर-बराबर पहाड़ की दीवार चली गई है और दूसरी तरफ खड्ड है। भय खड्ड की तरफ से ही था, पहाड़ की तरफ से नहीं।

देखने की ड्यूटियों का भी विभाजन किया गया था। चार की खड्ड की तरफ, दो की पहाड़ी दीवार की तरफ और दो की पीछे देखते रहने की ड्यूटी लगाई गई थी। इस प्रकार एक अच्छी किलेबन्दी करते हुए अभी दो फर्लांग ही बढ़े होंगे कि खड्ड

की तरफ से हिस्'' 'की एक लम्बी पुकार ने हमें दूर से ही सचेत कर दिया। बहुत ही दबेपांव पहुँचकर जैसे ही झाँककर देखा, सचमुच ही सड़क से चार-साढ़े-चार गज नीचे के खड्ड में एक खूब भारी डीलडौल का साँप कुण्डली मारे बैठा हुआ है।—यही तक्षक है।

इस जाति के साँपों की भयंकरता से हम सुपरिचित थे। हमें पता था, ये कितना भयंकर होता है; किस कदर तेज दौड़ता है और किस प्रकार तेज़-से-तेज़ घुड़सवारों का भी मीलों तक पीछा करता है। हमें यह भी पता था कि इसके काटे का इलाज नहीं है। न डाक्टर कुछ कर सकते हैं, न वैद्य। दो मिनट में ही प्राण छोड़ देने पड़ते हैं।

तभी उसने गरदन उठाकर हमारी तरफ देखा; और अगले ही क्षण उसकी परात सरीखी कुण्डली एक साथ खुल गई और देखते-ही-देखते उसका चौदह-पंद्रह हाथ लम्बा, नारियल के खूब मोटे काले रस्से सरीखा शरीर एक तरफ भाग उठा।

हम जानते थे कि वह किधर जा रहा है। यह खड्ड शायद उसके रहने का स्थान है। अवश्य ही यहाँ आसपास ही कोई बड़ा भारी बिल या गुफा भी रही होगी, वर्षा और शीतकाल में वह जिसमें रहा करता होगा। परन्तु खड्ड की गहराई चार-साढ़े-चार गज होने से उसके लिए यहीं से सीधे सड़क पर चढ़ सकना सम्भव नहीं है। सड़क पर पहुँचने के लिए आसपास ही कोई दूसरा रास्ता रहा होगा जिससे वह खूब सुपरिचित है। वह प्रायः उसी मार्ग से सड़क पर आया-जाया करता होगा और इस समय भी वह उधर ही जा रहा है। कब हमारे सिर पर आ पहुँचे पता नहीं है।

अभी तो हमें ठीक प्रकार से यह भी पता न था कि वह सड़क के ऊपर से आयगा या नीचे की तरफ से। परन्तु हमारे लिए दोनों ही बातें बराबर थीं। तुरन्त सड़क पर लकड़ियाँ बिछा हमने उसका रास्ता काट दिया। अभी हम इतना ही कर पाये थे कि देखा वह ऊपर वाले रास्ते की तरफ से पूरे वेग से हमारी तरफ भागा चला आ रहा है।

उसमें और हममें साठ-पचास गज से अधिक अन्तर नहीं था। उसके लिए यह इतना-सा अन्तर था ही कितना-सा। अपने पाँच गज लम्बे शरीर से वह इसे मजे में पाँच-छः सेकण्ड में पार कर सकता था। इस समय ये पाँच-छः सेकण्ड ही हमारे लिए बहुमूल्य थे। जो कुछ करना था इसी बीच में कर लेना था। फिर तो समय ही कहाँ था ?

पहले से ढीले किये हुए कुप्पी के कार्क ने इस समय बड़ी सहायता की। यदि पहले से ही उसे ढीला न कर लिया गया होता तो ये पाँच सेकंड तो उसके खोलने में ही लग गये होते और तब हमारी सारी योजना यों ही धरी रह जाती।

ज़रा से इशारे से ही वह खुल गया और अगले ही क्षण लकड़ियाँ मट्टी के तेल से तर हो उठीं और माचिस दिखाते ही आग उगलने लगीं।

तब तक वह भी आ पहुँचा था। हमें खड़े देख उसने अपनी चाल और भी तेज़ कर ली थी। उसे शायद पूरी आशा थी कि इसबार उसका शिकार उससे किसी भी तरह न बच सकेगा। परन्तु इस निगोड़ी आग ने इसबार भी उसकी इच्छा को पूर्ण न होने दिया। एक लंबी फुंकार मारकर वह जैसे ही हमारी तरफ लपका कि मट्टी के तेल के कड़वे धुएँ से भरी हुई आग की लपटों ने उसे बीच में ही रोक दिया। बल खाकर वह एकसाथ कई गज़ पीछे हट गया और धरती से छः-सात फीट ऊँचा फण उठाकर बहुत ही क्षोभ और निराशा से हमारी तरफ घूरने लगा।

आग की दो-दो गज़ ऊँची लपटें उसके सामने थीं और शायद उन्हीं को नीचा दिखाने के लिए सपेरे की बीन के सामने झूमते हुए काले नाग की तरह वह भी धीरे-धीरे झूमने लगा। मानो, उन लपटों से पूछ रहा था—तुम कौन हो, जी ? क्यों तुमने मेरा मार्ग इस तरह रोक लिया है ? उसकी जीभें लपलपा रही थीं; और चौड़ी तश्तरी की तरह फैले हुए उसके फण पर चमकती हुई दो छोटी-छोटी आँखें बहुत ही क्रोध से उन लपटों को घूर रही थीं। वह शायद हमें भूल चुका था और इस समय ये लपटें ही उसकी सबसे बड़ी दुश्मन बन गईं थीं।

तक्षक को देखने का यह हमारा पहला ही अवसर था। बहुत ही आश्चर्य और उत्सुकता से हम उसे देख रहे थे। वह सांप क्या था, प्रकृति की उत्कृष्ट चित्र-कला का एक जीवित नमूना था। उसे सजाने में प्रकृति ने कितना प्रयत्न किया था। धरती से उठे हुए पेट से लेकर गर्दन के नीचे के भाग तक के उसके शरीर को तपे हुए सोने के रंग से रंगकर और कमर, पीठ और फण पर गहरे चमकीले काले रंग की तूलिका फेरकर उसने कितना सौन्दर्य उसमें भर दिया था; आश्चर्य हो रहा था।

परन्तु हे, अदृश्य चित्रकार ! तुमने निश्चय ही अस्थान पर ही अपनी इस निपुणता का प्रदर्शन किया है। बहुधा अस्थान पर ही तुम अपनी इस कला का प्रयोग किया करते हो। सागर की उत्ताल तरंगों में, लावा उगलते हुए ज्वालामुखी पर्वतों में, श्मशान की तरह भयंकर शून्यता लेकर बैठी हुई चन्द्रकलाओं में, नरभक्षक शेरों की धारीदार पीठ और नेत्रों में और ऐसे-ऐसे विषधर सर्पों में जब तुम्हें अपनी इस कला का अपव्यय करते देखता हूं सचमुच ही तुम्हारी चुनाव-बुद्धि पर मुझे कभी-कभी आश्चर्य हो उठता है। भयंकरता के साथ सौन्दर्य का मेल करने के तुम्हारे आग्रह पर मुझे प्रायः अचंभा हुआ करता है। तुम्हारी ऐसी प्रकृति में कौनसा अज्ञेय रहस्य छुपा हुआ है, समझ नहीं आता ?

इस तक्षक को ही ले लो। यह क्या ऐसे उत्कृष्ट सौन्दर्य के योग्य है ? यह

तो भले से—हम अपने भाग्य, सतर्कता, पूर्व योजना; चाहे किसी भी कारण से सही—इसके चंगुल से बच गये, नहीं तो अपनी तरफ से तो इसने हमें मार देने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। भला, जिसके मन में इतनी भयंकर क्रूरता और शैतानी प्रवृत्ति भरी हो उसके बाह्य शरीर को सौन्दर्य का इतना बड़ा वरदान देने का अर्थ हो ही क्या सकता है ?—कुछ भी नहीं।

कुछ भी सही; परन्तु अब वहाँ देर लगाना व्यर्थ था। आग की लपटें प्रायः बुझ चुकी थीं और उसके बाद फिर वैसी ही विपत्ति आ पड़ने की पूरी संभावना थी। तक्षक को वहीं, वैसे ही निराश खड़े छोड़ हम वहाँ से चल दिये। कुछ दूर तक तो बहुत ही धीरे-धीरे गये; बल्कि यह दिखाया जैसे हम कहीं जा नहीं रहे हैं, यों ही इधर-उधर चक्कर काट रहे हैं। परन्तु बाद में जैसे ही पहाड़ का मोड़ आया और आग और तक्षक हमारी आँखों से ओझल हुए, हम तेजी से उतराई की तरफ दौड़ पड़े और थोड़ी ही देर में उसकी पहुँच से बहुत दूर जा निकले।

यहाँ यह लिख देना उचित होगा कि जहाँ हमने आग जलाई थी वहाँ आग के फैलने का कुछ भी भय नहीं था। एक तो वर्षा के बाद चारों तरफ गीलापन और हरियाली छाई हुई थी; आसपास दूर तक सूखी झाड़ी या कोई सूखा पौधा था ही नहीं। तिस पर हमने वह स्थान छोड़ा भी तब था जब आग की लपटें बुझकर समाप्त हो चुकी थीं और हमें यह निश्चय हो चुका था कि उनके कारण आग फैलने का कोई भय नहीं है।

बारह बज चुके थे। धूप और भूख दोनों ही चमक उठी थीं। दो-ढाई मील बाद एक गाँव मिला, जिस में पहाड़ी ढंग के पक्के मकान बने थे। एक दुकान भी थी। मगर पहले की तरह यहाँ भी खाने के लिए कुछ नहीं था। केले और खीरे अवश्य थे। मगर वे भी बेचने के लिए नहीं थे। हाँ, दुकान में आटा ज़रूर था, परन्तु साथ के लिए न घी था, न शाक-सब्जी, न दाल। पूरी शिवजी की बरात थी। जूता है तो धोती नहीं; धोती है तो कुर्ता नहीं।

चल दिये। मीलभर बाद खासन फिर मिली। विदासिनी की अपेक्षा यह नदी अधिक सुन्दर है और इसका जल भी अधिक मीठा है, अधिक स्वच्छ और शीतल है। इसके किनारे घराट भी अधिक लगे हैं और गाँवों की आबादी भी अधिक घनी है।

प्यास तो लगी ही थी। किनारे पर बैठ जी भरकर पानी पिया। कुछ देर तक विश्राम भी किया और फिर आगे बढ़ गये।

खासन नदी के साथ-साथ चार-पाँच फर्लांग चलने के बाद भृगुखाल की चढ़ाई प्रारम्भ होती है। चढ़ाई यह भी विकट है; परन्तु चमकोटखाल सरीखी नहीं है।

रास्ते में पके हुए करौंदों की झाड़ियाँ बहुतायत से हैं। नासपाती की जाति के म्याला नामक वृक्ष भी है, जिन पर इन दिनों बड़े-बड़े बेरों सरीखे कच्चे फल लगे थे। पक जाने पर इधर के लोग इन्हें अच्छे चाव से खाते हैं। मगर आजकल वे कड़वे थे।

खेतियाँ कट रही थीं और कहीं-कहीं जंगल के भागों में दो-चार किसान भी दीख पड़ जाते थे। इस जगह कचालू और उड़द काफी मात्रा में पैदा होता है। दूर-दूर तक इन्हीं के खेत नजर आ रहे थे।

रास्ते में एक जगह भटकने की नौबत भी आ गई थी। परन्तु सामने ही, जंगल के एकान्त में, अकेले टीले पर बैठी हुई एक युवती पर्वतकन्या ने, जो आराम से ढोर चरा रही थी, बिना पूछे ही हमें सही रास्ता बता दिया। उसकी यह निश्छल सरलता हमें बहुत ही भली मालूम दी।

मीलभर चलने के बाद लमखेत नामक गाँव मिलता है। इसमें प्राय: डोम लोग ही रहते हैं। सवर्ण लोगों से चिर प्राचीनकाल से दबाये जाते रहने के कारण इन लोगों में अपने को हीन मानने की एक ऐसी स्थिर प्रवृत्ति घर कर गई है, जो उनके छोटे-से-छोटे व्यवहार से भी प्रकट हो जाती है। जिसे जरा भी 'बड़ा आदमी' समझा, या अफ़सर-अधिकारी समझा, तुरन्त खड़े होकर विनम्र प्रणाम कर डाला। प्रणाम करने का यह स्वभाव बुरा नहीं है, इससे नम्रता और शिष्टता को प्रोत्साहन मिलता है। परन्तु इन लोगों के प्रणाम के साथ इन कोमल भावनाओं का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसमें तो भय और अपने को तुच्छ स्वीकार करने की प्रवृत्ति ही अधिक भरी होती है। गढ़वाल में प्रवेश करते ही जब हमारे साथ अनेक बार ऐसा हुआ तो हमारा मन कुछ ऐसा बन गया कि हमें जो भी इस प्रकार खूब झुककर अस्वाभाविक रूप से प्रणाम करता था, बिना पूछे ही हम उसे डोम मान लेते थे।

इस लमखेत में भी ऐसा ही हुआ। यहाँ हमने चाहा हम उनसे बराबरी के स्तर पर कुछ बातचीत, कुछ विनोद करें। परन्तु इससे तो वे ऐसे एक संकोच में गड़ गये कि हमें उनके साथ बात करना भी कठिन हो गया।

लमखेत से लगभग दो-तीन फर्लांग बाद जयहरी गाँव के रास्ते में एक विशाल पीपल-वृक्ष खड़ा है। उसके नीचे एक पक्की ईंटों का चबूतरा बना है। देखा, हमारे मित्र श्री देवदत्त कालड़ा और उनके पुत्र ओमप्रकाश उस चबूतरे पर बैठे हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हें हमारे आने का दिन और समय पहले से ही पता था; और वे इसीलिए हमारी अगवानी के लिए यहाँ आकर बैठे हुए थे।

कालड़ा मेरे सहपाठी और बाल्यावस्था के अभिन्न मित्र हैं। वन्य-जीवन के प्रेमी और कुछ वैराग्य-प्रवृत्ति के होने के कारण उन्हें गढ़वाल का यह सरल और एकान्त जीवन बहुत पसंद आया है और आजकज भृगुखाल के श्रद्धानन्द हायर सेकेंडरी

स्कूल में शिक्षक हैं। अनेक वर्ष बाद ऐसे सरल और अकृत्रिम मित्र को मिलकर उस समय जो प्रसन्नता हुई वह वर्णनातीत थी। फर्लांग भर की चढ़ाई और चढ़ने के बाद हम उनके साथ उनके गाँव में जा पहुँचे।

'मम दीर्घ विरह व्रतं बिभर्ति'

—कालिदास

भृगुखाल पर बसे हुए गाँवों में जयहरी गाँव शायद सब से अधिक सुन्दर है। उसके प्रभात और सायंकाल अपनी एक निराली ही विशेषता रखते हैं। उसके एक तरफ़ सीढ़ियों की तरह उतरते हुए हरे-भरे खेत हैं, और दूसरी तरफ़ दो-तीन निसर्ग सुन्दर जलधाराएँ मंद कलरव करती बह रही हैं। प्रातः-सायं इन पर जलवाहिनी सुन्दरियों की भीड़ लगी रहती है और उनके यातायात से इसके संकुचित पर्वतीय पथ मुखरित हुए रहते हैं।

हम इस गाँव में तीन दिन ठहरे और इस बीच में हमने यहाँ के कितने ही गाँवों का निरीक्षण किया। यहाँ की सुन्दर संस्था 'श्रद्धानन्द उच्चतर माध्यमिक विद्यालय' के भी हमने दर्शन किये।

प्रत्येक स्थान के जैसे कुछ अपने निराले रीति-रिवाज और अपनी निराली परम्परायें होती हैं वैसी ही हमें इधर के गाँवों में भी देखने में आईं।

नवागंतुक दर्शक का सबसे पहला ध्यान यहाँ की स्त्रियों की वेशभूषा और उन के पहरावे की तरफ जाता है। इनका साड़ी पहरने का ढंग बंगाल, महाराष्ट्र, आसाम और मद्रास की स्त्रियों से भी अधिक निराला तथा विचित्र है। साड़ी या धोती को अधिक-से-अधिक चुस्त ढंग का पहरावा बनाने में इन स्त्रियों ने शायद सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है। पर्दे की प्रथा न रहने से महाराष्ट्र स्त्रियों की तरह इनका सिर भी सदा खुला रहता है। कमर में धोती के ऊपर पेटी की तरह एक कपड़ा लिपटा रहता है और कंधे के पास छोटी-सी गाँठ लगाकर ऊपर के पल्ले को इस तरह बाँध लिया जाता है कि उससे वक्षःस्थल पूरी तरह ढँक जाता है। इससे इनके दोनों हाथ सदा स्वतन्त्र और खुले रहते हैं और लगातार काम करते रहने पर भी धोती के कारण कोई अड़चन पैदा नहीं होती। घर और बाहर के अपने सारे काम ये इसी पहरावे में कर लेती हैं।

जलाहरण

दूसरी बात—जिसकी तरफ हमारा ध्यान विशेष रूप से गया—इन स्त्रियों का जल भरने का धंधा है। यों तो, सभी जगह, सभी गाँवों में, पानी भरने का काम स्त्रियों के जिम्मे ही है, कोई नई बात नहीं है; तो भी इधर की स्त्रियों का जल भरना अपनी एक खास विशेषता रखता है। उसे देखने का अर्थ है—एक दर्शनीय वस्तु के

दर्शन। इनका पानी भरने का काम कितना परिश्रम-साध्य और थका देने वाला है, यह बात बिना अपनी आँखों देखे ठीक तरह नहीं समझी जा सकती। पानी भरना यहाँ की स्त्रियों की दैनिक दिनचर्या का एक प्रमुख अंग है। इसके लिए इन्हें दिनभर में कितने चक्कर लगाने पड़ते हैं; कितनी बार कितनी कठिन चढ़ाइयाँ प्रतिदिन चढ़नी पड़ती हैं; देखकर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। ये जिन टोकनियों में पानी भरकर लाती हैं वे तीस-तीस सेर पानी से कम की नहीं होतीं। इतना बोझ सँभालकर उन्हें कई स्थानों पर तो कुतुब मीनार सरीखी चढ़ाई के कितने ही चक्कर लगाने पड़ते हैं। एक गाँव में तो भरी हुई टोकनियाँ लेकर स्त्रियों को एक-एक हज़ार सीढ़ी चढ़ते भी हमने देखा। तिस पर, पानी भी कम नहीं ढोना पड़ता। घर-खर्च के लिए तो लाना ही होता है; कई गाँवों में तो—वे लोग जो बड़ी संख्या में गाय-बैल पालते हैं—उनके पीने के लिए भी ढेर-का-ढेर पानी ढोना पड़ता है।



इस कठोर परिश्रम के कारण, 'सेचनघट' उठाने से परिश्रांत शकुंतला को कण्वाश्रम की वृक्षवाटिका में दुष्यंत ने जिस अवस्था में देखा था, जलपूर्ण टोकनियाँ उठाकर लाती हुई इन युवतियों को भी पर्वतीय पथों पर नित्य ही उस अवस्था में देखा जा सकता है। बोझ उठाने से उनके भी कंधे झुक गए होते हैं; टोकनियों की

निरंतर पकड़ से दोनों हाथों की हथेलियाँ खूब लाल हो गई होती हैं; प्रमाण से अधिक साँस चढ़ जाने से स्तनों में कम्प उत्पन्न हो जाता है; कानों के कर्णफूल कपोल पर आये हुए प्रस्वेद के जालकों से भर उठते हैं और खुले हुए केश अस्त-व्यस्त और 'पर्याकुल'[1] हो जाते हैं। भेद केवल इतना ही होता है कि तपोवनवासिनी छात्रा होने के कारण शकुंतला के कानों में चाँदी के कर्णफूलों के स्थान पर वन्य शिरीष कुसुम और टोकनियों के स्थान पर सेचनघट था। इन दो वस्तुओं की नवीनता से कवि ने इन ग्रामीण युवतियों की अपेक्षा शकुंतला में जो दिव्यता भर दी है, उसमें जिस स्वर्गीय सौन्दर्य का आधान कर दिया है, वह केवल अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के कारण; नहीं तो दोनों बातों में भेद कुछ भी नहीं है।

इन गाँवों से कण्वाश्रम केवल दस-बारह मील दूर ही रह जाता है। एक प्रकार से वह इन गाँवों का अंग ही है। यहाँ की प्रथाओं और परंपराओं के प्रभाव-क्षेत्र से वह पृथक् या बाहर नहीं है। उसकी खोज करते हुए महाकवि जब पहलेपहल इन गाँवों में आए होंगे और उन्होंने पानी भरने से श्रांत तरुणियों को यहाँ देखा होगा, अवश्य ही उनके कोमल हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा होगा। आश्चर्य नहीं, अपने '*अभिज्ञान शाकुंतल*' में शकुंतला के सुकुमार शरीर की थकावट का प्रलोभक वर्णन करते समय उन्हें इन तरुणियों का भी ध्यान रहा हो; और इसमें भी क्या आश्चर्य यदि शकुंतला में थकावट की कल्पना करने की समस्त प्रेरणा उन्होंने इन मुग्धा तरुणियों से ही ली हो; इन्हें देखकर ही उनके मन में ऐसी कल्पना और ऐसा वर्णन करने की सूझ उत्पन्न हुई हो।

कभी-कभी तो ऐसा लगता है, जैसे 'अभिज्ञान शाकुंतल' के प्रथम अंक की संपूर्ण कल्पना ही इन तरुणियों की दैनिक दिनचर्या के आधार पर की गई है। कारण, जिस 'वृक्षवाटिका' और उसमें 'सेचनघट' उठाकर जल-सिंचन करती हुई उन तीन सुन्दरियों ने इस प्रथम अंक में आदि से अंत तक इतना सौन्दर्य बखेर रखा है उसके सजीव दृश्य आज भी इन गाँवों में प्रायः नित्य ही देखने को मिलते हैं।

शकुंतला और उसकी सखियों की तरह इन्हें भी वृक्षवाटिका लगाने का असीम उत्साह है। पर्वतों पर स्थानाभाव के कारण ये वाटिकायें छोटी भले ही रहती हों—केवल चार-पाँच फलवृक्ष, दो-एक फूल-पौधे, दो-चार लतायें; बस इतना ही—तो भी उन्हें भी इनके साथ शकुंतला के 'सहोदर स्नेह' से कम स्नेह नहीं होता। पत्थरों की पाँच-छः फीट ऊँची कच्ची दीवार से घेरकर उसे पशुओं से सुरक्षित बनाने का इनका प्रयत्न और नित्य ही प्रातः-सायं उन वृक्षों में जल-सिंचन करने की इनकी

१ स्रस्तांसा वतिमात्र लोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणा
दद्यापि स्तन वेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः। —कालिदास

तत्परता देखने ही योग्य होती है। आश्चर्य तो यह है कि वृक्षों पर बेल चढ़ाने की प्रथा भी इन वृक्षवाटिकाओं में आज तक वैसी ही अक्षुण्ण बनी हुई है, जो महाकवि की 'लता पादप मिथुन' की रसपूर्ण स्मृतियों को जागृत कर देती है।

कालिदास का कवित्व वास्तविकता पर आधारित था; कोरी कल्पनाओं पर नहीं। कण्वाश्रम में अवश्य वे ही परम्परायें रही होंगी, जो उसके पड़ौसी प्रदेशों में पाई जाती हैं—इस व्यावहारिक सत्य से वे खूब परिचित थे। एक पर्वतीय 'आश्रम' पर मैदानी प्रथाओं की 'क़लम' लगाने की ग़लती उन सरीखे विश्वकवि से नहीं हो सकती थी। इसलिए 'प्रथम अंक' के विषय में यदि हमारा पीछे लिखा हुआ अनुमान कदाचित् असत्य और निराधार न हो तो कोई आश्चर्य भी नहीं है।

मगर जाने दो। यह तो हम अपनी कहानी से बहुत दूर भटक आए। कहना केवल इतना ही चाहते थे कि इन पहाड़ों में यहाँ की तरुणियों का यह जल भरने का काम बहुत ही कठोर है। सच कहा जाय तो वह एक तरह की कठिन तपस्या है, जो नवागंतुक की आश्चर्यमयी दृष्टि से बच नहीं सकती।

मध्याह्न-वेलायें

नवागंतुक को यहाँ की जिस एक और बात पर कुछ आश्चर्य-सा होता है; वे हैं यहाँ की दोपहरियां। हमने जितने भी गाँव देखे उनमें प्रातः-सायं तो स्त्रियों को बहुतायत से पाया। उन्हें जल भरते, वृक्ष सिंचन करते, गाय-बैलों को गोठ से खोलते, उन्हें पानी-चारा देते, भोजन बनाते या इसी प्रकार के दूसरे घरेलू कामों में लगे हुए—या, अधिक ठीक कहा जाय तो काम के बोझ में पिसते हुए—देखा; मगर आश्चर्य तब हुआ जब दोपहर के समय इन्हीं गाँवों को स्त्रियों से प्रायः एकदम शून्य पाया। उस समय खाली बैठकर गप-शप हाँकते पुरुष तो बहुत दीखे, जहाँ-तहाँ गलियों में खेलते हुए बालकों का शोर भी सुन पड़ा; परन्तु स्त्रियों में से तो प्रायः एक को भी नहीं देखा। कालड़ा बाबू से पूछा—"यह मामला क्या है ?"

हँसकर बोले—"वे इस समय 'समिदाहरण' और 'पत्र-चयन' के लिए गई हैं।"

"अरे वाह, समिदाहरण और पत्र-चयन ! तो वे क्या कण्वाश्रम की वैखानसियां हैं जो इस कठिन दोपहरी में ही समिदाहरण के लिए घर से निकल गई हैं ?"

उत्तर मिला—"हाँ, गृहस्थ होकर भी वे लोग वैखानसी हैं; एकदम तपस्विनी। घर के बाहर और भीतर के सभी कामों का बोझ उन्हीं के सिर पर है। पुरुष लोग जब घरों में बैठकर गप्पें लड़ा रहे होते है, या लम्बी तानकर सो रहे होते हैं, तब ये बेचारी सिर पर हँसिया रखे नंगे पाँव, नंगे सिर लकड़ियों की खोज में या अपने पशुओं के लिए पत्तों की तलाश में पहाड़ों की शून्य घाटियों में भटक रही होती हैं। वहाँ वृक्षों पर चढ़कर पत्ते तोड़ने या सूखी-गीली लकड़ियों के एकत्रित करने में

ही इनकी समूची दोपहरी बीत जाती है; और अन्त में जब सिर पर लकड़ियों के बोझ उठाये वे घर लौटती हैं, झुटपुटी संध्या गाँवों पर छा जाने की तय्यारी कर रही होती है। ये ही इनकी दैनिक दिनचर्या है; प्रायः रोज का ही काम है। सच तो यह



है कि वर्षाकाल को छोड़कर इनकी शरद-ग्रीष्म की प्रायः सारी ही दोपहरियाँ वनों में ही बीतती हैं। उस समय यदि कभी थोड़ा-सा विश्राम लेना होता है तो वहीं पर किसी एकान्त जलधारा या झरने के पार्श्ववर्ती लताकुंज में या सघन छायावाले किसी वृक्ष के नीचे लेटकर ये अपनी मध्यान्ह-वेला का कुछ समय शान्तिपूर्वक बिता देती हैं। वहीं सखियों में बैठकर विश्रंभालाप करती हैं; वहीं सुख-दुःख कथायें, मनोव्यथायें, एक दूसरे को सुनाती हैं। गाँवों और घरों की अपेक्षा वनभूमियों की ये मध्याह्न-वेलायें ही इनके विश्रंभालापों की अधिक साक्षी होती हैं।

सुनकर सहसा 'अभिज्ञान शाकुंतल' के द्वितीय अंक की वह घटना याद हो आई जिसमें विरह-व्याकुल दुष्यंत अपनी प्रेयसी की खोज में कण्वाश्रम के मालिनी-तीरों के आसपास अकेला भटकता फिर रहा है। मध्याह्न का समय है। शकुन्तला की आवास-कुटीर को वह देख आया है; वह वहाँ नहीं है। उसकी दोनों सखियों—अनुसूया और प्रियंवदा—की पर्णशालायें भी उसने देख ली हैं और वहाँ भी कोई नहीं

है। दो-चार पालतू हरिणों को छोड़कर—जो एक सघन वृक्ष छाया में बैठकर विश्राम ले रहे हैं—वहां चारों तरफ एक शून्य सन्नाटा छाया हुआ है।—तब, वह कहां होगी ?

उसे सहसा याद हो आया— [1]"इमा मुग्रातपवेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुंतला गमयति"—इन जेठ की कठिन दोपहरियों को वह प्रायः मालिनी तीर के लताकुंजों में अपनी सखियोंसहित बिताया करती है।—चलूँ, उधर ही चलूँ। थोड़ा ही आगे बढ़ने पर, सामने ही, एक लताकुंज दीख पड़ता है जिसके बाहर की द्वारवर्ती पांडुसिकता पर किसी 'श्रोणीभारादलसगमना' युवती के ताजे पद-चिह्न पड़े हुए हैं। पुष्पितक्षुपों की एक छोटी-सी बीथी में से होकर एक रास्ता भी कुंज के द्वार तक गया है। वह चुपचाप उसके पास जा पहुँचता है और लतावलय के संधों में से झाँककर देखता है सचमुच ही एक स्वच्छ शिलापट्ट पर लेटी हुई उसकी प्रेयसी अपनी दोनों सखियों के साथ मंदस्वर में बातचीत कर रही है।

दोनों ही बातों में कितना साम्य है। कण्वाश्रम की तापसयुवतियाँ भी अपनी मध्यान्ह वेलायें आश्रम से बाहर की वनभूमियों में बिताती हैं और इधर की ये ग्रामवासिनी स्त्रियाँ भी अपनी दोपहरियाँ प्रायः गाँव के बाह्य वनों में ही बिताती हैं। उनके उद्देश्यों और कारणों में भले ही कितना ही भेद क्यों न रहा हो, परन्तु जहाँ तक प्रथा और परम्परा का सम्बन्ध है दोनों बातों में बहुत ही अधिक साम्य है। ऐसा लगता है, जैसे इधर की प्रथाओं से सुपरिचित कवि ने इस एक विशिष्ट प्रथा की तरफ विशेष संकेत करने के लिए ही वह उपर्युक्त वाक्य लिखा हो। एकबार तो ऐसा विश्वास कर लेने को भी जी चाहता है जैसे कवि ने अपने इस द्वितीय अंक के इस कथांश को भी मानो इन गाँवों में प्रचलित, स्त्रियों की इस अद्भुत प्रथा के आधार पर ही लिखा हो। तो भी सत्य क्या है कहा नहीं जा सकता।

दीर्घ विरह व्रत

एकदिन बातचीत के प्रसंग में देवदत्त जी ने एक और बात भी हमें सुनाई। कहा—"गत वर्ष में जब जानसार [चकरौता के ऊपर वाले नाहन के पहाड़] की तरफ गया वहाँ की स्त्रियों में इधर की स्त्रियों से एक बड़ा भारी भेद मैंने यह पाया कि उनमें सजावट, शृंगार और सौन्दर्यप्रियता से जितना ही अधिक प्रेम होता है, गढ़वाल की इन स्त्रियों में उतना ही कम। उनके मुकाबले में यदि इन्हें तापसी कहा जाय तो शायद अत्युक्ति न होगी। नाचने-गाने में उनका जैसा उत्साह होता है, जैसी हँसमुख और आतिथ्यप्रिय वे होती हैं और अपने घरों को सजाकर रखने का जैसा आग्रह

१ 'अभिज्ञान शाकुंतल'—द्वितीय अंक

उनमें होता है, यहाँ वैसी कोई भी बात नहीं पाई जाती ।"

इस भेद का कारण भी जल्दी ही पता चल गया। जानसार के लोगों की आर्थिक स्थिति इधर के लोगों की अपेक्षा अच्छी है। इसलिए उन लोगों को घरबार छोड़कर नौकरी के लिए बाहर नहीं जाना पड़ता। परन्तु गढ़वाल की आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय है कि पैसे की समस्या हल करने के लिए इन्हें एक प्रकार से बाधित होकर ही घर से बाहर निकल जाना पड़ता है और पीछे उनकी स्त्रियां अकेली रह जाती हैं।

जान पड़ता है, इस देश की ऐसी स्थिति आज की नहीं है; अत्यन्त प्राचीन-काल से ही चली आ रही है। यहाँ के लोग सदा से ही ऐसे ही बाहर नौकरियों पर चले जाते रहे हैं और पीछे उनकी स्त्रियों को भी इसी प्रकार अपने पति-विरह के लंबे दिन काटने पड़ते रहे हैं। चिरदिनों से चली आ रही इस निरन्तर व्रतसाधना का परिणाम यह हुआ है कि इधर की एक जाति की जाति, यौवन में ही वानप्रस्थिनी और तपस्विनी बन गई है। न इनमें शृंगार का शौक रह गया है; न अच्छे-बढ़िया वस्त्रों का। मकानों को सजाकर रखने की प्रवृत्ति भी इनमें नहीं रह गई है। न इधर कोई उत्सव मनाया जाता है, न त्यौहार। दसहरा, दिवाली, होली, कोई भी हिन्दू त्यौहार इधर नहीं मनाया जाता। दसहरे पर रामलीला रचाने का शौक इधर बेशक बहुत है। मगर उसका आनन्द प्रायः पुरुष लोग ही लेते हैं—या वे स्त्रियाँ भी लेती हैं जिन्हें पति-साहचर्य का सौभाग्य प्राप्त होता है। यहाँ की अधिकांश स्त्रियों का उससे बहुत कम सम्बन्ध होता है। शायद इस वैराग्य के कारण इनका भोजन भी चिरपरम्परा से ऐसा ही तपस्वियों का-सा बन गया है। श्यामाक, नीवार और मंडुआ सरीखे मुनियों के अन्न पर ही ये अपना निर्वाह करती हैं। सच कहा जाय तो इनका सारा ही जीवन प्रायः वनवासी तपस्वियों का-सा हो गया है और विरह व्रत की साधना में ही इनके जीवन का एक बड़ा भाग बीत जाता है।

ऐसा जान पड़ता है जैसे मरीचाश्रम में अकेली रहकर दिन काटती हुई मलिनवस्त्रधारिणी,[1] नियमक्षाम मुखी, धृतैकवेणी, विरहिणी शकुन्तला का संवेदनापूर्ण वर्णन करने के व्याज से महाकवि ने मानो इन स्त्रियों का ही वर्णन किया हो। नंगे पाँव और वल्कलवस्त्रधारिणी रहकर तो इन स्त्रियों ने अपनी इस व्रतसाधना को

१ वसने परिधूसरे वसाना
नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी ।
अति निष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ।। अभिज्ञान शाकुन्तल

और भी कठोर बना दिया है।

इसका यह अर्थ नहीं कि एकबार घर से निकलकर इनके आदमी घरों पर आते ही नहीं; कभी-कभी आते भी हैं; और उन दिनों मरीचाश्रम में शकुन्तला और दुष्यन्त के आकस्मिक पुनर्मिलन सरीखे आनन्दमय दृश्य भी यहाँ देखने को मिलते हैं। परन्तु ऐसे अवसर बहुत नहीं आते। आनन्द के ऐसे मधुर क्षण कभी-कभी ही आते हैं। नहीं तो उनका अधिकांश जीवन ऐसे ही बीत जाता है।

उस दिल्ली में ही गढवाल के ऐसे लोगों की एक काफी बड़ी संख्या मौजूद है। मैं जब कभी उन्हें किसी तंग कोठरी में अकेले पड़े हुए, होटलों में जूठे बर्तन माँजते हुए या रात की चौकीदारी के सूने क्षण काटने के लिए कहीं अकेले में बाँसुरी बजाते या किसी की याद में किसी विरहगीत को गाते सुनता हूँ. मुझे इन विरहिणी स्त्रियों की याद हो आती है। ये भी तो इस सूनी रात में इसी तरह अपने मकानों की किसी एकान्त कोठरी में अकेली पड़ी हुई किसी की याद कर रही होंगी।

यदि एक व्यक्ति या कुछ थोड़े से व्यक्तियों का यह प्रश्न होता इसे शायद इतना महत्त्व न भी दिया जा सकता। परन्तु यहाँ तो एक समूची जाति, एक समूचा प्रदेश अपने आनन्द, यौवनोल्लास, आत्मगौरव और उन्नति के समान अवसर-प्राप्ति के नागरिक अधिकार से इस तरह वंचित कर दिया गया है कि छोटी-मोटी सुधार-योजनाओं से उनके इन चिरप्राचीन कष्टों का निवारण नहीं हो सकता। इसके लिए तो उच्च सरकारी स्तर पर ही व्यापक प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है।

यह जानकर सन्तोष होता है कि कुछ समय से इधर शिक्षा-प्रसार का प्रशंसनीय प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु इस समय इससे भी बड़ी आवश्यकता यहाँ के लोगों को आर्थिक समस्या का हल करना है। अभी हाल में जिस प्रकार 'नारवेजियन-सहायता-योजना' के आधीन कुल्लू की पहाड़ियों में कागज़ तथा खिलौने आदि बनाने के ग्रामव्यापी कारखाने स्थापित करने की स्कीम प्रारम्भ की जा रही है इन पहाड़ों में भी इसी प्रकार के कुटीर उद्योगों के चलाये जाने की आवश्यकता है। इसके लिए बिजली का उत्पादन आवश्यक होगा। बिजली पैदा करने के सुभीते इधर बहुत हैं। यह प्रदेश तेज़ बहनेवाली नदियों से भरा पड़ा है। विदासिनी, मालिनी और रवासन सरीखी नदियों पर बाँध लगाकर बहुत ही आराम के साथ यहाँ बिजली और सिंचाई का प्रबन्ध किया जा सकता है। कुल्लू की तरह यहाँ फलों के बाग भी तब बहुतायत से लगाये जा सकेंगे।

ऐसा हो जाने पर यहाँ के लोगों की काया ही पलट जायगी और इन्हें छोटी-छोटी नौकरियों के लिए बाहर न जाना पड़ेगा। देश समृद्ध हो जायगा और यहाँ की स्त्रियों के कितने ही कष्ट मिट जायँगे।

अन्तिम विसर्जन

जयहरी में तीन दिन ठहरकर हम लोग आगे की यात्रा पर चल पड़े। यहाँ से कण्वाश्रम १३ मील के लगभग और मालिनी के दोनों स्रोत दो मील के लगभग रह जाते हैं। 'दो स्रोत' सुनकर चौंकिये नहीं। इस नदी के सचमुच ही दो स्रोत हैं। एक चंडाखाल के शिखर पर और दूसरा धूरागाँव में।

चंडाखाल वाला स्रोत ठीक जयहरी गाँव के स्रोत-सरीखा है। हाथ-दो-हाथ गहरा, गजभर लंबा और लगभग इतना ही चौड़ा एक स्वच्छ जलपूर्ण कुण्ड है, जिसे तीन तरफ से डेढ़-डेढ़ फीट ऊँची पत्थरों की दीवारों से घेरकर ऊपर से लकड़ी की मोटी और चपटी कड़ियों से ढक दिया गया है; और उन पर भारी-भारी पत्थर जमा दिए गये हैं। इससे ग्रामीण पशु उसमें मुँह नहीं मार सकते और कूड़ा-करकट भी नहीं पड़ने पाता। केवल ग्रामीण स्त्रियाँ उसमें से लोटे भर-भर कर अपनी टोकनियां भर सकती हैं। इस पर स्नान करना या कपड़े धोना वर्जित है।

परन्तु इस स्रोत-कुण्ड में से जो धारा निकली है उसकी कहानी अच्छी मनोरंजक है। स्रोत में से बहकर वह जैसे ही पहाड़ के ढलवान पर से नीचे उतरने लगती है कि न जाने क्या सोचकर सहसा इस प्रकार धरती में समा जाती है कि फिर काफी दूर जाकर ही उसके दोबारा दर्शन किये जा सकते हैं। दोबारा भी वह थोड़ी ही देर के लिए दीखती है; और फिर पहले की ही तरह धरती में लुप्त हो जाती है। वह मानों कोई यक्ष-सुन्दरी है, जो किसी महादानव के भय से इन एकान्त बन-पर्वतों में इस प्रकार लुकती छिपती भागी चली जारही है। लगातार तीन मील तक वह इसी प्रकार कभी प्रकट और कभी अन्तर्धान होती हुई मयड्डु तक जा पहुँची है और यहीं वह पूर्ण निर्भयता के साथ प्रकट हुई है। मानों, यहां पहुँचकर उसे किसी का भय नहीं रहा है; यहाँ वह पूर्ण सुरक्षित है। उसका मालिनी नाम भी यहीं से पड़ा है। इससे पहले, चंडाखाल और मयड्डु के बीच में वहाँ के लोग उसे 'सौड़ की रौ' कहकर पुकारते हैं।

धूराग्रामवाला दूसरा स्रोत इससे बहुत अधिक भिन्न है। उसमें से जो धारा निकली है वह कहीं भी इस प्रकार की 'आँख-मिचौनी' नहीं खेलती। एक सरलहृदया मानव-कन्या की तरह वह एकबार पर्वतगर्भ में से प्रकट होकर फिर बहुत ही स्पष्ट रूप से धरित्री के वक्षःस्थल पर बहती चली गई है और अन्त में मयड्डु पर पहुँचकर चंडाखाल वाली उस धारा में ही मिल गई है। इन दोनों धाराओं के संगम से जो एक नई नदी बनी है, उसी का नाम मालिनी है। इसलिए यदि इस मयड्डु को ही मालिनी का जन्मस्थान मान लिया जाय तो बहुत अधिक असंगत नहीं प्रतीत होता।

धूराग्रामवाला स्रोत चंडाखालवाले स्रोत से अनेक बातों में भिन्न है। यह

एक उथला-सा कुण्ड है, जिसका घेरा एक बड़ी परात से अधिक बड़ा नहीं है। इसमें बुलबुल करता हुआ जल चौबीसों घंटे धरती में से फूटकर ऊपर निकलता रहता है। ऐसा जान पड़ता है जैसे पृथ्वी के गर्भ में बैठा हुआ कोई दैत्य-शिशु अपनी जलफुंकनी से खेल रहा हो, और उसी के श्वास-प्रश्वासों के धक्कों से जल इस प्रकार बुलबुलाता हुआ ऊपर निकल रहा हो। इस कुण्ड में से बहकर जल-धारा एक कदलीकुंज में से होती हुई पर्वत से नीचे उतर गई है; जहां गांववालों ने लकड़ी का एक पतनाला लगा दिया है, जिससे एक पतली-सी धारा अहर्निश नीचे गिरती रहती है। ग्राम-वासिनी स्त्रियां इस कृत्रिम झरने में से ही अपने जलकलश भरा करती हैं।

मयड्डु से चौकीघाटा दस मील रह जाता है और कोटद्वार सत्रह मील। कोट-द्वार से एक छोटी रेलवे लाइन नजीबाबाद तक गई है, जहां से आगे दिल्ली आदि के लिये जाया जा सकता है। अगस्त से अक्तूबर-नवंबर तक के तीन चार महीनों को छोड़कर शेष सारे ही सालभर यह मार्ग खूब चालू रहता है। उत्तराखंड से नजीबा-बाद जाने वाले पचासों यात्री प्रतिदिन इस पर यात्रा करते हैं। चौकीघाटा जाने के लिए हमारे लिए भी यही मार्ग उचित था; सरल और निरापद भी था। परन्तु इससे हमारा मालिनी नदी का साथ छूट जाता था। मयड्डु से निकलकर वह किन घाटियों, वन-पर्वतों और मार्गों से होती हुई चौकीघाटा तक पहुंची है, हम यही सब देख लेना चाहते थे; और यह तभी हो सकता था, जब हम प्रकृत मार्ग को छोड़कर उसके साथ ही साथ यात्रा करते।

मयड्डु से आगे मालिनी की यह क्षुद्रधारा कुछ दूर तक ऐसे बीहड़ मार्गों में से होकर गुज़री है कि उसके साथ-साथ चल सकना प्रायः असंभव ही हो गया है। परन्तु इसके बाद जब फिर उसके दर्शन होते हैं, देखकर सचमुच ही अचंभित हो उठना पड़ता है। रास्ते की कितनी ही सहायक धाराओं का आसव पीकर वह मानों इस प्रकार उन्मत्त हो उठी है कि बहुत ही वेग से अनहद नाद करती हुई पर्वत पृष्ठ से नीचे की ओर दौड़ी जा रही है। वर्षा के दिनों में अवश्य ही इसका यह प्रवाह बहुत ही उग्र और भयंकर हो उठता होगा। परन्तु शरद ऋतु के इस शैशवकाल में मद्यपान के प्रभाव से मुक्त हुई नायिका की तरह, उन दिनों की अपेक्षा वह इस समय काफी शिष्ट और शांत दीख पड़ रही है।

पहाड़ी उतराई से उतर कर संकीर्ण घाटी में उतर जाने के बाद तो वह और भी शांत हो उठी है। कभी छोटी-छोटी कंकरियों से भरे हुए पथों में से, कभी रेतीली धरती पर से और कभी विशाल चट्टानों में से होती हुई वह निरंतर आगे बढ़ती जा रही है। दोनों तरफ ऊंचे श्यामल पर्वत खड़े हैं, जिन पर कहीं-कहीं बस्ती के चिन्ह भी दीख पड़ जाते हैं। जंगली वृक्षों की श्यामलता के बीच में बिखरे हुए छोटे-छोटे

हरे खेत बहुत ही सुन्दर मालूम पड़ते हैं। संभव है वे लोग कभी-कभी वहाँ से उतर कर इस नदी घाटी में भी आते हों। कभी किसी जातीय पर्व को मनाने इन नदी तटों पर एकत्रित होते हों। स्नान करते हों, भोजन बनाते हों, नाच गान और आमोद प्रमोद करते हों। मगर तो भी, इस समय तो, कोई भी मानवीय पदचिन्ह इधर की रेत पर नहीं दीख पड़ रहा। नदी के साथ-साथ चल सकना कठिन हो रहा है। चला भी कैसे जाय ? कोई मार्ग तो है ही नहीं। यों ही जबर्दस्ती ही चलना पड़ रहा है। कभी इसके दाँयें, कभी बाँयें। जब इधर के किनारे पर मार्ग नहीं रह जाता, धारा को पार कर दूसरे किनारे के साथ-साथ आगे बढ़ना पड़ जाता है। ऐसे ही यात्रा हो रही है। कई बार तो ऐसी हालत हो उठती है कि दोनों ही तरफ कोई रास्ता नहीं रह जाता और तब किसी एक तरफ की पहाड़ी चट्टानों पर चढ़ते उतरते ही कुछ दूर तक आगे बढ़ना पड़ता है और ऐसा करते हुए एकाध बार किसी चट्टान से फिसलकर नदी में गिर पड़ने के कारण जबर्दस्ती ही स्नान करने का पुण्य लूट लेना पड़ता है। इस प्रकार दस मील की इस यात्रा में चौकीघाटा पहुँचने तक हमें पूरे ९६ बार कभी इस पार कभी उस पार, नदी को लाँघना पड़ा। आठों साथियों को कुल मिलाकर लगभग ५१५ बार जूते उतारने और पहनने पड़े। अंत में ६ मील चलने के बाद मैंने और बिहारी ने जूते उतारने का झगड़ा ही छोड़ दिया। जूतों समेत ही नदी में घुसकर पार हो जाते; मेरे और कुमार के पास नई पेशावरी चप्पलें थीं और आनंद, शेखर और विपिन के पास केन्वस के बाटा शू। इनमें से एक ऊँची चट्टान पर से नदी में कूदते समय शेखर के शू तो मालिनी बहा ले गई। जल स्नान कराने का बलात्कार न सहकर श्याम के दायें शू का टो मरे हुए गोह की तरह मुँह बा बैठा और मेरी दाईं चप्पल की डसों ने स्वामिभक्त बने रहने से साफ इन्कार कर दिया। तरुण के शू की तली निकल गई और उसे शेष रास्ता शिवजी के बरातियों की तरह केवल एक पाँव में शू पहनकर ही काटना पड़ा। केवल कुमार ही ऐसा भाग्यवान रहा, जिसकी चप्पलों ने उसे धोखा नहीं दिया और वह भी इसलिये, कि उसने दिल्ली के चमार के सामने लगातार पच्चीस मिनट तक खड़े रहने की तपस्या करके अपनी चप्पलों में डबल टांके लगवाने की दूरदर्शिता की थी। ये टांके और ये 'अनागतविधातापन' ही अब इस आड़े वक्त में उसके काम आ रहे थे।

हमारी गति कितनी धीमी थी यह इसी से जाना जा सकता है कि बारह बजे तक हम केवल पाँच मील का ही रास्ता तै कर पाये। धूप तबतक काफी तेज़ हो चुकी थी और मध्यान्ह-भोजन का समयभी हो चुका था। लिहाज़ा, सामने ही नदी के तट पर खड़े हुए एक वट वृक्ष की घनी छाया में ठहर कर मालिनी के आनंदमय स्नान और कालड़ा बाबू की कन्या सरला के हाथों बनाये हुए भोजन से निवृत्त हो

दस पंद्रह मिनट तक नदी तट पर विश्राम किया; जंगल के भीतरी भागों को देखा; फोटो खिचवाये; और एकबार फिर ताजादम होकर आगे चल पड़े।

अभी दो ही फर्लांग बढ़े होंगे कि जिसने सब से पहले दर्शन दिये, वे थे—नदी की गीली रेत पर पड़े हुए शेर के ताजे पदचिन्ह। उनकी चौड़ाई और आगे पीछे



के पंजों के बीच की दूरी मापने से अनुमान लगाया गया कि शेर दस फीट से कम लंबा नहीं है। पंजों के देखने से यह भी स्पष्ट हो रहा था कि उसे इधर से गुजरे हुए चौबीस घंटों से अधिक नहीं हुए हैं। नदी के दोनों ही किनारे उसके नये पुराने पद-चिन्हों से भरे पड़े हैं। जान पड़ता है वह इसी स्थान पर रहता है। नदी के इन्हीं किनारों को उसने अपनी विहार भूमि बनाया हुआ है। साथ ही नीलगायों के गहरे खुर भी गीली रेत में पड़े हुए हैं, जिससे यह अनुमान लगा लेना कठिन नहीं कि इस एकांत निर्जन घाटी में उसका मुख्य आहार क्या है।

आनंद सबसे आगे जा रहा था और उससे लगभग एक फर्लांग पीछे मैं था। शेखर, बिहारी, तरुण, श्याम, विपिन और कुमार हमारे बीच में थे। मैंने दूर से ही देखा, आनंद ने एकाएक ठहर कर किसी वस्तु को झुककर उठा लिया है और उसे ध्यान से देख रहा है। फिर वह सहसा हमारी तरफ घूमकर खड़ा हो गया है और हाथ ऊपर उठाकर उसे दूर से ही हमें दिखा रहा है।

क्या है?—मैंने चिल्लाकर पूछा।

आओ, देखो—उसने वहीं से उत्तर दिया।

हम नदी के इस पार थे; वह उस पार। तुरंत नदी को पार कर हम उधर पहुँचे और देखा वह जिस वस्तु को दिखा रहा था, वह एक डील[1] मात्र थी



और कुछ नहीं, जिसे इधर की स्त्रियाँ लकड़ी आदि का बोझ उठाते समय अपने सिर पर रखा करती हैं। पास ही जंगली बेल से लिपटा हुआ, दस पन्द्रह सूखी लकड़ियों का एक छोटा-सा बंडल भी पड़ा था। बेल हरी और ताजी थी; चौबीस घंटों से पुरानी नहीं रही होगी। कुल मिला कर बात अचंभे की ही थी। आगन्तुका स्त्री है यह तो स्पष्ट था। परंतु एक तो यह सूना निर्जन जंगल, भयानक स्थान; यहाँ अकेले आने का उसका प्रयोजन ही क्या था? फिर जब वह आई ही थी, तो इन सब चीजों

१. उत्तराखंड में इसे 'डील' कहते हैं और हमारी तरफ 'इंडवी'

को यों ही पड़ा छोड़ वह अब चली कहाँ गई ?—किधर ?

डील काफी सुन्दर है। बहुत ही स्वच्छ कपड़े की बनी है। डी० एम० सी० के हरे रेशमी धागे से लिपटी हुई है; और उसमें से निकलती हुई भीनी सुगंध किसी शृंगारप्रिया युवती के सुवासित श्याम केशों का स्मरण करा रही है।

जहाँ हम खड़े थे वहाँ चारों तरफ कंकड़ पत्थर बिछे थे, इससे किसी के पद-चिन्हों का कुछ पता नहीं चल रहा था; परंतु थोड़ा ही आगे बढ़ने पर नदी की अध-गीली रेत पर कुछ पदचिन्ह दिखाई पड़ गये। पदचिन्ह पुराने नहीं हैं; और एक के स्थान पर दो जनों के मालूम पड़ते हैं। एक के पाँव में कैन्वस के शू हैं, दूसरी के पाँव नंगे हैं। पदचिन्ह एक दूसरे में इतने अधिक मिले हुए हैं, जैसे मानों एक दूसरे के साथ एकदम सटकर चलते हुए वे इस रेत पर से गये हैं। नदी के साथ-साथ लगभग पच्चीस-तीस फीट तक वे इसी तरह चले गये हैं; परंतु आगे रास्ता नहीं है। तट बड़ी-बड़ी चट्टानों से भर उठा है। ऊपर पहाड़ी भूमि है। एक छोटी-सी पगडंडी उधर ही चली गई है और ये पदचिन्ह भी उधर ही चढ़ गये हैं। इससे जान पड़ता है, वे दोनों यहीं से ऊपर चढ़े हैं। पगडंडी एकदम अस्पष्ट है; और एक सघन वृक्ष के पास पहुँच कर समाप्त हो गई है। वृक्ष भी अधिक ऊँचा नहीं है। नीचे, पीले पत्तों की शय्या सी बिछी हुई है। उसका जो भाग विमर्दित और अस्तव्यस्त हुआ दीख पड़ रहा है, वहाँ उन दोनों ने काफी देर तक आराम-विश्राम किया है, यह बहुत ही स्पष्ट पता चल रहा है। मैंने एक बार वृक्ष की तरफ आँखें उठा कर, मानों उससे पूछा—कहो मित्र, वे दोनों कौन थे, जिन्होंने तुम्हारी इस एकांत छाया में चिर विश्राम किया था ? परंतु उसने कोई उत्तर नहीं दिया। गोपनीयता की शपथ ग्रहण किये हुए राज्य मंत्री की तरह वह हमें कुछ भी बताने को तय्यार न हुआ।

लौटकर फिर नदी के किनारे ही उतर आये। चट्टानों के कारण आगे रास्ता नहीं है। नदी का दूसरा किनारा भी भारी चट्टानों से भरा पड़ा है; उधर जाना व्यर्थ है। लिहाज़ा, कुछ दूर तक इन चट्टानों के ऊपर ही चढ़ते उतरते आगे बढ़ना पड़ा। आठ दस चट्टानें पार करने के बाद फिर नदी का चलने योग्य रेतीला किनारा आ जाता है। मैं सब से आगे था। मैंने जैसे ही अंतिम चट्टान पर से किनारे की रेती पर छलाँग लगाई, चट्टान की ओट में पड़े हुए एक पीले से वस्त्र पर नजर पड़ते ही मैं सहसा चौंक उठा। हृदय किसी अज्ञात आशंका से धड़कने लगा। बहुत ही सावधानी से वस्त्र को उठाकर देखा; किसी स्त्री की साड़ी का, खून और अधगीली रेत में सना हुआ, आधा खंड मात्र है, जो स्थान-स्थान पर से फटकर चीथड़ा हो गया है।

पहले, वह डील; और अब, यह साड़ी; दोनों एक ही स्त्री की संपत्ति हैं, यह तो अब अच्छी तरह समझ आ गया; खून को देखकर अत्यंत वेदना के साथ यह भी

मान लिया कि वह शायद अब इस संसार में जीवित नहीं है; साथ ही इस निष्ठुर हत्या के लिये पहला संदेह उस संभावित व्यक्ति पर ही गया, जो उसके साथ था। परंतु अगले ही क्षण चट्टान की पिछली ओट में गीली रेत पर पड़े हुए शेर के ताजे पंजों ने सारा ही मामला स्पष्ट कर दिया। पंजे केवल पिछली ओट में ही नहीं पड़े हैं, हमारे आसपास—आगे पीछे—चारों ही तरफ पड़े हुए हैं। उनके साथ ही युवती के पदचिन्ह भी इस प्रकार मिले जुले और मसले हुए पड़े हैं, जैसे कुछ क्षणों तक उसमें और उसके हत्यारे में थोड़ा बहुत संघर्ष भी हुआ हो। यदि हमारी आंखें और हमारा ध्यान साड़ी के उस टुकड़े पर ही केन्द्रित न हो गया होता तो वे इतने स्पष्ट थे कि उन्हें साड़ी से भी पहले देख लिया जाना चाहिये था।

इन सब सबूतों और मूक साक्षियों से हमने जो परिणाम निकाला उसकी कहानी संक्षेप में इस प्रकार लिखी जा सकती है :

सामने के पर्वतों पर रहने वाले दो प्रेमी—जिन्हें शायद गांव में मिलने का सुभीता नहीं मिल रहा था—इस एकांत घाटी में मिलने का वायदा करते हैं। नियत दिन पर युवती पहले आ पहुँचती है और युवक शायद अभीतक नहीं पहुँच सका है। सोचती है, तब तक थोड़ी-सी लकड़ियां ही क्यों न इकट्ठी कर लूं। घर वालों के तरह-तरह के प्रश्नों का इस से बढ़िया उत्तर और क्या होगा ? युवक से मिलने की अधीरता में वह थोड़ी-सी लकड़ियां ही बटोर सकती है और जल्दी-जल्दी उनका ही एक बंडल बना, उसे गीली वन्य लता से लपेट, जब तक उसे किनारे पर रखती है, सामने से युवक आ पहुँचता है। उसे देख, शायद प्रथमलज्जा के कारण या प्रसन्नता की घबराहट के कारण—जैसा भी हो—उसके सिर पर से डील गिर पड़ती है। वह एक सुन्दर पीली साड़ी पहने है; सिर नंगा है; काले श्याम केश संवारे हुए हैं और उनमें से भीनी सुगंध निकल रही है। युवक के प्रेमावेश का अंत नहीं है। आगे बढ़कर वह एक साथ उसकी कमर में हाथ डाल लेता है और ऐसी ही हालत में उसे उस वृक्ष की छाया में ले जाता है। सामने ही पीले पत्तों की पर्ण शय्या बिछी है। वहां कबतक वे दोनों बैठे रहे पता नहीं है; परन्तु इतना तो निश्चित है कि कुछ काल बाद युवती को किसी आवश्यक काम से, युवक को वहीं अकेले छोड़, इस चट्टान के नीचे आना पड़ गया है। वह किस मार्ग से यहां तक पहुँची, कहा नहीं जा सकता। अधिक संभव यही है कि हमारी तरह चट्टानों पर चढ़ती उतरती ही वह यहां तक पहुँची हो। शेर के लिये इससे अच्छा अवसर और क्या हो सकता था ? वह संभवतः काफ़ी देर से ही इन दोनों के बिछुड़ने की प्रतीक्षा में किसी झाड़ी की ओट में चुपचाप बैठा हुआ था। युवती को अकेले जाते देख वह बहुत ही दबे पांव उसके पीछे हो लिया और वह जैसे ही इस चट्टान पर पहुँची, उस पर झपट कर उसने उसे शायद एक दो क्षण में

ही मार दिया। रेत में पड़े हुए पदचिन्हों से इतना तो अवश्य पता चलता है कि युवती ने कुछ क्षणों तक शेर से बचने का प्रयत्न किया होगा। शायद सहायता के लिये युवक को भी पुकारा होगा। परन्तु इन सब बातों में एक दो क्षण से अधिक नहीं लगे होंगे और शेर ने उसे बहुत शीघ्र ही मार डाला होगा। बाद में उसने उसकी साड़ी भी नोंच डाली होगी और उसे उसी अर्धनग्न अवस्था में उठाकर वह किसी निरापद घाटी में चला गया होगा।

युवक का क्या हुआ, पता नहीं चला। वह शेर के भय से वृक्ष पर चढ़ गया या युवती की सहायता के लिए इस चट्टान तक आया, कुछ कहा नहीं जा सकता। तो भी हमारे विचार में इस चट्टान तक तो वह शायद नहीं आया। यदि आया होता तो इस साड़ी के टुकड़े को एक बार अवश्य उठाकर देखता और ऐसा करते हुए उसके जूतों के चिन्ह यहाँ की रेत पर अवश्य पड़ जाते। इसलिये अधिक संभव यही है कि वह मौका देखकर गाँव की तरफ ही भाग गया। इससे अधिक वह कर भी क्या सकता था? न रायफल, न गन; न आत्मरक्षा का कोई अन्य साधन। भाग जाने के अतिरिक्त उसके पास और चारा ही क्या था?

कंधे से सामान उतार, उसे एक वृक्ष पर सुरक्षित रख—शेर जिस राह से युवती को उठाकर ले गया था—हम उधर ही चल पड़े। नरभक्षक शेर हमेशा लुक छिपकर पीछे से आकर ही झपटता है। इसलिये ऐसे घने जंगल में—जहाँ वह अब भी मौजूद है—घुसने का साहस करना यद्यपि जान बूझ कर मृत्यु को निमंत्रण देना ही था, तो भी घटना के अंत तक पहुँचने और बढ़ती हुई उत्सुकता को मिटाने के लिये हमारे पास उस समय ऐसी विपत्तियों पर विचार करने का अवसर ही न था। जयहरी से लाई हुई चार बड़ी बड़ी मशालें हमारे साथ थीं; उन्हें लम्बे बांसों पर बाँध कर जला लिया गया और उन्हीं के पहरे में जंगल में घुस गये।

खून के चिन्ह लगातार मिल रहे हैं। नदी किनारे से १५-२० फीट चलकर लगभग सत्तर-अस्सी फीट की एक कठिन ऊँचाई आती है और उसके बाद उतनी ही उतराई। उतराई ढलवान है और बाँस के सूखे पत्तों के कारण खूब फिसलनी हो गई है। यहाँ शेर को लाश समेत उतरने में काफी कठिनाई हुई है। जगह जगह उखड़े हुए बड़े बड़े पत्थरों से यह साफ पता चल रहा है कि उसे इस उतराई में कई बार फिसलना भी पड़ा है। इसके बाद एक तंग दर्रा सा आता है जिसके दोनों तरफ नौ नौ—दस दस फीट ऊँची चट्टानें खड़ी हैं। दर्रे की चौड़ाई डेढ़ गज से अधिक नहीं है। यहाँ से लाश समेत निकलने में उसे बहुत ज्यादा परेशानी हुई दीख पड़ती है। दर्रे के दोनों तरफ की चट्टानों पर जमे हुए सूखे खून और माँस के सूखे चिथड़ों से ऐसा लगता है जैसे यहाँ उसे लाश को बहुत ही बेरहमी से घसीटना पड़ा है।

इसके बाद दस पंद्रह कदम तक समतल भूमि आती है, जो करौंदों और झर बेरी की झाड़ियों से छाई हुई है। नीचे के नाले में उतरने के लिये शेर के पास इन झाड़ियों में से जाने के अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं है और इसलिये वह इन्हीं के बीच में से गुजरा है। हम जैसे ही इन झाड़ियों के बीच में से गुजरे, देखा, साड़ी का आधा भाग और युवती के बालों का एक काफी बड़ा गुच्छा इन में उलझा हुआ है। बाल खूब घने काले हैं और उनमें से वैसी ही भीनी महक आ रही है जैसी उस डील में पाई गई थी। पत्तों की बड़ी सी पत्तल बना दोनों ही चिन्हों को उसमें लपेट लिया और आगे बढ़ गये।

यहाँ मशालों को सरसों का तेल पिला कर हमने जैसे ही नाले में उतरने की तैयारी की, पास ही कहीं किसी का हल्का सा पद-शब्द सुनाई दिया। सभी एक साथ रुक जाते हैं और कितने ही क्षणों तक चुपचाप निश्चल खड़े हो कर उधर ही आँखें जमा लेते हैं, जिधर से वह शब्द सुनाई पड़ा था। पन्तु फिर वह शब्द सुनाई नहीं दिया। संभव है, शब्द कोई आया ही न हो, हमारा भ्रम ही हो। हम फिर चल पड़े और पाँच ही मिनट में नाले में जा उतरे।

यहाँ एक भारी चट्टान के नीचे रेत का एक चौड़ा सा बिस्तर बिछा है और इसी बिस्तर पर शेर के बैठने के निशान बहुत ही साफ नजर आ रहे हैं। खून भी जहाँ तहाँ पड़ा है; और साथ ही युवती की लाश से दबी हुई रेत भी साफ दीख पड़ रही है; जिससे पता चलता है कि शेर ने यहीं बैठकर उसे एक या दो दिन में खाकर खत्म किया है। परन्तु आश्चर्य यह है कि लाश की हड्डी तक भी उसने नहीं छोड़ी है; सारी ही खा डाली है।

जलती हुई चिता की तरह मशालें धू धू जल रही थीं और उनके नीचे खड़े हो कर उस समय कितने ही काल्पनिक चित्र मेरे मस्तिष्क में घूम गये। मैं उस भयंकर दृश्य की कल्पना करने लगा जब 'वह' युवती की लाश को अपने पैने दाँतों से नोंच नोंच कर खा रहा होगा और उसका वह नग्न शरीर—जिसे जीवित अवस्था में, उसने न जाने कितने युवकों की उत्सुक आँखों से बहुत ही यत्न पूर्वक छिपाया होगा—यहाँ निर्लज्ज की भाँति निश्चल पड़ा होगा। सोचने लगा,—नारी के भुवनमोहक सौन्दर्य पर मुग्ध होने का विधान क्या केवल पुरुषों के लिये ही है; औरों के लिये नहीं? कितनी देर तक उसका वह सौन्दर्य शेर के सामने खुला पड़ा रहा······वे कठोर स्तन-युगल, वे उन्मादक नितंब और 'रहस्य-मार्गियों' के अत्यन्त प्रिय वे 'कामाद्रि' और 'काममन्दिर'—सभी तो शेर के सामने आत्म समर्पण किये पड़े थे, परन्तु उसके लिये उनमें कुछ भी आकर्षण न था। महाज्ञानी शुकदेव की तरह उस दुर्गन्धित, विनश्वर मांसपिंड में उसके लिये मुग्ध होने की कोई भी बात न थी।

घड़ी में देखा तो पाँच बज रहे हैं। लौट पड़े; और मालिनी तट पर आ पहुँचे। अब आगे बढ़ने का समय नहीं रहा था। इसलिये आज की रात इसी घाटी में बिताने का निश्चय कर उसी वृक्ष पर, जिसके नीचे उन युगल प्रेमियों ने सुख के कुछ मधुर क्षण बिताये थे, रस्सियों की दो-तीन छोटी-छोटी मचानें बना डालीं। फिर नदी किनारे बैठ भोजन किया और बाद में अंधेरा होते ही मचानों पर जा बैठे। सूत की नई रस्सियां थीं तो खूब मजबूत; परन्तु जल्दी में अच्छी प्रकार न बंधने के कारण रात-भर चुभती रहीं। न सोना हो सका, न किसी एक करवट पर भली प्रकार बैठना ही हो सका। यह शायद एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। वह रात सोने के लिये थी भी नहीं। नीचे के सूखे पत्तों पर लगातार किसी के घूमने फिरने का शब्द सुनाई देता रहा। वह कौन है, उसका क्या इरादा है, यह एक प्रकार से यद्यपि स्पष्ट ही था; तो भी हम जानते थे यहाँ उसका अभिप्राय पूरा न हो सकेगा। तब भी हर तरह की सावधानी तो बरतनी ही पड़ी और बीच-बीच में उसे यह भी समझाते रहना पड़ा कि हम जाग रहे हैं और हर तरह सावधान हैं। कभी कभी जंगल के भीतरी भागों से किसी नील-गाय या बारहसिंगे की दबी हुई पुकार भी सुन पड़ जाती थी और कभी कभी उल्लू से मारे जा रहे किसी पक्षी का आर्तस्वर भी। परन्तु जिसे घटना कह सकते हैं, ऐसी कोई बात नहीं हुई और रात कुशल से ही बीत गई।

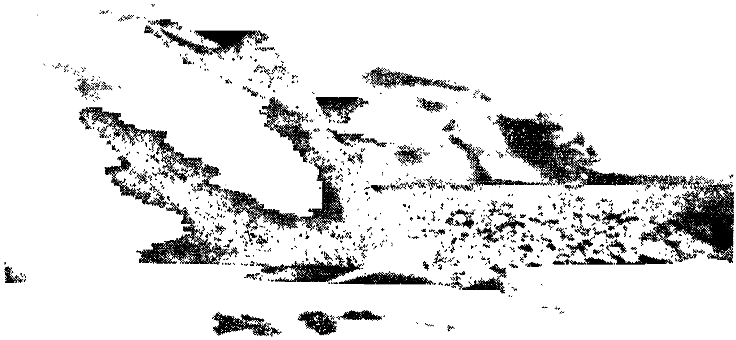
अगले दिन बड़े सवेरे ही कण्वाश्रम की तरफ चल पड़े, जो अब यहाँ से केवल चार ही मील रह गया था। चलने से पहले युवती की एकत्रित की हुई लकड़ियों में उसकी साड़ी के दोनों खंडों, उसकी केशराशि और डील को मालिनी के तट पर भस्म करने में हमें प्रायः आध घंटे से अधिक नहीं लगा; और यह सोच कर कि इधर के भागों में प्रचलित विश्वास के अनुसार ऐसा करने से युवती की सद्‌गति भी हो सकेगी, हमने उनकी भस्म को भी धारा में विसर्जित कर दिया। उसके बाद बहुत ही भारी हृदय से, उस मालिनी तट को—जहाँ शायद अब भी उसकी अतृप्त प्रेतात्मा निःशब्द पद संचार करती हुई अपने प्रियतम को ढूंढती फिर रही होगी—अंतिम प्रणाम कर हम आगे बढ़ गये।

काली चट्टान

यहां से आगे शेर का भय और भी अधिक बढ़ गया। युवती की हत्या वाली जगह पर तो उसके पदचिन्ह कुछ ठहर-ठहर कर ही मिलते रहे थे, परन्तु उसके बाद तो हम जितना ही आगे बढ़ने लगे, इन पदचिन्हों की संख्या भी अधिकाधिक बढ़ने लगी। इनमें दो बातें विशेष पाई गईं। एक तो उनमें फैलाव अधिक था, दूसरे उनमें के नाखून भी कुछ घिसे हुए थे, जिससे पता चलता था कि शेर काफी पुराना है और इसीलिये शायद अपना स्वाभाविक शिकार पकड़ने में कठिनाई होने के कारण उसे

नरभक्षक बन जाना पड़ा है।

ऐसा शेर सामान्य शेरों से अधिक चालाक और क्रूर होता है। इसीलिये उसके इस एकछत्र राज्य में हमें विशेष सावधान होकर चलना पड़ा। नदी किनारे के



जंगलों और चट्टानों से बचते हुए—जिनकी ओट में मृत्यु का भय पग-पग पर छिपा था—नदी की धार के बीच में से होकर चलना ही हमें अधिक सुरक्षित जान पड़ा। वैसे, नदी की गहराई अधिक नहीं थी; कहीं कमर भर, कहीं उससे भी कम पानी उसमें था; तो भी नोकीली चट्टानों, फिसलने पत्थरों और नंगे पैरों में चुभने वाली कंकरियों से भरी रहने के कारण उसमें चलना भारी पड़ रहा था। परन्तु यह सोचकर कि नरभक्षक का शिकार बनने की अपेक्षा तो यह फिर भी सस्ता सौदा है, हम उसमें से ही चले जा रहे थे।

परन्तु मन निश्चिन्त नहीं हो रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे हमारा पीछा किया जा रहा है। वैसे, इसके लिये कोई विशेष प्रमाण हमारे पास नहीं था—क्योंकि इस बीच में न तो वह हमें कहीं दीखा ही था, नां हीं उसकी दहाड़ ही सुनाई दी थी—तो भी न जाने क्यों मन भीतर ही भीतर सावधान रहने की निरन्तर प्रेरणा कर रहा था। प्रेरणा, कुछ निराधार भी नहीं लग रही थी। कल दोपहर से—जब से हम

उसकी सीमा में प्रविष्ट हुए हैं, वह निरन्तर छाया की तरह हमारे साथ है और रात-भर हमारी मचान के आसपास घूमता रहा है; जिससे इतना तो स्पष्ट ही है कि इस बीच में शिकार पकड़ने का अवसर न मिलने के कारण वह अब तक भूखा ही है और इसीलिये यदि आज सवेरे से ही हमारे पीछे लग लिया हो तो आश्चर्य नहीं है।

हम नदी में होकर चल तो अवश्य रहे थे मगर इससे आत्मरक्षा की कोई निश्चित गारंटी नहीं मिल रही थी। कारण, नदी का पाट कितने ही स्थानों पर इतना कम चौड़ा रह जाता था, और दोनों तरफ के जंगल इतने पास आ लगते थे कि जरा सी असावधानी पर ही—जो असंभव नहीं थी—वह आसानी से हम पर झपट सकता था। हाँ, मशालें इस समय बहुत काम आतीं, परन्तु कल उनसे इतना अधिक काम लिया जा चुका था कि उनमें अब जल सकने की अधिक शक्ति नहीं रह गई थी। उनका तेल बहुत कुछ जल चुका था। बहुत करते तो आधा घंटा वे और जल सकती थीं। तेल का जो अतिरिक्त भंडार हमारे पास था, वह भी समाप्त हो चुका था; इस लिये कर्ण की अमोघ शक्ति की तरह मशालों को किसी विशेष संकटकाल के लिये सुरक्षित रख हमें उनके बिना ही चलना पड़ रहा था। रह गये फरसे; उन में आक्रमण करने की शक्ति तो अवश्य थी, मगर आक्रमणकारी को दूर बनाये रखने की शक्ति नहीं थी। इसलिये एकमात्र सतर्कता और बुद्धि पर ही अब हमारा भरोसा रह गया था। आगे-पीछे की एक-एक झाड़ी, नदी का एक-एक मोड़ और उसकी एक-एक चट्टान को बहुत ही बारीकी से भांपते हुए हम आगे बढ़े जा रहे थे। नदी में एक तो वैसे ही फुर्ती से नहीं बढ़ा जा सकता, तिस पर इस समय तो इतना संभल कर चलना हो रहा था कि हमारी चाल प्रति घंटा दो फर्लांग से अधिक नहीं रह गई थी।

नदी के जिस क्षेत्र में इस समय हम चल रहे थे, वहाँ से कोई आधा फर्लांग दूर, नदी के बीचों बीच, देर से एक चट्टान दीख पड़ रही थी। होगी कोई चौदह-पन्द्रह हाथ ऊँची। उसके पास हम जब पहुँचे, तो न जाने सभी को क्या सूझी कि सब एक साथ उछल कर उस पर चढ़ गये। संभव है, मनोरंजन के लिये ही हम लोग उस पर चढ़े हों—जैसा कि हमारे उस समय के हँसने से पता चल रहा था—मगर अधिक संभव शायद यही है कि शेर के भय ने ही हमें उस पर चढ़ने की प्रेरणा दी थी। क्योंकि उस पर रहते हुए हम असल में ही शेर के आक्रमण से सुरक्षित थे। वहाँ से चारों तरफ का जंगल बहुत ही स्पष्ट दीख पड़ता था। शेर कितना ही छिपकर हमारा पीछा क्यों न कर रहा हो, मगर यहाँ वह बिना दिखाई दिये, अचानक ही, हम पर नहीं झपट सकता था।

काफी देर तक हम इस पर चढ़े रहे। मेरे हाथ में बाइनोक्युलर था और उसकी सहायता से चारों तरफ के जंगलों को बहुत ही ध्यान से देख रहा था। कहने

को तो मैं जंगल के सौन्दर्य को ही देख रहा था; और बीच-बीच में जंगल के किसी विशेष सुन्दर दृश्य का अपने साथियों के सामने वर्णन भी कर देता था; मगर असल में मेरी आँखें मन ही मन जिसे खोज रहीं थीं, नरभक्षक के अतिरिक्त वह और कोई न था। तीस-पैंतीस गज़ आगे ही नदी बाईं तरफ मुड़ गई थी और उसके बाद काफी दूर तक उसकी धारा पहाड़ की ओट में इस तरह छुप गई थी, जैसे मानो उसके आगे उसकी सत्ता ही न रही हो। इसी मोड़ पर एक भारी भरकम काली चट्टान नदी को छूती हुई इस प्रकार पड़ी थी जैसे यथेच्छ स्नान करने के बाद कोई अकेला हाथी, आधा नदी में—आधा बाहर, मस्त लोटा पड़ा हो। उसके साथ ही पहाड़ लगा था, जो नदी के साथ ही साथ बाईं तरफ मुड़ गया था, जिससे चट्टान के बाईं तरफ एक तरह का काफी घना अंधेरा सा छाया हुआ था, जो आस-पास फैले हुए सघन वृक्षों और बाँसा तथा चक्रमर्द के हरे पौधों के कारण और भी काला हो उठा था।

सहसा, ऐसा लगा जैसे इसी ओट में कोई चीज़ हिल रही है। पहले तो समझा कोरा भ्रम है, है कुछ भी नहीं, परन्तु दो-तीन बार जब खूब ध्यान से देखा तो संदेह को स्थान नहीं रह गया। असल में ही कोई चेतन वस्तु रह रह कर हिल रही थी। चुपके से बाइनोक्युलर कुमार के हाथ में दे दिया और उससे भी देखने को कहा। कुछ देर तक ध्यान से देखते रहने के बाद उसने भी यही बताया कि कोई वस्तु है अवश्य, जो रह रह कर हिल रही है। तब तो सभी ने बारी बारी से देखा और एक स्वर से मेरे संदेह का समर्थन किया। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई जंगली पशु चट्टान की ओट में छिप कर बैठा हुआ है और रह रह कर उसके कान या पूँछ का अंतिम सिरा हिल रहा है।

स्वभावत: सबसे पहला सन्देह नरभक्षक पर ही गया और निश्चय किया कि चट्टान से उतर नदी के दायें किनारे पर हो लिया जाय और उस चट्टान के सामने पहुँच कर देखा जाय असल बात क्या है।

बहुत ही दबे पाँव—ताकि हमारा शब्द उसे चौंका न दे—हम चट्टान पर से उतरे और नदी को पारकर वैसी ही सावधानी से पत्थरों पर संभले कदम रखते, काली चट्टान के ठीक सामने जा पहुँचे; परन्तु वहाँ जो देखा तो कुछ भी नहीं था। समूची चट्टान एक निर्जीव सन्नाटा खेंचे चुपचाप पड़ी हुई थी। हवा बन्द थी; और बाँसा और चक्रमर्द की झाड़ियाँ भी वैसे ही नीरव खड़ी थीं। झिल्ली की एक भी झंकार या किसी पखेरू का एक भी शब्द वहाँ नहीं सुन पड़ रहा था।

मगर इतने से यह विश्वास नहीं हुआ कि अभी थोड़ी देर पहले यहाँ कोई भी नहीं था। इसलिये, एक बार फिर बाइनोक्युलर आँखों पर लगाकर चट्टान के आस-पास की जगह को ध्यान से जो देखा तो हृदय एक ही साथ धड़क उठा। चट्टान के

बाईं ओर गीली रेत का एक छोटा सा बिस्तर बिछा था और उस पर किसी के ताजे पदचिन्ह पड़े हुए थे। वे नरभक्षक के थे या किसी तेंदुए के, इतनी दूर से यद्यपि यह तो निश्चित नहीं किया जा सका, परन्तु वे थे इन्हीं दो में से किसी के, और थे एक दम ताजे ही, इस में तो कोई संदेह नहीं रहा।

थोड़ी ही दूर पीछे बांस के झाड़ खड़े थे, उनमें से अच्छे बढ़िया चार बाँस काट कर उन पर मशालें बाँध दी गईं और उन्हें जला कर, नदी को लाँघ, चट्टान के पास जा पहुँचे और पहली ही नजर में पहचान लिया, पदचिन्ह और किसी के नहीं उसी नरभक्षक के हैं, जिन्हें हम देर से देखते आ रहे हैं। गीली रेत पर केवल पदचिन्ह ही नहीं पड़े थे उसके बैठने का ताजा निशान भी बना था; जिससे स्पष्ट था कि अभी हाल में ही वह यहाँ से उठकर गया है। कहाँ गया है, यह तो बेशक पता नहीं चल रहा, परन्तु वह कहीं दूर नहीं गया है, इतना तो निश्चित है। चट्टान के आसपास दूर तक फैला हुआ यह सन्नाटा ही—जिसे झिल्ली की हल्की सी झंकार भी भंग करने का साहस नहीं कर रही—पता दे रहा है कि वह यहीं कहीं किसी झाड़ी की ओट में छिप कर बैठा हुआ बहुत ही ध्यान से हमारी एक एक हरकत को देख रहा है।

इससे इतना तो स्पष्ट हो गया कि हमारी यह धारणा कि वह हमारा पीछा कर रहा है भ्रांत नहीं थी। बड़े सवेरे से ही—जब से हम मचान से उतर, युवती के अवशेषों को भस्म कर कण्वाश्रम की तरफ बढ़े हैं वह मृत्यु की छाया की तरह हमारा पीछा कर रहा है। परन्तु हमें अत्यंत सतर्क देख जब लगातार कितनी ही दूर तक उसे हम पर झपटने का सुयोग नहीं मिला, बहुत सोच विचार कर उसने अंत में इस काली चट्टान को ही अपना मोर्चा बनाना स्थिर किया। अब तक वह संभवतः हमारे दायें-बायें या हमारे पीछे रह कर ही हमारे साथ साथ चल रहा था परन्तु बाद में वह हम से आगे निकल इसकी ओट में आकर चुपचाप बैठ गया और हमारे पहुँचने की प्रतीक्षा करने लगा। उसे पूरा भरोसा था कि इस बार उसका दाव खाली न जायगा। परन्तु उसके दुर्भाग्य और हमारे सौभाग्य से—उसने जब देखा कि हम चट्टान पर चढ़ गये हैं और बाइनोक्युलर लगा कर उसी की तरफ देख रहे हैं; और बाद में नदी के बीच में चलने का प्रोग्राम छोड़ नदी के दूसरे किनारे जा पहुँचे हैं, इस चट्टान के पीछे से आक्रमण करने की अपनी योजना को व्यर्थ जान वह जिस प्रकार चुपके से इस जगह आकर बैठा था वैसे ही चुपचाप यहाँ से खिसक गया है।

तो भी, इस काली चट्टान को आक्रमण करने का स्थान चुनने की उसकी निपुण सूझ की हम प्रशंसा किये बिना न रह सके। शिकार पर अचानक झपटने के लिये यह स्थान बहुत ही उपयुक्त था। एक तो काली चट्टान की ओट वैसे ही धोखा देने वाली जगह थी, तिसपर नदी ने ४५ अंश का कोण बनाकर इस तरह मोड़ लिया

था कि हम कितना ही सतर्क क्यों न रहते, और कितना ही नदी के बीचोंबीच क्यों न चलते, यहाँ पहुँचकर चट्टान और हमारे बीच में छः सात फीट से अधिक अन्तर नहीं रह जाता था, जो शेर की छलाँग के लिये बहुत ही अनुकूल था। इसके अतिरिक्त चट्टान का आगे का भाग इस ढंग से झुका हुआ था कि उसकी बाईं ओट में बैठे हुए प्राणी को, बिना उसके सामने पहुँचे, देखा ही नहीं जा सकता था।

यह तो हमारे भाग्य का जोर ही समझो कि भले से किसी अदृश्य शक्ति ने हमें नदी में पड़ी हुई उस ऊँची चट्टान पर चढ़ने की सुबुद्धि दे दी और वहाँ से हमें काली चट्टान की ओट में छुपकर बैठे नरभक्षक के कान या पूंछ का अन्तिम सिरा हिलता हुआ दिखाई पड़ गया, जिससे सावधान होकर हम अपने को उसके चंगुल में फँसने से बचा सके।

परन्तु अभी विपत्ति टली नहीं थी। वैसी की वैसी ही बनी हुई थी। हम किस बुरी तरह उस में फँस गये हैं, यह समझने में हमें कोई सन्देह नहीं रहा था। दो बज चुके थे और अभी तक हम केवल मील भर रास्ता ही तै कर पाये थे। कण्वाश्रम अभी यहाँ से और भी तीन मील दूर था। नरभक्षक ने हमें जिस तरह चारों तरफ से घेर लिया था, उससे तो हमें यह आशा भी नहीं रही थी कि हम आज सकुशल वहाँ तक पहुँच भी सकेंगे कि नहीं। मशालें धीमी पड़ चली थीं। उनके बाद आग को प्रज्वलित रखने के लिए काँस की सूखी झाड़ियों की मशाल बनाई तो जा सकती थी; परन्तु एक तो इन घाटियों मे काँस होता ही नहीं, और जो दो चार झाड़ियाँ कहीं-कहीं दिख भी रही थीं, इस कार्तिक मास में वे अभी इतनी हरी थीं कि उन्हें किसी भी तरह आग जलाने के काम में नहीं लाया जा सकता था।

इस काली चट्टान के पास ही एक ऊँचा वृक्ष खड़ा था। सोचा गया, सबसे पहले इस वृक्ष पर चढ़कर अपने को सुरक्षित बना लिया जाय और उस पर बैठकर ही आगे का प्रोग्राम निश्चित किया जाय, क्योंकि मशालों के बुझने में अब आठ-दस मिनट से अधिक देर नहीं रह गई थी। परन्तु वृक्ष पर चढ़ना भी एक समस्या थी। एक ही साथ सब चढ़ नहीं सकते थे। एक-एक करके ही उस पर चढ़ा जा सकता था; और इस प्रकार जो सब से पीछे रह जाता उसका जीवन संकट में पड़ जाने का पूरा भय था।

इसलिये यह सोचा गया कि वृक्ष पर चढ़ने से पूर्व, सबसे पहले शेर को—जो शायद यहीं कहीं छिपा बैठा हो—इस वृक्ष के आसपास से हटाकर इस स्थान को पूर्ण सुरक्षित बना लिया जाय ताकि वृक्ष पर चढ़ने में निश्चिन्तता रहे। ऐसा करने के लिये कुछ अतिरिक्त साहस की आवश्यकता थी। क्योंकि वह कोई कुत्ता या गीदड़ तो था नहीं, जिसे यों ही हिश-हिश करके ही खदेड़ दिया जाता; परन्तु यह सोचकर

कि ऐसा किये बिना और कोई चारा भी नहीं है, हमें अंत में इस अतिसाहस के लिये सन्नद्ध होना ही पड़ा।

दो ही तीन मिनट में योजना बना ली गई। झोलियों में पत्थर भर लिये गये; और फिर सब एक ही साथ मशालें ऊँची उठाये, हो··हो··की आवाजें लगाते, चारों तरफ दूर-दूर तक पत्थर बरसाते जंगल में घुस गये। घाटी गूँज उठी, पखेरू आकाश में निकल भागे; देखते ही देखते जंगल में तूफान सा मच गया। तभी, चट्टान से कोई पचास कदम दूर चक्रमर्द की गीली झाड़ियों की ओट में से एक हलकी सी गुर्राहट सुनाई पड़ी और जब तक हमारा ध्यान उधर जाय, एक भारी भरकम धारीदार शरीर एक ही छलाँग में नदी की पाँच गज चौड़ी धार को पार करता हुआ दिखाई पड़ा। शेर !! सभी के मुख से एक साथ निकल पड़ा और पूरे चौबीस घंटे बाद हमारी आश्चर्य और भय से भरी हुई आँखों ने उस नरभक्षक के दर्शन किये, जो एक युवती को समूचा खाकर भी अभी तक भूखा ही बना हुआ था और इन पिछले कितने ही घंटों से छाया की तरह हमारे पीछे लगा था।

छलांग लगाकर वह जैसे ही धरती पर गिरा, एक बार अपनी गर्दन घुमा कर उड़ती हुई नजर से उसने हमारी तरफ देखा और फिर एक पूरी जोरदार दहाड़ लगाकर—जिसकी गूंज से घाटी और वृक्ष एक ही साथ सहम उठे—वह अगले ही क्षण सामने के पहाड़ी जंगल में ग़ायब हो गया; मानों हम से यह कहता गया— "अभागो, मेरी बड़ी साध थी, तुम में से किसी एक को बैकुंठ भेजकर, उसे शेषशायी भगवान के पुण्य दर्शन कराता; पर, जब तुम चाहते ही नहीं, तो अब मेरी तरफ़ से चाहे जहाँ जाओ, चाहे जहाँ मरो; मैं अब तुम्हारा उद्धार करने से लिये फिर न आऊंगा।"— उस समय शायद मेरे मुंह से भी यह निकल गया—बड़ी दया है आपकी; बड़ी कृपा है !!

इस अतर्कित घटना ने क्षणभर के लिये तो हमें ऐसा भौंचक्का सा कर दिया कि कुछ देर तक तो सब जैसे के तैसे ही खड़े रह गये। शेर आसपास ही कहीं छुपा बैठा है, यह विश्वास तो हमें था; परन्तु वह इस प्रकार अचानक दीख भी पड़ जायगा, यह आशा किसी को न थी। तो भी, इस घटना ने हमारी परिस्थिति को एक ही साथ बदल दिया। नरभक्षक शेर को इस प्रकार सहज में ही डराकर भगाया भी जा सकता है, हमारे लिये यह नया ही अनुभव था, जिससे एक नये प्रकार का आत्मविश्वास हमारे हृदय में पैदा हो गया। अब न वृक्ष पर चढ़ने की आवश्यकता रही, न उसके डर से प्रति घंटा दो फर्लांग की चाल से धीरे-धीरे चलने की। वह काली चट्टान भी अब भयजनक न रही और न उसके आसपास पड़े हुए शेर के पदचिन्ह।

यद्यपि सावधानी और सतर्कता की तो अब भी आवश्यकता थी, क्योंकि वैसे

धूर्त और मक्कार का फिर लौटकर हमारा पीछा करने लग जाना कुछ आश्चर्यजनक नहीं था, तो भी उसका जो आतंक हमारे हृदय पर बोझ सा बनकर पड़ा हुआ था, वह अब नहीं रह गया।

बहुत ही निश्चिन्तता से हमने नदी को पार किया और थोड़ी देरतक उन ताजे पदचिन्हों को, जो अभी हाल में उसके वहां खड़े होने से बने थे, ध्यान से देखकर हम कण्वाश्रम की ओर चल दिये, जो अब तीन मील से अधिक नहीं रहा था।

परन्तु चलने से पूर्व हमारी दृष्टि उन दोनों चट्टानों पर पड़े बिना न रही; जिनमें से एक देवता के वरदान की तरह निष्कलंक और शुभ्र थी और जिसने अपरिचिता होते हुए भी अकारणबंधु बनकर बड़ी भारी विपत्ति में हमारी सहायता की थी; और दूसरी यह, जो अपनी काली मनोवृत्तियों की काली चादर ओढे शापभ्रष्ट नहुष की तरह नदी किनारे पड़ी थी और जिसने अकारण ही हमारा अपकार करने में आत्मसंतोष अनुभव किया था।

अतीत गाथा

एकबार फिर, वही कण्वाश्रम ! सब कुछ वही है; वही; पहले जैसा .... पूर्व और पश्चिम में वे ही पर्वत और उनके बीच में—वे ही, पथरीले-रेतीले शून्य मैदान; जो शायद इस एकांत में, मूकभाव से अपने अतीत दिवसों का स्मरण कर रहे हैं। इन्हीं में, वर्षा के दिनों में—दानवी जैसी—और शरद-दिवसों में—मुग्धनायिका जैसी मालिनी की धारा बहा करती है। चारों तरफ वे ही—एकबार पहले भी देखे हुए, वनवासी पशु पक्षियों से भरे निकुँज-वन छाये हैं, जिनमें कहीं-कहीं—इस समय शरदागमन की सूचना देने वाली झरबेरियाँ अपने लाल पीले बेरों से यात्री का मन मुग्ध करने की चेष्टा कर रही हैं। करें भी क्यों, न ? उस महासुंदरी कण्वदुहिता की शिष्यायें जो ठहरीं।

परन्तु, आज, अब, उस अतीत इतिहास को स्मरण करने से क्या लाभ ? अब, भला, कहाँ वे बातें। आज यह कोई कण्वाश्रम थोड़े ही है, चौकी घाटा ही तो है। वह उधर, सामने ही, बीसवीं सदी की वे दो चार कोठरियाँ दीख पड़ रही हैं; जिनके दरवाजों में पड़े हुए पीले ताले—ठंड में सिकुड़कर बैठी हुई किसी पर्वतीया सुन्दरी की नथ की तरह-जान पड़ रहे हैं। उधर, मालिनी में से निकला हुआ वह जो एक रजवाहा बहुत ही मन्दगति से बहता हुआ एक तरफ निकल गया है; इस सूने सायंकाल में उसका स्वर ऐसा लग रहा है, जैसे अपने मायके से बिछुड़कर जाती हुई कोई नवबधू मन्द स्वर में रोती हुई श्वसुरगृह की ओर चली जा रही हो। कोटद्वार से दुगड्डा को जाता हुआ एक राजपथ भी—जो इस समय सूना और बीरान पड़ा है—इन कोठरियों के पार्श्व में से होकर ऐसे गुजर रहा है, जैसे कोई विरक्त सन्यासी

किसी शून्य वन में विलीन होने जा रहा हो।

मगर, सावधान; विपत्ति अभी टली नहीं है। यहाँ पहुँचकर भी, हम लोग अभी उस नर भक्षक के संकट से मुक्त नहीं हुए हैं। जिस मार्ग से, हम लोग यहाँ



तक पहुँचे हैं, उसे भी, यदि वह चाहे, उसी मार्ग से यहाँ तक आ सकने में कौन रोक सकता है? कोई भी तो नहीं। तिसपर, अभी तो सायंकाल ही हुई है; समूची रात तो अभी पड़ी ही है। इसी लिये, हमारा यह निर्णय बहुत ही उपयुक्त था, कि कहीं नीचे रात न बिताकर, किसी वृक्ष पर रस्सियों की मचान बनाकर ही बैठा जाय। मार्ग से हटकर जंगल के किनारे ही एक मजबूत वृक्ष खड़ा है, उसी पर तीन मचानें पास-ही-पास बांध डाली गईं; और भोजन के नाम पर मालिनी का पानी पीकर, और रात भर के लिये पर्याप्त जल साथ में लेकर हम लोग मचानों पर जा बैठे।

सायंकाल बीतकर रात उतर आई और जंगल का सन्नाटा भय जनक हो उठा। मगर, होने दो उसे, भयजनक। इधर हमें भी अब किसकी परवाह है। शेर की पहुँच से दूर··· इस विशाल वृक्ष की डालियों पर विश्राम लेते हुए इन वन्य पक्षियों के साथ······ हम भी तो अपनी मचानों पर खूब निश्चित ही लेटे हुए हैं··· वह अब इस वृक्ष के नीचे आकर भी हमारा कुछ न बिगाड़ सकेगा।

यद्यपि दिन भर के थके, थे, परन्तु भूख के मारे नींद किसी को भी न आ रही थी। तभी, आनंद, जो न जाने किस कोने में पड़ा था; वहीं से बोल उठा—देखो जी, इस तरह चुपचाप पड़े रहने से तो काम चलेगा नहीं; और, इस समय वह निधि कहाँ है ? अरे, सो गये क्या निधि ? इतनी जल्दी ?

बोला—सोया नहीं हूँ, भाई। चूहे जब यथापूर्व पेट में डंड पेल रहे हैं, तब सोने की तो बात ही गल्त है। तो भी, सोच रहा था—जब आज दिन भर ही बोलने पर एक सौ चवालीस लगी रही, तो अब इस रात में भी उसे यदि वैसे ही रहने दिया जाय, तो क्या हर्ज है ?

"अरे, नहीं जी, बोलने का असली समय तो अभी आया है। अब जब इतने संकट झेलकर इस कण्वाश्रम में आ ही पहुँचे हैं, तो तुम्हारे मुख से उसकी अतीत गाथा सुनने का इससे अच्छा अवसर भी और कब मिलेगा ? इससे जहाँ रात मजे में कट जायगी, वहाँ यदि वह अभागा नरभक्षक भी कदाचित् इस वृक्ष के नीचे आ बैठे; और इस पावन प्रसंग को सुनकर यदि कहीं उसका हृदय भी परिवर्तित हो जाय, तो कम-से-कम तुम्हें तो एक आत्मा के कायाकल्प कर देने का पुण्य मिल ही जायगा। अच्छा तो, लो, अब करो शुरू ····हम सभी तय्यार हैं······।

सभी उठकर बैठ गये, और आनंद की हाँ में हाँ मिला कर बोले—बहुत ठीक·· · हाँ तो, निधि भाई, करो न शुरू अपने कण्वाश्रम की वही अतीत गाथा।

कुछ देर तक चुप रहने के बाद बोला—

कण्वाश्रम का सर्व प्रथम उल्लेख तो जहाँ तक मुझे पता है महाभारत में ही मिलता है, और यह भी जान पड़ता है कि महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के लिये मूलप्रेरणा संभवतः वहीं से प्राप्त की होगी। परन्तु महाभारत में एतद्विषयक उपलब्ध सामग्री इतनी स्वल्प है कि उसके आधार पर न तो कण्वाश्रम की यथार्थ खोज ही की जा सकती है, नां ही उसके विषय में कोई विस्तृत ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है। हाँ, उसके आधार पर कल्पनाप्रसूत मनोरंजक काव्य अवश्य लिखे जा सकते हैं।—कहकर मैंने श्रोताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया; फिर बोला—

परन्तु 'रघुवंश' तथा 'मालविकाग्निमित्र' जैसे प्रामाणिक इतिहास—काव्यों

के लेखक, कालिदास सरीखे ऐतिहासिक कवि के लिये वह सामग्री कदापि संतोषजनक नहीं हो सकती थी। केवल, भारतीय कवियों में ही नहीं, विश्वभर के उच्चतम कवियों में, कालिदास अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। महाकवि होने के साथ-साथ वे उच्चकोटि के ज्योतिर्विद, छन्दःशास्त्रवेत्ता, भूगोल-पंडित तथा इतिहास विशेषज्ञ भी थे।······

श्याम बीच में ही बोला—कालीदास महाकवि थे यह तो सभी जानते और मानते हैं; मगर—वे भूगोल के पंडित और इतिहास के विद्वान भी थे, यह तो तबतक नहीं माना जा सकता जबतक इसके लिये कोई पुष्ट प्रमाण न हो।

कहा—प्रत्यक्ष से बड़ा पुष्ट प्रमाण और क्या हो सकता हैं? उनकी रचनाओं को पढ़कर देखलो, साफ पता चल जायगा कि वे केवल महाकवि ही नहीं थे, भूगोल तथा इतिहास के मंजे हुए विद्वान भी थे। उनकी—रघुवंश, मालविकाग्नि मित्र तथा अभिज्ञान शाकुन्तल—ये तीन रचनायें काव्य होकर भी प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं। इनमें उन्होंने अपने जिन ऐतिहासिक तथा पुरातत्व संबंधी अन्वेषणों का परिचय दिया है, उससे यह न मानने का कोई भी कारण नहीं रह जाता कि उनके प्रायः सभी महाकाव्य काफी ऐतिहासिक खोज और गवेषणा के आधार पर ही लिखे गये हैं। यद्यपि उनकी अद्भुत काव्यशक्ति के कारण इन ग्रंथों में उनकी ऐतिहासिकता बहुत कुछ छिप गई हैं, परन्तु थोड़ा ही ध्यान देने से उनमें से ऐतिहासिक सामग्री सुगमता से निकाली जा सकती है। उक्त तीन ग्रन्थों में उन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसकी समूची पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। इनके अतिरिक्त उनके 'मेघदूत' और 'कुमार संभव' उनके भौगोलिक ज्ञान का परिचय देते हैं।

फिर कुछ क्षणभर ठहर कर कहा—'मालविकाग्निमित्र' तथा 'रघुवंश' को तो अभी जरा रहने दो; परन्तु अपनी इस यात्रा के बाद, यदि तुम अब एक बार फिर, शाकुंतल का पारायण कर डालोगे तो अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कम से कम तुम लोगों को तो यह बहुत ही स्पष्ट रूप में समझ आ जायगा कि महाकवि ने यथार्थ में ही कण्वाश्रम की खोज के लिये बहुत काफी प्रयास किया होगा। उनके संबंध में साक्षियों तथा सामग्रियों का संग्रह करने के लिये उन्होंने उन सभी स्थानों और उन सभी ग्रामों की—जिन्हें हम लोग अभी देखते चले आ रहे हैं—बहुत ही खोजपूर्ण यात्रा की होगी; और उन स्थानों पर प्रचलित प्रथाओं तथा दन्तकथाओं का अध्ययन करने के बाद ही उन्होंने नाटक लिखने में हाथ लगाया होगा। इसलिये मेरी ही तरह, तुम लोगों को भी यह मानने में कुछ भी संकोच न होना चाहिए कि कालिदास भौगोलिक तथा ऐतिहासिक कवि थे; और उन्होंने इतनी विस्तृत गवेषणा के बाद जिस स्थान को कण्वाश्रम माना है, वही वास्तविक कण्वाश्रम है।

"यानी, हम इस समय जहाँ बैठे हैं वही कालिदास का कण्वाश्रम है तुम यही तो कहना चाहते हो न ?"—शेखर न जाने किस मचान पर से एकाएक उछलकर बोल उठा ।

देखना, कहीं अपनी मचान की ही सर्जरी न कर बैठना, शेखर । रस्सियां हैं तो खूब पक्की ही; मगर तो भी उनके साथ सलूक हमें रस्सी समझकर ही करना होगा, सर्वसहा धरित्री समझ कर नहीं ।—और तुमने जो बात अभी कही, मैं भी उसे वैसे ही मानता हूँ । आज के इस चौकीघाटा को ही मैं कालिदास का कण्वाश्रम मानता हूँ ।

परन्तु कठिनाई यह है कि इतनी विस्तृत खोज करने के बाद भी वे कण्वाश्रम की भौगोलिक स्थिति के संबंध में कोई विशेष तथा पृथक् ग्रन्थ नहीं लिख गये हैं और न अपने इस नाटक में ही ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख कर गये हैं, जिससे यह जाना जा सके कि वह मालिनी के अमुक तट, अमुक घाटी और अमुक स्थान को ही कण्वाश्रम मानते थे ।

तो भी, अपनी खोज को वह अपने ही साथ ले गये हों, ऐसी बात नहीं है । अपने नाटक में वे ऐसे कितने ही स्पष्ट संकेत छोड़ गये हैं, जिनके आधार पर यह सरलता से ही जाना जा सकता है कि वे किस स्थान को कण्वाश्रम मानते थे । संक्षेप में वे संकेत निम्न प्रकार हैं :

— [1]"उस दिन शायद वसंत का अंत और ग्रीष्म का प्रारम्भ रहा होगा, जब हस्तिनापुर-नरेश दुष्यंत अपने चार घोड़ों वाले रथ पर सवार होकर अपनी राजधानी में से शिकार के लिये निकलता है । गंगा को पार कर, उसका रथ जब मालिनी के साथ-साथ चलता हुआ वर्तमान नजीबाबाद को लाँघकर घने वनों में जा निकलता है, सामने ही एक हरिण उसे दीख पड़ जाता है, जिसे देखकर वह अपने सारथी को उसका पीछा करने का आदेश देता है ।—सारथी भी घोड़ों की रासें छोड़ देता है; और तब, देखते ही देखते राजा के चार घोड़ों और उस अकेले जंगली हरिण में भागने की एक बहुत ही सुन्दर प्रतियोगिता ठन जाती है । हरिण खूब चतुर है । ऊँची-ऊँची कुलाँचें भरता हुआ वह रथ को कहीं का कहीं भटका ले जाता है । खूब सधा हुआ शिकारी होने पर भी, दुष्यंत जब हरिण को नहीं पकड़ पाता, उसे सचमुच ही उस के वेग पर आश्चर्य होने लगता है ! तभी, सारथी उसे बताता है कि "भूमि के बहुत अधिक

१ अचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्म समय मधिकृत्य गीयताम्···। —शाकुंतल

*ऊबड़ खाबड़ होने से खुद उसने ही रासें खेंचकर रथ का वेग मन्द कर दिया था। लीजिये, अब समतल प्रदेश आ गया है; आपके लिये अब उसको पकड़ लेना कठिन न होगा।"—कहकर उस ने जैसे ही घोड़ों की रासें छोड़ीं, देखते ही देखते घोड़ों ने हरिण को जा पकड़ा।—देखकर दुष्यंत का हृदय खिल उठा। फुर्ती से धनुष पर बाण चढ़ा, हरिण को लक्ष्य बना, वह सारथी से बोला—लो, सूत, देखो, अब इसे हमारे हाथों मारे जाते हुए···

परन्तु तभी विघ्न आ पड़ा। वृक्षों के झुरमुट में से निकल, दो तीन वैखानस भागते हुए रथ के सामने आ पहुँचे और हाथ उठाकर दुहाई देते हुए बोले—राजन्, यह आश्रम मृग है; इसे न मारना इसे न मारना।—सुनते ही, संभ्रम के साथ धनुष से बाण उतार कर, रथ को ठहरवा कर, दुष्यंत ने उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम किया सम्राट् की नम्रता से प्रसन्न होकर प्रमुख वैखानस ने कहा—राजन्,[१] यह सामने ही कुलपति कण्व का आश्रम मालिनी के तट पर दीख पड़ रहा है। यदि कोई अन्य विशेष कार्य न हो तो वहां पधार कर आतिथ्य ग्रहण कीजिये।···वैखानसों के आमंत्रण को स्वीकार कर दुष्यंत आश्रम की तरफ चल पड़ता है और थोड़ी ही देर में उसका रथ आश्रम के द्वार पर आकर खड़ा हो जाता है।

संकेत

इस वर्णन से कण्वाश्रम के संबंध में तीन बड़े संकेत मिलते हैं :

(१) कण्वाश्रम मालिनी के तट पर था (२) वह पहाड़ पर नहीं था; संभव है कुछ ऊँची भूमि पर रहा हो; और (३) उसके तीन तरफ की कम से कम एक-एक मील की भूमि अधिकांश रूप में समतल रही होगी।

आश्रम यदि पहाड़ पर रहा होता, तो दुष्यंत का रथ आश्रम के द्वार तक न पहुँच सकता; कहीं नीचे ही खड़ा रह जाता और दुष्यंत को रथ से उतरकर आश्रम तक पहुँचने के लिये काफी चढाई भी करनी पड़ती। आश्रम के चारों तरफ की भूमि यदि समतल न रही होती तो दुष्यंत का रथ इतनी तेजी से भाग भी

* १ उद्घातिनी भूमिरिति मया रश्मिसंयमनाद्रथस्य मन्दीकृतो वेगः तेन मृग एष विप्रकृष्टान्तरः। अधुना समदेशवर्तिन स्ते न दुरासदो भविष्यति।

—शाकुंतल प्रथम अंक

१ एष खलु कण्वस्य कुलपते रनुमलिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यः कार्यातिपातः, तत्प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः

—शाकुंतल प्रथम अंक

न सकता ।[१]

इसलिये कण्वाश्रम के स्थान का निर्णय करने के लिये मालिनी के तट पर किसी ऐसे स्थान की खोज की जानी चाहिए, जहां चारों तरफ सघन वन तो हों परन्तु ूमि समतल हो; ऊँचे-नीचे टीलों से भरी हुई ऊबड़ खाबड़ धरती न हो।

"ऐसे स्थान तो मालिनी तट पर अनेक मिल सकते हैं। केवल इतने ही संकेतों से कण्वाश्रम का निर्णय किसी तरह नहीं किया जा सकता।"—श्याम ने मेरी स्थापना को अस्वीकार करते हुए कहा।

मैंने कहा—मेरी भी ऐसी ही सम्मति है, श्याम। इसीलिये, शाकुंतल के जिन कुछ और भी संकेतों की तरफ तुम्हें ध्यान देना होगा, वे निम्न प्रकार हैं :

(१) रथ को आश्रम द्वार पर छोड़ कर दुष्यंत जब विनीत वेश से आश्रम के भीतर प्रविष्ट होता है, उसे आश्रम की वृक्षवाटिका में जलसिंचन करती हुई तीन छात्रायें मिलती हैं। दुष्यंत को देख कर वे उसका स्वागत करती हैं और एक घनी छाया वाले सप्तच्छद के नीचे बनी वेदिका पर दुष्यंत को पधारने के लिये कह कर स्वयं भी उसके पास आकर बैठ जाती हैं। अनूसूया बात ही बात में सम्राट का यथार्थ परिचय पा लेती है।—तभी, अचानक, दूर से आती हुई आश्रम के आघोषक की आवाज सुन पड़ती है—"अरे, तपस्वियो, तपोवन के पालतू पशुओं की रक्षा के लिये तैयार हो जाओ। यह मृगयाविहारी दुष्यंत आ पहुँचा। देखो, उसके सैनिकों के घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई धूल शलभ समूह की तरह, आश्रम-वृक्षों पर लटकते हुए गीले वल्कल वस्त्रों पर आ-आकर गिर रही है। यह देखो, एक जंगली हाथी राजा के रथ से डरा हुआ जंगली बेलों के जंजाल को पैर में लपेटे हुए, [२]हरिणों के झुंडों को तितर-बितर करता हुआ धर्मारण्य में चला आ रहा है।"—संवाद भयजनक था। सुनकर सभी डर गईं और राजा से अनुमति लेकर जल्दी-जल्दी अपनी कुटीरों की तरफ चली गईं।

१ मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया :
निष्कम्पचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया,
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥ — शाकुंतल प्रथम अंक

अर्थात् दुष्यन्त के रथ के घोड़े इस वेग से भागे जा रहे थे कि उनके खुरों से उड़ाई हुई धूल भी उन्हें नहीं लाँघ सक रही थी।

२ मूर्तोविघ्नस्तपस इव नो भिन्न सारंग यूथो,
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यंदनालोक भीतः॥—शाकुंतल प्रथम अंक

(२) उनके विदा होने के बाद दुष्यंत की इच्छा उस स्थान से हटने की नहीं हो रही। तो भी, उसे जाना ही पड़ता है। इसके पश्चात् अपने पूर्व निश्चित प्रोग्राम के अनुसार वह कुछ दिनों तक वनों में शिकार खेलता रहता है। इससे उसका विदूषक माढव्य—जो नागरिक था—ऊब उठता है, और कहता है—"अजी, बस; देख लिया। इस मृगयाशील राजा से मित्रता करके तो हमें विपत्ति में ही फंस जाना पड़ा। जेठ की चिलचिलाती दोपहरी में भी—[१]यह मृग, यह वराह, यह बाघ—चिल्लाते हुए एक वन से दूसरे वन में भागना पड़ता है। पत्ते गिरने से कसैले बने हुए पहाड़ी नदियों के जल पीने पड़ते हैं ···· इत्यादि।

(३) महर्षि कण्व प्रवास से आश्रम में लौट आये हैं और उन्होंने अपने शिष्य को आदेश दिया है कि वह देख कर आये कि समय क्या हुआ है। आश्रम में अभी शायद कुछ झुटपुटा सा अंधेरा ही छाया है; इसलिये शिष्य को ऐसे स्थान पर जाना पड़ता है, जहाँ प्रकाश में पहुँच कर यह जाना जा सके कि रात अभी कितनी और शेष है। कुछ क्षण तक[२] परिक्रमा करने के बाद वह जैसे ही चारों तरफ देखता है, उसे सचमुच ही आश्चर्य हो उठता है। उसके मुख से अनायास ही निकल पड़ता है—"अरे, यह तो प्रभात हो गया ··· वह······उधर, ओषधि-पति चन्द्रमा पश्चिम के पहाड़ के शिखर पर अस्त हो रहा है; और इधर सामने, पूर्व के पहाड़ के पीछे से सूर्य का अरुण प्रकाश दिखाई पड़ रहा है।—तो चलूं, गुरु जी से कहूँ होमवेला उपस्थित हो गई है।"

—कहकर श्रोताओं की संमति का आह्वान करने के लिये मैं कुछ क्षणों तक चुप बैठ गया। मगर जान पड़ता है तीनों ही वर्णन कुछ ऐसे कथात्मक तथा रोचक थे कि किसी को भी शायद उन पर कुछ आपत्ति नहीं थी। इससे एक प्रकार का उत्साह पाकर ही मैंने कहा—

उक्त तीन वर्णनों में हमें निम्न संकेत मिलते हैं:—

(१) कण्वाश्रम हस्तिनापुर से इतनी दूर रहा होगा, कि हस्तिनापुर से प्रातः काल चलने पर चार घोड़ों वाला रथ तीसरे पहर तक कण्वाश्रम पहुँच सकता होगा।

---

१ अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्यान्हेऽपि ग्रीष्म विरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिंड्यतऽटवीतोऽटवी। पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते ·········शाकुंतल द्वितीयअंक।

२ (परिक्रमम्यावलोक्यच) हन्त प्रभातम्। तथाहि।
यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना
माविष्कृतोऽरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः।—शाकुंतल, चतुर्थअंक।

इसमें यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वे ग्रीष्म के प्रारम्भ के—अर्थात् वैशाख महीने के दिन थे। इन दिनों नौ दस बजे के बाद सूर्य की धूप प्रखर हो उठती है। इसलिये राजा ने लगभग डेढ़ दो घंटा किसी छायादार ठंडे जलाशय पर ठहर[1] कर स्नान, भोजन तथा विश्राम भी किया होगा और उसके बाद ही आगे की शिकार यात्रा प्रारंभ की होगी। इसके साथ ही, यह भी ध्यान रखना होगा कि मार्ग में ऊँची-नीची भूमिवाला जंगल भी पड़ता है, जहाँ रथ की गति अपने आप ही मन्द पड़ जाती है।

दुष्यंत जब कण्वाश्रम के वनों में प्रविष्ट हुआ है तब तक तीसरा पहर हो चुका था। समिदाहरण के लिये जाते हुए वैखानस तथा वृक्षवाटिका में जल सेचन करती हुई आश्रम छात्रायें, उसे तीसरे पहर में ही मिली थीं। क्योंकि समिदाहरण तथा पौधों में जल सिंचन का यही समय ठीक होता है। इसके बाद जंगली हाथी का वृत्तान्त सुन कर जब छात्रायें डर उठती हैं, तब तक तो सायंकाल ही हो चुका था।

(२) दूसरे संकेत से यह पता चलता है कि कण्वाश्रम के आसपास के जिस जंगल में सम्राट तथा उसके साथी शिकार खेलते हैं, वह समतल भूमि पर तो है ही, साथ ही उसमें जंगली हाथी, हरिणों के झुंड, भालू, सुअर और बाघ भी बहुतायत से पाये जाते हैं। इससे कण्वाश्रम ऐसे स्थान पर होना चाहिये, जिसके आसपास के वनों में उपर्युक्त पशु बड़ी संख्या में पाये जाते हों।

(३) तीसरे संकेत से यह पता चलता है कि आश्रम किसी ऐसी घाटी में था (क) जिसके पूर्व और पश्चिम में पहाड़ थे (ख) सूर्योदय और सूर्यास्त का ज्ञान, सूर्य के ठीक उदय और अस्त हो जाने के साथ ही नहीं होता था। यदि ऐसी बात न रही होती और आश्रम पर्वतों से घिरी हुई घाटी में न हो कर किसी खुले मैदान में ही होता, तो महर्षि कण्व अपनी कुटिया में बैठे हुए सूर्योदय और प्रभात वेला का पता स्वयं ही चला सकते थे। उन्हें शिष्य को समय का पता चलाने के लिये आश्रम से बाहर भेजने की आवश्यकता न पड़ती। शाकुंतल में आये हुए एतद्विषयक वर्णन से यह भी स्पष्ट पता चलता है कि शिष्य को महर्षि की कुटिया से बाहर निकल कर तथा कुछ ऊँचाई वाले स्थान पर चढ़ कर ही प्रभात तथा सूर्योदय का पता लग सका है। इस वर्णन में 'परिक्रम्यावलोक्य च' इस वाक्य में आये हुए 'परिक्रम्य' शब्द को भली प्रकार समझ-

१ हमारा ख्याल है कि उनका यह कैंप वर्तमान नजीबाबाद पर—जो मालिनी के तटपर बसा है—लगा होगा। क्योंकि नजीबाबाद कण्वाश्रम तथा हस्तिनापुर के ठीक बीच में पड़ता है। हस्तिनापुर से यह लगभग २० मील दूर है और वहां से आगे कण्वाश्रम भी लगभग २० मील ही रह जाता है। उन दिनों नजीबाबाद संभवत: एक जंगल मात्र ही रहा होगा।

लेने की आवश्यकता है। इस शब्द से कवि निश्चय ही यह निर्देश कर देना चाहते हैं कि शिष्य, आश्रम के अंधेरे में से निकल कर और कुछ ऊँचे स्थान पर चढ़ कर ही प्रकाश में पहुँच सका है। आश्रम जिस भूमि पर बना था, उस भूमि से कुछ ऊँचाई पर पहुँचकर ही वह देख सका था कि सूर्योदय हो चुका है और यह देख कर उसे जो एक प्रकार का अत्यंत आश्चर्य हुआ था, उसे प्रकट करने के लिये ही कवि ने 'हन्त' शब्द का प्रयोग किया है।

परिणाम

इन तीन संकेतों को पहले दो संकेतों से मिला देने पर कण्वाश्रम की स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है, जो संक्षेप से इस प्रकार है :

(१) वह मालिनी नदी के तट पर होना चाहिये। (२) उसके आसपास खूब लंबा चौड़ा समतल प्रदेश और जंगल होना चाहिये (३) हस्तिनापुर से वह इतनी दूर होना चाहिये, जहाँ चार घोड़ों का रथ ऊबड़खाबड़ भूमियों पर से होता हुआ पाँच छः घंटे में पहुँच सके (४) आश्रम के आसपास के वनों में हरिणों के यूथ, सुअर, बाघ, भालू तथा जंगली हाथियों के झुंड भी पाये जाने चाहियें (५) वह ऐसे स्थान पर होना चाहिये, जिसके पूर्व तथा पश्चिम में पहाड़ हों और जिसमें सूर्योदय का ज्ञान, सूर्योदय हो जाने के कुछ समय बाद तथा सूर्यास्त की भावना, सूर्यास्त हो जाने से कुछ समय पहले ही हो जाती हो। ऐसा जो भी स्थान हस्तिनापुर से आते हुए मार्ग में सबसे पहले पड़ता हो, वहीं पर कण्वाश्रम की स्थिति मानना उचित होगा।

इन छः संकेतों से मुझे तो यह चौकीघाटा ही एक मात्र ऐसा स्थान लगा है, जहाँ किसी अतीत काल में कण्वाश्रम रहा होगा। जो लोग जयहरी गांव के पास वाले स्थान को कण्वाश्रम मानते हैं मेरी संमति में वह मत ठीक नहीं है।

तो भी, यह एक ऐसा विषय है, जिसके संबंध में अभी और भी खोज की आवश्यकता है।

—कहकर कुछ क्षणों तक चुप रहकर मैं फिर बोला—मगर, कण्वाश्रम का परिचय तबतक अधूरा ही रह जाता है, जबतक आश्रम के आंतरिक स्वरूप की भी एक झाँकी नहीं देख ली जाती।

मैंने अभी इतना ही कहा होगा कि कुमार ने—जो अबतक चुप बैठा हुआ था—मेरे कंधे पर धीरे से हाथ रखकर कहा—जरा ठहरो, निधि; कण्वाश्रम का आंतरिक परिचय पा लेने से पहले, हमारे वृक्ष के पीछे के जंगल में वह जो कोई धीरे-धीरे इधर चला आ रहा है, उसका परिचय पा लेना कुछ अधिक आवश्यक जान पड़ता है—सुन रहे हो, न ? जैसे कोई खूब भारी जानवर इधर ही चला आ रहा हो।

सभी ध्यान से सुनने लगे। सचमुच ही कोई भारी भरकम पशु हमारे वृक्ष

की तरफ ही चला आ रहा था। यद्यपि गाढ़ा अंधेरा चारों तरफ छाया था, तो भी, क्रमशः स्पष्ट होते हुए उसके भारी शब्द से यह जान लेना कठिन नहीं रह गया था कि जंगली हाथी के अतिरिक्त वह और कोई नहीं है, जो शायद पानी पीने के लिये ही मालिनी की तरफ चला आ रहा है।

"परन्तु यह अकेला कैसे ?" तरुण ने कहा।

अकेले होने में क्या आश्चर्य है ? या तो, वह कोई खूनी हाथी रहा होगा ·· या, हाथियों के यूथ का कोई अग्रदूत ·····जो यह देखने के लिये निकल पड़ा है कि मालिनी के रास्ते में कोई खतरा तो नहीं है······लो, सुनो, अब वह शब्द नहीं आ रहा, जान पड़ता है हमारा शब्द सुनकर वह चुपचाप पीछे लौट गया······

"क्या आश्चर्य है, यदि वह हमारा शब्द सुनकर, हमारे बारे में निश्चय कर लेने के लिये ही इधर आया हो ?" आनंद ने कहा।

हाँ। यह भी संभव है।

कुछ देर तक सभी चुप बैठे रहे। मगर जब काफी देर तक भी पदशब्द फिर नहीं सुनाई दिया, मैंने अपना किस्सा फिर शुरू कर दिया। कहा—

आश्रम मालिनी के तट पर था, यह तो निर्विवाद है ही; साथ ही जिस समय की यह घटना है, महर्षि कण्व उन दिनों इस संस्था के कुलपति थे—और संभवतः उसके संस्थापक भी वे ही रहे होंगे, यह भी एक प्रकार से निर्विवाद ही है।

रहा, आश्रम का प्राकृतिक वातावरण···वह तो तुम लोगों के सामने ही है। एक तो मालिनी के ये रहस्यमय तट, चारों तरफ फैली हुई श्यामल पर्वत मालायें; तिसपर, सुदूर विस्तृत निर्जन अरण्यानी···शांति और एकांत का क्या यह सचमुच ही पुनीत क्षेत्र नहीं है ?

विपिन बोला—एकांत का पुनीत क्षेत्र तो इसे माना जा सकता है, मगर शांति का क्षेत्र इसे भला कौन मान लेगा ?

क्यों ?—मैंने पूछा।

अरे भाई, इस रात में भी अशांति फैलाने से जो बाज नहीं आते, उन खूनी हाथियों से भरे रहने पर भी तुम इसे शांति का पुनीत क्षेत्र बता रहे हो, आश्चर्य ही है ?

—सुनकर सभी हंस पड़े और इस प्रकार यदि कदाचित् किसी की आँखों पर निद्रादेवी ने अपना आसन जमाने की चेष्टा की भी होगी तो इसके बाद वह बेचारी भी अवश्य ही उठकर भाग गई होगी।

मैंने कहा—हाँ, यह सच है, आज इन वनों में शेर, तेंदुए और जंगली हाथी जिस तरह प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, उन दिनों भी ऐसे ही पाये जाते होंगे; और

कभी-कभी उनके आश्रम की सीमाओं के पास आ निकलने पर आश्रम में एक प्रकार का भय और आतंक भी छा जाता होगा—जैसा कि इस समय हम पर भी छाया हुआ है—क्यों, सच है न, विपिन ? तो भी, जंगल की ये विभीषिकाय एक प्रकार के वरदान हैं, इस बात को क्या तुम नहीं मानते ? इनके कारण समूचे आश्रम में एक प्रकार की चेतना और जागृति बनी रहती होगी—जैसी कि इस रात में हम लोगों में बनी हुई है—इस बात से क्या तुम इन्कार कर सकते हो ?सच पूछो तो जंगल की यह विभीषिका ही तो उस आश्रम की सर्वस्व थी—जैसे कि हमारी इस यात्रा की भी यह सर्वस्व बनी हुई है—नहीं तो; नागरिक शिक्षणालयों से उसका निरालापन रह ही क्या जाता था ? और, जंगल की इस विभीषिका के बिना हमारी इस यात्रा में भी कौन सी विशेषता रह जाती है ? जैसे जंगल की विभीषिका से हीन यात्रा को यात्रा नहीं कहा जा सकता, मैं समझता हूँ, जिस शिक्षा संस्था में जंगल की विभीषिका का आनंद नहीं है उसे अपूर्ण शिक्षा संस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता।

बात यद्यपि किंचित् अतिशयोक्ति के साथ ही कही गई थी, परन्तु उसमें जो एक सच्ची भावना निहित थी, सभी ने एक स्वर से उसे स्वीकार किया।

वल्कलवस्त्र

(१) मैने कहा—आश्रम में वल्कलवस्त्र पहरने की प्रथा थी। परन्तु, प्रश्न यह है कि यह वल्कलवस्त्र होता क्या था ?—वल्कल का अर्थ है, वृक्ष की छाल। वृक्ष की छाल से जो वस्त्र बने, वह वल्कलवस्त्र कहलाता है। कुछ लोग भ्रमवश ऐसा समझ बैठे है, जैसे ये बेचारे तपस्वी लोग वृक्षों से छालें छीलकर उन्हें ही पहर लिया करते होंगे। मगर यह उन लोगों का कोरा भ्रम है। पहले तो, ऐसा वृक्ष दुनियाँ में है ही कहाँ, जिसकी छाल चौड़ी धोती या चौड़े अंगोछे की तरह सीधी की सीधी ही उतारी जा सके और फिर उसे शरीर पर पहना भी जा सके। तो भी—यदि कदाचित् दुनियाँ के किसी कोने में ऐसी छाल मिल ही जाय, तो धोने-धुलाने के बाद, वह चलेगी कितने दिन ? इसके विपरीत, इन वल्कलवस्त्रों का जैसा वर्णन पुरातन ग्रन्थों में मिलता है उससे तो वे छाल न होकर वस्त्र ही होते होंगे, यही पता चलता है। उन्हें सुविधा के साथ पहरा भी जा सकता था; धोया भी जा सकता था और सुखाया भी जा सकता था। कई बार तो इन सूखते हुए वल्कलवस्त्रों के सरल सीधे दृश्य आश्रम के दर्शनार्थ नगरों से आये हुए नागरिकों के लिये इतने आकर्षक हो उठते थे कि एक बार देख लेने के बाद वे भुलाये नहीं भूलते थे। उनकी स्मृति का विषय ही बन जाते थे। अभिज्ञान शाकुंतल में शकुंतला के प्रत्याख्यान के बाद यद्यपि दुष्यंत का पश्चात्तापमग्न हृदय एकदम शकुंतलामय ही हो रहा है, उसके अतिरिक्त उसे

कुछ नहीं सूझ रहा था, तो भी, उस असीम वेदना में भी, उसे मालिनी का वह तट किसी भी तरह नहीं भूला, जिसके किनारे खड़े हुए किसी वृक्ष की शाखा में किसी सद्यःस्नात तपस्वी का वल्कलवस्त्र चुपचाप लटक रहा था और उसकी छाया में बैठे हुए कृष्णमृग के सींग की नोक म कोई हरिणी अपने वामनयन की खाज मिटा रही थी।[1]

इसलिये यद्यपि यह तो ठीक है कि वल्कलवस्त्र का अर्थ है वृक्ष की छाल ही, परन्तु उससे अभिप्राय ऐसे वस्त्र का ही है, जो वृक्ष की छाल का सूत कात लेने के बाद तय्यार किया गया हो। जिस प्रकार पटसन (जूट) के पौधों की छाल से टाट आदि बनते हैं वैसे ही ये वल्कलवस्त्र भी वृक्ष की छाल से बनाये जाते थे। तुम्हें याद होगा, जयहरी में एक 'भींउल' नामक वृक्ष हम लोगों ने देखा था। इधर के पहाड़ों में यह वृक्ष प्रचुर मात्रा में पाया जाता है और उसकी पतली डालियों को सन के पौधों की तरह पानी में एक-एक महीने तक डाले रखने के बाद, सन की छाल की तरह ही उसकी छाल से धागे कात लिये जाते हैं। इन धागों से जो बारीक वस्त्र बनाये जाते थे, वे तो गृहस्थियों के उपयोग में आते थे और जो मोटे वस्त्र बनते थे, वे तपस्वियों के व्यवहार में आते थे। ये मोटे वस्त्र ही आगे चलकर वल्कलवस्त्र कहलाये।

कण्वाश्रम के निकटवर्ती पहाड़ों में पाये जाने वाले इस वृक्ष की कभी अवश्य ही बहुत अधिक उपयोगिता रही होगी, और जब तक इन भागों में मिलों के सूती वस्त्रों का प्रचार नहीं हुआ होगा, इधर के निवासी इस वृक्ष की छाल का कपड़ा ही बनाया करते होंगे; और तभी कण्वाश्रम के निवासी भी इसी वृक्ष की छाल का वस्त्र पहना करते होंगे।

आश्रमवासियों के प्रयोग में आने वाला यह वल्कलवस्त्र अवश्य ही मोटा और खुरदरा रहता होगा, यह तो निश्चित है। इसके इस—आँखों को न भाने वाले—खुरदरेपन को लेकर कालिदास ने अपने शाकुंतल में जो एक सुन्दर विवाद खड़ा किया है, वह सुनने ही योग्य है।

आश्रम में प्रविष्ट हो कर दुष्यंत को वृक्ष वाटिका में जल सिंचन करती हुई जो तीन तापस कन्यायें दीखी थीं, उनमें उसके युवक हृदय ने शकुंतला को ही सबसे अधिक पसन्द किया था। परन्तु उसके कुसुम कोमल शरीर पर उस खुरदरे वल्कलवस्त्र को देखकर उसके हृदय में कुलपति कण्व की विचार बुद्धि के लिये एक प्रकार की तिक्त अश्रद्धा हो उठी थी। उस परम सुन्दरी की, उस अव्याजमनोहर, कमनीय देहलता

१ शाखालम्बित वल्कलस्य च तरो निर्मातुमिच्छाम्यधः
भृंगे कृष्ण मृगस्य वामनयनं कंडूयमानां मृगीम् ।। —शाकुंतल छठा अंक

को वे जो तपस्या की[1] कठोरता में ढाल देना चाहते थे, उसकी सम्मति में वह ठीक वैसा ही व्यर्थ यत्न था, जैसा, नीले कमल की कोमल पाँखुड़ी से किसी कठोर शमी लता के काटने का यत्न। इस मोटे वल्कलवस्त्र का उसके कुसुम-कोमल शरीर के साथ भला सामंजस्य ही क्या था। उसे यह सब ऐसा लग रहा था जैसे किसी [2]सूखे पत्ते में किसी कोमल फूल को गूँथ दिया गया हो।

परन्तु अगले ही क्षण उसका दृष्टिकोण बदल उठता है। वह सोचता है, वल्कल यह भले ही असुन्दर है; मगर इसे पहनकर भी इस सुन्दरी की शोभा इसके कारण कुछ घट गई हो, ऐसी बात तो नहीं लगती। काई में सन कर भी [3]कमल क्या सुन्दर नहीं लगा करता? चन्द्र के कलंक के कारण उसकी रूप शोभा क्या बढ़ नहीं जाती?—इस वल्कलवस्त्र में भी यह तन्वी सचमुच ही बहुत सुन्दर लग रही है। सच ही तो है, सुन्दर आकृति पर चाहे कुछ भी पहना दो वह सदा मधुर ही लगता है।

आश्रम की छात्रायें, इस वस्त्र को किस प्रकार पहनती थीं—बिना देखे, औरों के लिये यह भले ही समझ सकना कठिन हो, मगर तुम लोगों के लिये अब यह कोई विचारणीय प्रश्न नहीं रहा है। वे धोती पहनती थीं यह तो ठीक है; परन्तु उसके पहरने का ढंग वही था, जैसा हमने इधर के ग्रामों में स्त्रियों को पहने देखा है। कालिदास ने अपने शाकुंतल में शकुंतला का यही पहरावा बताया भी है। 'इदमुपहत सूक्ष्म ग्रंथिना'—श्लोक में उन्होंने बताया है कि "इसके स्तनयुगल के परिणाह को आच्छादित करने वाले इस [4]वल्कलवस्त्र से—जिसे कंधे के पास छोटी-सी गांठ लगा कर बांध दिया गया है—इस नवयौवना का शरीर सुशोभित नहीं हो रहा। ऐसा लग रहा है, जैसे किसी कोमल फूल को सूखे पत्ते में गूंथ दिया गया हो।

१ इदं किलाव्याज मनोहरं वपु स्तपः क्लमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पल पत्र धारया समिल्लतां छेत्तु मृषि र्व्यवस्यति॥
—शाकुंतल प्रथम अंक

२ कुसुम मिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण। —शाकुंतल प्रथम अंक

३ सरसिज मनुविद्धं शैवलेनाऽपि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनाऽपि तन्वी किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्॥
—शाकुंतल प्रथम अंक

४ इदमुपहतसूक्ष्मग्रन्थिना स्कंधदेशे स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
नववपुरिदमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥
—शाकुंतल प्रथम अंक

कमर से नीचे यह वस्त्र धोती की तरह पहना जाता था और उस पर, कमर में कमरपेटी की तरह एक दूसरा वल्कल खंड भी लपेटा जाता था, जिससे काम करने में खूब चुस्ती रहती थी।



आनन्द बोला—मगर मुश्किल तो यह है कि शकुंतला के इस पहरावे से अपरिचित रहने के कारण हमारे देश के प्रायः सभी चित्रकारों ने शकुंतला को जिस काल्पनिक वेशभूषा में जन साधारण के सामने उपस्थित किया है, उससे उनके एतद्विषयक अज्ञान का ही परिचय मिलता है।

मैंने कहा—केवल उन्हीं का क्यों ? 'शकुंतला' फिल्म के निर्माता व्ही. शांताराम भी इस भूल से नहीं बचे हैं। अपने उस फिल्म में उन्होंने शकुंतला तथा

उसकी सखियों को जिस वेशभूषा में उपस्थित किया है, वह भी यथार्थ न होकर काल्पनिक ही है।

वृक्ष वाटिका में जल सेचन करते समय प्रियंवदा को उपालम्भ सा देते हुए शकुंतला ने जब यह कहा था—[1]"अनुसूये, प्रियंवदा ने मुझे इस वल्कल में कसकर जकड़ दिया है, उसे जरा ढीला तो कर दे"—और जब इस उपालंभ का सुन्दर उत्तर देते हुए प्रियंवदा ने कहा था "[2]मुझे उपालंभ क्या देती है, पयोधरों का विस्तार करने वाले अपने यौवन को उपलंभ दे"। अर्थात् इसमें मेरा कुछ अपराध नहीं, तेरे यौवन का ही अपराध है जो तेरे पयोधरों का विस्तार करता जा रहा है—तब उन दोनों ने ही उसकी कमर पर लिपटे हुए इस वस्त्र को लक्ष्य करके ही उपर्युक्त बातें कहीं थीं।

उटज

(४) कण्वाश्रम में रहने वाले तपस्वियों तथा छात्राओं की कुटियाएँ कैसी रही होंगी, एक बार जरा यह भी देख लेना चाहिये। कालिदास ने उन कुटियाओं को कुटीर, उटज आदि नामों से स्मरण किया है। उन नामों से वहाँ के तपस्वियों के निवास गृहों का लगभग वैसा ही चित्र आँखों के आगे घूम जाता है जैसी कि इधर मैदानी देहातों में झोपड़ियाँ होती हैं। कण्वाश्रम के निकटवर्ती जिला बिजनौर के गाँवों में सरकंडों की दीवारें खड़ी करके झोपड़ियाँ बनाई जाती हैं और ऊपर से उन्हें फूंस के छप्पर से छा दिया जाता है। परन्तु, यदि झोपड़ियाँ कदाचित् अधिक स्थिर तथा पक्की हों तो उनकी दीवारें गारे या कच्ची ईंटों की बना दी जाती हैं; तो भी, उनकी छत तो फूंस के छप्पर की ही होती है। बिजनौर के पड़ौसी होने से यह अनुमान करना स्वाभाविक सा ही लगता है कि कण्वाश्रम में भी इसी प्रकार की झोंपड़ियाँ रही होंगी।

परन्तु, इस बारे में एक दो बातों का ध्यान रखने की आवश्यकता है। बिजनौर के जंगल—जो तुम्हारे खूब देखे हुए हैं,—कांस तथा बाँसों से भरे पड़े हैं, इसलिये वहाँ के गाँवों में इनकी झोपड़ियाँ बनना स्वाभाविक ही है। जहाँ जो चीज बहुतायत से प्राप्त होती है, झोपड़ियों या निवासगृहों में भी उसी का प्रयोग आधिक्य के साथ किया जाता है। बम्बई, मद्रास आदि राज्यों के समुद्र तटवर्ती गाँवों की झोपड़ियों में नारियल और ताड़ के पत्तों व उनकी लकड़ियों का ही उपयोग अधिक होता है।

१ सखि, अनुसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियंत्रिताऽस्मि, शिथिलय तावदेतत्। —शाकुंतल प्रथम अंक

२ अत्र पयोधर विस्तारयितृकमात्मनो यौवनमुपालभस्व —शाकुंतल

परन्तु, बिजनौर जिले के—नजीबाबाद तथा कोटद्वार का—पड़ौसी होने पर भी कण्वाश्रम के प्रदेश को मैदानी प्रदेश नहीं कहा जा सकता। यह पहाड़ी घाटी में है, और उसके आसपास कहीं भी कांस नहीं पाया जाता। इसलिये कांस (वींड-पूला) की झोपड़ियाँ बन सकना वहाँ सम्भव नहीं। पहाड़ी भूमि होने से केवल मट्टी और पत्थर ही यहाँ सुगमता से उपलब्ध होता है। उस में भी मट्टी की अपेक्षा पत्थर का मिल सकना और भी अधिक सीधा और सस्ता है। एक तो चट्टानों से भरे रहने के कारण मट्टी का खोदना ही सुगम नहीं है, दूसरे यहाँ की मट्टी में मालिनी की रेत मिले रहने से उसकी दीवारें खड़ी करना भी सम्भव नहीं है। परन्तु पत्थर यहाँ इतनी सरलता से और इतनी अधिक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है कि निर्धन आदमी भी अपने मकान के लिये उसे सहज में ही पा सकता है। इसीलिये; इधर के सभी पर्वतीय ग्रामों में पत्थरों के मकान बनाने की ही प्रथा है, यह तो तुम लोग अपनी आँखों से ही देख चुके हो। इसलिये मेरा तो यही विश्वास है कि इस कण्वाश्रम में पत्थरों की कुटियाएँ ही रही होंगी।

तुम्हें पता ही है कि इधर के पहाड़ों में मकान प्रायः दोमंजिले ही बनाये जाते हैं। नीचे के मकान में पशु और लकड़ियाँ आदि सामान रखा जाता है और ऊपर की मंजिल में निवास का प्रबंध रहता है। यह प्रथा इधर अत्यंत प्राचीन है और यहाँ की परिस्थितियों के अनुकूल भी है। सच तो यह है कि पहाड़ों में धरती का प्रश्न बहुत जटिल है। जैसे, अर्धमात्रा के लाघव से भी वैयाकरण को पुत्रोत्सव का आनंद मिलता है, वैसे ही, यदि ये लोग घर के पास एकाध बीघा धरती भी बचा सकें तो उनका यह भाग्य ही समझना चाहिये। घर के पास, छोटी-छोटी जमीनों में खेत बोने या फल वृक्ष लगाने का इधर जैसा शौक पाया जाता है, उसे तुम अपनी इस यात्रा में देखते हुए ही आ रहे हो। ऐसा लगता है, जैसे धरती की इस बचत के लिये ही इधर दो मंजिले मकान बनाने की प्रथा प्रारंभ हुई हो। यह मैं पहले भी कह चुका हूँ कि कण्वाश्रम का संबंध मैदानी इलाकों से नहीं, इन्हीं पर्वतीय क्षेत्रों से है। इसलिये यहाँ के मकान पर्वतीय पद्धति के ही होने चाहिये, यह अत्यंत स्पष्ट है। शाकुन्तल में उपलब्ध एक वर्णन से, जिसे मैं अभी सुनाने जा रहा हूँ—कण्वाश्रम के 'उटज' किस शैली के रहे होंगे—इसका एक संकेत भी प्राप्त होता है। नाटक के अध्ययन से पता चलता है कि शकुन्तला के उटज के साथ पर्वतीय पद्धति का एक छोटा सा धरती का खंड भी था, जिस में वह स्वयं अपने हाथों से, नीवार आदि मुनियों के अन्न बोने का अपना शौक पूरा किया करती थी। इस छोटे से धरती के टुकड़े को लेकर शकुन्तला की विदाई के समय कवि ने अपने काव्य में एक बहुत ही करुणापूर्ण दृश्य खेंचा है। हस्तिनापुर जाते समय पिता कण्व से अंतिम बार विदा लेते हुए वह जब उनका अशेष

आलिंगन करती है, तो अश्रु भरे नेत्रों से कह उठती है—पिता, तपस्या से तुम्हारा यह शरीर पहले ही कृश है, अब मेरी चिन्ता करके इसे और अधिक कृश न बना देना। सुनकर, वनवासी कण्व के मुख से अनायास ही एक निःश्वास निकल जाता है। कहते हैं—तूने तो, बेटी, यह कह दिया कि मैं तेरी चिन्ता न करूं। परन्तु तेरी उटज के द्वार पर—तेरे हाथों बोई हुई जो नीवार बलि खड़ी है—उसे देखकर मेरा शोक कैसे शांत हो सकेगा ?

इस वर्णन से शकुन्तला के उटज का ठीक वैसा ही चित्र आँखों के सामने आ खड़ा होता है या नहीं, जैसा हमने उत्तराखंड के मकानों का अपनी इस यात्रा में देखा है, यह तो तुममें से प्रत्येक अपने अनुभव से ही बता सकता है। परन्तु, कम से-कम मैं तो इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि शकुन्तला की उटज पत्थरों की तो बनी ही होगी, उत्तराखंड के ग्रामीण मकानों की तरह दो मंजिली भी अवश्य रही होगी; जिसके नीचे के खंड में उसके दीर्घापांग आदि मृग कुशा घास के विस्तरों पर बैठे रहा करते होंगे या सामने के क्षेत्र में खेलते-कूदते फिरते होंगे; और ऊपर के कमरे में वह स्वयं रहा करती होगी। इस छोटी सी उटज के सामने की थोड़ी सी धरती पर उसने अपने हाथ से संभवतः दो तीन फलवृक्ष भी लगाये होंगे और शेष धरती में नीवार बोये होंगे, जो उसकी विदाई के समय खूब ऊँचे उठकर उसके उटज-द्वार के आगे लहरा रहे होंगे। पिता कण्व ने उन्हीं नीवारों को स्मरण करके ही वह बात शकुंतला से कही थी।

उपानत्

भारत के अन्य कितने ही प्रांतों की तरह उत्तराखंड की स्त्रियाँ भी नंगे पाँव ही रहती हैं। नागरिक महिलाओं की देखा देखी, यद्यपि अब कहीं-कहीं पाँव में जूता, स्लिपर या चप्पल पहनने का रिवाज चल पड़ा है, परन्तु इधर के गांवों की निन्नानवे प्रतिशत स्त्रियां अब भी नंगे पांव ही रहती हैं। इससे इधर की स्त्रियों के पाँवों में एक तरह की कुरूपता सी आ जाती है। सुन्दर से सुन्दर स्त्री के पांव भी इधर कुरूप ही देखे जाते हैं। अवश्य ही कण्वाश्रम में भी यही—नंगे पाँव रहने की—प्रथा ही रही होगी और परम सुन्दरी शकुंतला भी इस प्रथा का अपवाद न रही होगी। शाकुंतल में इस प्रथा के संकेत कई स्थलों पर मिलते हैं।

शममेष्यति मे शोक :
कथं नु वत्से, त्वया रचित पूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं
नीवारबलिं विलोकयतः—शाकुंतल

शकुंतला के विरह में व्याकुल दुष्यंत जब उस दिन उसे आश्रम के निकटवर्ती मालिनी निकुंजों में खोजता फिर रहा है, उसे अचानक ही, एक सुन्दर लताकुंज के बाहर की रेत पर किसी युवती के बहुत ही स्पष्ट पदचिन्ह[1]—जो आगे से कम गहरे और जघन भार के कारण पीछे से खूब गहरे थे—दीख पड़ते हैं. जिनसे उसे निश्चय हो जाता है कि अवश्य ही शकुंतला अपनी ग्रीष्म-मध्यान्ह-वेला इसी शीतल निकुंज में बिता रही है। इन पदचिन्हों से यह अत्यंत स्पष्ट हो जाता है कि शकुंतला के पाँव तब नंगे ही रहे होंगे, नहीं तो ऐसे पदचिन्हों का रेत पर पड़ सकना संभव नहीं था।

दूसरा संकेत शाकुंतल के दूसरे अंक में मिलता है, जहाँ शकुन्तला के प्रेम-प्रसंग में दुष्यंत अपने विदूषक माढव्य को यह बताता है कि वन्य हाथी का समाचार सुनकर जब तीनों ही सखियाँ भयभीत भाव से उस सप्तपर्ण के नीचे से उठकर अपनी कुटीरों की तरफ लौटने लगी थीं; तो शकुन्तला ने किस प्रकार सलज्ज भाव से उसके सामने अपना प्रेम प्रकट किया था। उस समय अपनी सखियों के साथ कुछ कदम चलकर वह पाव में[2] दर्भांकुर चुभ जाने का बहाना बनाकर एक-ही-साथ ठहर गई थी और द्रुम शाखाओं में न उलझे हुए अपने वल्कल वस्त्र को छुड़ाने के व्याज से गरदन घुमाकर एक बार सलज्ज भाव से ही उसकी तरफ देख उठी थी। इस संकेत से भी यही पता चलता है कि शकुन्तला तथा आश्रमवासिनी अन्य छात्रायें कण्वाश्रम में नंगे-पांव ही रहती थीं; अन्यथा दर्भांकुर के पाँव में चुभने की घटना संभव नहीं थी।

भोजन

आश्रम की भोजन व्यवस्था किस प्रकार की थी, यद्यपि शाकुन्तल में इस संबंध में कुछ अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती, तो भी आश्रम की अपनी एक विशाल गोशाला रही होगी, यह मानना असंगत नहीं प्रतीत होता। कारण, गोपालन उस युग का एक अत्याज्य धर्म था, और उस युग में संभवतः एक भी आश्रम ऐसा न रहता

१ अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा
जघन गौरवात्पश्चात्।
द्वारेऽस्य पांडुसिकते
पद पंक्ति र्दृश्यतेऽभिनवा ॥ शाकुंतल. तृतीय अंक

२ दर्भांकुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयंती
शाखासु वल्कलमसक्त मपि द्रुमाणाम् ॥ शाकुंतल-दूसरा अंक

होगा जहाँ गौएं पर्याप्त मात्रा में न रक्खी जाती हों। तत्कालीन शासक अपने संरक्षित आश्रमों को गोधन का उपहार देने में एक प्रकार के विशिष्ट गौरव का अनुभव करते थे। तब, हस्तिनापुर नरेशों सरीखे प्रसिद्ध शासकों द्वारा संरक्षित इस कण्वाश्रम में गौओं का अभाव रहा होगा, यह मानना संगत नहीं हो सकता ?

रहा अन्न; उसके संबंध में 'शाकुन्तल' नितान्त सामग्रीशून्य नहीं है। उसमें[1] श्यामाक तथा नीवार[2] नामक दो अन्नों का उल्लेख तो बहुत ही स्पष्ट मिलता है। तुम जानते ही हो, इस श्यामाक को देश में सामक तथा उत्तराखंड के पर्वतों में 'झिंगोरा' कहते हैं। यह एक प्रकार का ऐसा चावल है, जिसका इन पर्वतों में बहुत महत्व है। इधर के प्रिय भोजनों में सामक की खीर का एक अपना विशिष्ट ही स्थान है। नीवार को इधर मंडुआ अथवा कोदों के नाम से पुकारते हैं और उसका प्रयोग भी इधर प्रचुर मात्रा में होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के अनुसार कण्वाश्रम में भी इन्हीं दोनों अन्नों का विशेष रूप से प्रयोग होता था और 'मुनि-अन्न' के रूप में यहाँ के निवासी इन्हीं का अधिकांश रूप में सेवन करते थे।

उनके अतिरिक्त दालों में—साबुत उड़द (माष), गहत या कुलत्थ, तुअर और भट नामक दालों का—जिनका इधर के गाँवों में विशेष प्रयोग किया जाता है, आश्रम में भी अवश्य प्रयोग किया जाता होगा।

कन्द-मूल-फल तो ऋषियों के मुख्य आहार ही माने जाते थे। इसलिये, आश्रम में यदि उनके लिए विशेष रूप से प्रबंध किया जाता हो, तो आश्चर्य नहीं है वराहीकन्द, गाजर, मूली, शलजम, शकरकन्दी, आलू, कचालू[3] आदि कन्दमूलों का उत्पादन तो आश्रम में संभवतः होता ही होगा; वाटिकाओं में फल वृक्ष लगाने की तरफ़ भी कम ध्यान न दिया जाता होगा। आश्रम की अपनी एक वृक्षवाटिका थी, इसका उल्लेख तो 'शाकुन्तल' में इतने विस्तार के साथ है कि संदेह को कोई स्थान ही नहीं है। फलों में, आम[4] की ही प्रधानता थी, यह भी 'शाकुन्तल' से ही पता चल

---

१ श्यामाक मुष्टि परिवर्धितको जहाति
सोयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥

२ उटजद्वारविरूढं नीवारवलिं विलोकयतः—शाकुन्तल.
'नीवाराः शुकगर्भ कोटरमुखभ्रष्टास्तरूणा मधः'—शाकुन्तल

३ अरई तथा कचालू का उत्पादन इधर के गांवों में विशेष रूप से होता है और वह टट्टुओं पर लादकर बाहर की मंडियों में भी भेजा जाता है।

४ "सहकारस्य स्वयंवरवधू वनज्योत्स्नेति त्वया कृतनामधेया········"
—शाकुन्तल प्रथम अंक

जाता है। इसके अतिरिक्त केला, अमरूद, नासपाती, पपीता, माल्टा, संतरा, जामुन, शहतूत, अनार और आँवला आदि फलों के वृक्ष भा वाटिका में यथासंभव अवश्य रहे होंगे।

इस संभावना का एक आधार तो हमारा वही अनुमान है, जिसे मैं पीछे कई बार कह आया हूँ—अर्थात्, जो प्रथायें इधर के पर्वतीय भागों में प्रचलित हैं वे कण्वाश्रम में भी अवश्य प्रचलित रही होंगी।—इधर के पर्वतों में भ्रमण करने के बाद, मैं समझता हूँ तुम लोग भी इस परिणाम पर ही पहुँचे होगे कि किसी काल में फल वृक्षों के लगाने की प्रथा इधर इतनी अधिक रही होगी कि ग्रामों के आँतरिक तथा वाह्य सभी भाग इन्हीं फलवृक्षों से आच्छादित रहा करते होंगे। परन्तु आज जो यहाँ इन वृक्षों का अभाव सा हो गया है उस का कारण इस प्रदेश में लकड़ियों के बढ़ते हुए अभाव को बताया जाता है। घरेलू व्यवहार योग्य ईंधन की समस्या यहाँ कब विकट बनी यद्यपि यह तो बता सकना कठिन है, तो भी इन लकड़ियों के लिए यहाँ के उपयोगी–अनुपयोगी सभी प्रकार के वृक्ष धीरे-धीरे काट डाले गए हैं यह एकदम सत्य है। आज इसीलिए इधर के पर्वतीय बन भाग फलों से शून्य हो उठे हैं। तो भी, पहाड़ों की निर्जनता में खड़े हुए कोई-कोई वृक्ष आज भी अपने प्राचीन अस्तित्व का स्मरण करा देते हैं। तुम्हें स्मरण होगा अपनी इस यात्रा में ऐसा ही एक फल–जिसे इधर 'भ्याला' कहते हैं—हमें इन पहाड़ों पर मिला था, जो यद्यपि आकार में बनारसी आँवले से बड़ा नहीं था, परन्तु उसका स्वाद नासपाती से ही मिलता था। पूछने पर, वृद्ध ग्रामीणों ने हमें बताया था कि यह फल कभी इन पहाड़ों पर बहुत बड़ी मात्रा में पाया जाता था, परन्तु संरक्षण के अभाव से वह धीरे-धीरे नष्ट-प्राय हो गया है। मेरा विश्वास है किसी पूर्वकाल में यह अवश्य नासपाती का ही वृक्ष रहा होगा, जो बाद में जंगली बन जाने के कारण इस प्रकार की हीनावस्था में आ गया होगा।

यह सब कहने का उद्देश्य मेरा केवल इतना ही है कि मैं यह बता देना चाहता हूँ कि किसी अतीत काल में इन पर्वतों में फल वृक्षों के आरोपण की प्रथा बहुत बड़ी मात्रा में प्रचलित रही होगी और उनसे सम्बन्धित रहने के कारण कण्वाश्रम भी उन दिनों फलवृक्षों का केन्द्र बना रहा होगा।

कण्वाश्रम में माँस नहीं खाया जाता था—यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है।

शृंगार

आश्रम में यद्यपि तापसों और वानप्रस्थियों की ही संख्या अधिक रही होगी, इसलिए शृंगार सम्बन्धी सामग्री का यदि यहाँ नितांत अभाव रहा हो तो आश्चर्य नहीं

है। तो भी, यहाँ युवतियों और छात्राओं का अभाव नहीं था; और एसी लिए एक प्रकार के मर्यादित वन्य शृंगार की भी यहाँ कमी नहीं थी।—[1]छात्राएँ जंगल में पाये जाने वाले इंगुदी फल का तेल सिर में डालती थीं और काष्ठ कंकतिका से संवार कर केशों को एक वेणी से सजाती थीं। कानों में शिरीष पुष्पों के कर्णफूल और कण्ठ में पुष्पमालायें भी वे धारण करती थीं। जान पड़ता है, इनके अतिरिक्त अन्य कोई शृंगार सामग्री उनके पास न रही होगी। तो भी, व्यायाम करने से सुगठित बने हुए अपने दिव्य शरीर और वन्य वातावरण में निवास करने से बने हुए अपने अद्भुत स्वास्थ्य की विभूति से वे जो सभी प्रकार की क्रित्रिम शृंगार सामग्रियों को पराजित करने की क्षमता रखती थीं, वास्तविक शृंगार तो उनका वही था। उनकी उसी शोभा ने तो सुन्दरियों से दिनरात घिरे रहने वाले दुष्यन्त को भी यह मानने के लिए बाधित किया था कि सचमुच ही कण्वाश्रम की इन वनलताओं ने नागरिक उद्यान लताओं को पराजित कर दिया है।[2]

स्वयंबर

शाकुन्तल के पढ़ने से यह भी पता चलता है कि आश्रम में संभवतः सहशिक्षा भी रही होगी और छात्राओं को युवकों से मिलने-जुलने तथा अपना पति स्वयं चुन लेने की भी स्वतंत्रता रही होगी। शकुन्तला ने अपने पिता के परोक्ष में ही अपना पति स्वयं चुन लिया परन्तु इस समाचार से कण्व कुपित नहीं हुए। वे केवल इतना ही कहकर चुप हो गए कि "सौभाग्य से—आँखों के धुएँ से व्याकुल रहने पर भी—यजमान की आहुति पावक में ही पड़ी।"[3] परन्तु यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि इस प्रकार की विवाह पद्धति को कण्वाश्रम में प्रश्रय नहीं दिया जाता होगा। क्योंकि जब दुष्यन्त ने शकुन्तला को अपनी विवाहिता मानने से अस्वीकार कर दिया तब कण्व के पट्टशिष्य ने इस प्रकार के विवाहों का स्पष्ट शब्दों में कठोर आलोचना करते हुए

---

१ तापस कुमार तथा वैखानस भी इसी तैल का व्यवहार करते थे। हिन्दी में इसे हिंगोट कहते हैं और वनवासी लोग पत्थरों से कूटकर इसका तेल निकाल लिया करते थे। दुष्यंत ने आश्रम में प्रविष्ट होने से पहले इस तरह के चिकने पत्थरों को देखकर ही यह अनुमान कर लिया था कि कण्वाश्रम यहाँ से अधिक दूर नहीं है।— प्रस्निग्धाः क्वचिदिंगुदीफलभिदः सूच्यंत एवोपलाः—शाकुन्तल प्रथम अंक।

२ दूरीकृता खलु गुणै रुद्यानलता वनलताभिः—शाकुन्तल प्रथम अंक

३ दिष्ट्या धूमाकुलित दृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।

शाकुन्तल

अपनी यही सम्मति दी थी कि "[1] इसीलिए, एकांत मिलन के ऐसे व्यवहार बहुत देख-भालकर ही किये जाने चाहिएं।"

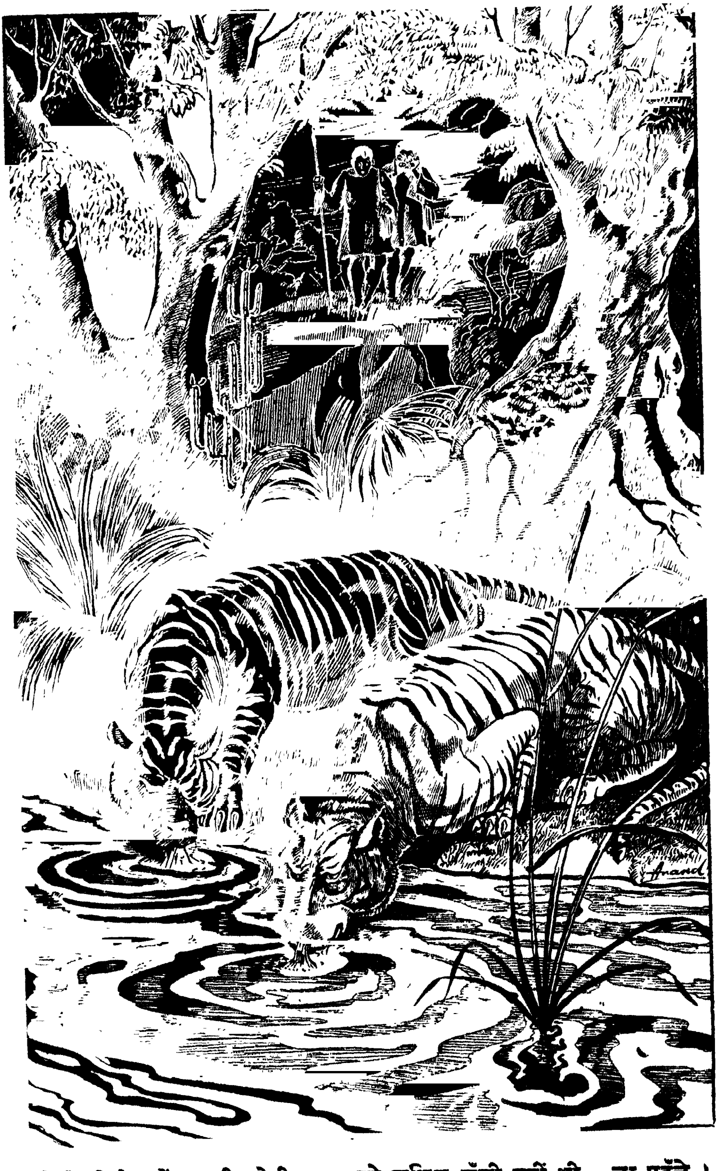
तरुण मेरे पास ही बैठा था; वह कब लेट गया, मुझे पता नहीं चला। पास ही, दूसरी मचान पर भी एकाध साथी लेटा हुआ दीख पड़ रहा था, जिससे अनुमान लगाना कठिन नहीं रहा कि इस मचान पर पिछले तीन घंटे से भूख और निद्रा नामक जिन दो वीरांगनाओं में कठिन द्वन्द्व युद्ध चल रहा था, उसमें निद्रादेवी का पलड़ा भारी पड़ गया है। भूख मैदान छोड़कर भागने को है; और इस एक बजे की रात में निद्रा के शिशु सैनिक छोटे-छोटे पंख लगाए आँखों की पलकों पर पंखा झलते फिर रहे हैं। इसलिए यही निर्णय किया गया कि इस अतीत गाथा को अब यहीं समाप्त कर सभी को निद्रा के स्वप्न राज्य में पहुँच जाने का अवसर दिया जाय।

प्रातःकाल जब उठे, सूर्य निकल चुका था; और हमें अकेले सोते छोड़ वृक्षों के पक्षी जंगलों की तरफ उड़ चुके थे। सबसे पहले मचान को समेट कर रस्सियां लपेट डाली गईं; और फिर स्नान संध्या से निवृत्त हो कुछ समय तक कण्वाश्रम के निकुञ्जों में घूम फिरकर उसकी बन घाटियों के दर्शन किए; और फिर साढ़े ग्यारह बजे के लगभग लालढांग की तरफ—जो नजीबाबाद की एक छोटी-सी अर्ध-पहाड़ी बस्ती है—चल पड़े।

विदा होते समय, मैं महातपस्वी कण्व के इस पवित्र स्मृतिचिन्ह को किसी भी तरह अंतिम प्रणाम करना न भूल सका।—अनायास ही मेरे मुख से निकल पड़ा; किसी अतीतकाल के, हे कथावशेष; प्रणाम; तुम्हें अनेक प्रणाम। गत रात तुम्हारे इस वनस्पति पर बैठकर तुम्हारी ही अतीतगाथा के सुनने-सुनाने का जो सौभाग्य हमें मिल सका; इस जन्म में वह कभी न भूल सकेगा।

आगे का रास्ता इतना कठिन नहीं है। जंगल तो खूब घने और भय-जनक हैं, परन्तु रास्ता वैसा ऊबड़-खाबड़ नहीं है। इसलिए आराम से ही छः सात मील पार कर लिए। मगर बाद में, रास्ते में एक ऐसी पहाड़ी मिली—उसे पहाड़ी ही कहना चाहिए क्योंकि लगभग चार-पाँच सौ फुट से अधिक ऊँची वह न रही होगी—जिस पर बन्दर बहुत थे। इस तीसरे पहर में वे पहाड़ी की ठँडी तलहटी में झुंड के झुंड विश्राम कर रहे थे। मगर जिसका दिमाग़ फितरती हो, उसे रोक कौन सकता है··· ·· बिहारी ने एक शिला की ओट में छिपकर जैसे ही बघेरे की आवाज़ दी कि बेचारे नींद-ईंद भूल बिगटट पहाड़ों की तरफ चढ़ दौड़े।······अब तो सभी को तमाशा मिल गया······उन्हें भागते देख सभी उसी पहाड़ी पर उनके पीछे ही पीछे दौड़ पड़े

१ अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः। शाकुन्तल



और थोड़ी ही देर में उसकी चोटी पर—जो अधिक ऊँची नहीं थी—जा पहुँचे ।

किसे पता था, इस विनोद के बाद कोई गंभीर दृश्य भी देखने को मिलेगा ।

नजर यद्यपि सबसे पहले श्याम की ही गई मगर बाद में वाइनोक्युलर लगाकर मैंने जो दृश्य देखा, उससे भय और प्रसन्नता ने एक ही साथ हृदय में धड़कन पैदा कर दी। पहाड़ी के ठीक नीचे, उत्तर की तरफ, एक वन्य जलाशय की धारा में दो शेर—जो संभवतः शेर और शेरनी थे—अत्यन्त निश्चिन्त भाव से ही पानी पी रहे हैं। भय इसलिए लगा कि एक तो भूख और थकावट के कारण शरीर में काफी निर्बलता आ चुकी थी, तिसपर मशाल वगैरह रक्षा का कोई विश्वासनीय साधन भी पास में न था। तो भी, सात-आठ अभ्यस्त साथियों के रहते भय का कोई विशेष कारण न था। परन्तु वे दोनों अधिक देर तक जलाशय पर नहीं ठहरे। पानी ही तो पीने आये थे, सो पीकर वे चुपचाप जंगल में छुप गए।

इसके बाद का शेष मार्ग आराम से ही कट गया।--हां, लाल ढाँग के पास पहुँचकर रवासन नदी की रेत में हाथियों के झुंड के ताजे पदचिन्ह बहुतायत के साथ मिले। मगर हाथी कहीं नहीं दीख पड़े और हम सायंकाल के झुटपुटे अंधेरे में लाल-ढांग जा पहुँचे। वहाँ से कोठी १२ मील रह जाती है। सो, रात लाल ढांग में बिताकर हमलोग अगले दिन ११ बजे तक कोठी पर जा पहुँचे।

१५

बिगुल चिरजीवी हो

हेमन्त के साथ मेरा प्रथम परिचय देहरादून से दिल्ली जाने वाली एक्सप्रेस ट्रेन में हुआ था। परिचय हुआ भी कुछ अजीब ही ढंग से था। रायवाला स्टेशन से मैं जिस डिब्बे में चढ़ा था, वह भी उसी में बैठा था···मेरी सीट के ठीक सामने ही। हुआ यह कि, मैं जैसे ही डब्बे में चढ़ा, वह मुझे इस तरह आश्चर्य से देखने लगा, जैसे इस दुनियाँ से अलग मैं किसी दूसरे ही लोक का कोई प्राणी रहा होऊँ। शुरू-शुरू में तो मुझे उसके इस आश्चर्य की तरफ ध्यान देने का अवसर नहीं मिला, क्योंकि मैं तब डिब्बे में चढ़ा ही था; परन्तु जब एक यात्री के सामान को—जो दो तीन मुसाफिरों की जगह घेरे सामने की एक बेंच पर व्यर्थ ही अनधिकार चेष्टा किये पड़ा था—ऊपर वाली वर्थ पर रखवाकर मैं उस सीट पर निश्चिन्त होकर बैठ गया; मुझे उसकी तरफ ध्यान देने का अवसर मिला।

ट्रेन तब तक चल चुकी थी; और मैंने लक्ष्य किया, वह अब तक भी मुझे उसी तरह आश्चर्य से देख रहा है।—यह तो मुझे अपने उपर खूब विश्वास था, कि इस युग के अन्य मनुष्यों की तरह मैं भी निश्चय से मनुष्य ही हूँ, किसी चिड़ियाघर का अद्भुत प्राणी नहीं। रही, शक्ल सूरत···वह भी, यद्यपि अच्छी तो नहीं, बुरी ही है; तो भी इतनी अधिक बुरी नहीं कि किसी को बरबस ही मेरी तरफ आश्चर्य से देखते रहना पड़ जाय। इसलिये इस सुन्दर युवक के आश्चर्य का तब केवल एक ही कारण मैं लगा सका···और, वे थे, शायद मेरे कपड़े; या मेरा पहरावा।—वेशक, उसकी तरह मैंने बढ़िया लिनेन की पेंट और वैसी ही बढ़िया कमीज़ तो नहीं पहनी हुई थी—सदा धोती ही पहनता हूँ और वही अब भी पहने हुए था—तो भी, घड़ी उसकी तरह मेरी कलाई में भी बँधी थी; हाँ···यह हो सकता है मेरी अपेक्षा उसकी घड़ी महंगी रही हो; और, उसकी कमीज की पाकेट में लगे हुए जो दो फाउंटेन पेन थे—यदि वे पार्कर ही थे—तो मेरे आगरा-मेड फाउंटेनपेन की अपेक्षा वे भी स्पष्ट ही बहुत काफी महंगे थे। परन्तु इतने से क्या उसे यह अधिकार भी मिल गया था कि वह किसी एक अपरिचित भले आदमी का उपहास करने की धृष्ठता कर बैठे ?

ट्रेन तब तक हरिद्वार पहुँच चुकी थी; उम्मीदवारों की भीड़ से स्टेशन का प्लेटफार्म खचाखच भरा हुआ था; और उन में से कितने ही मेरे डिब्बे में भी चढ़

आये थे। परन्तु ट्रेन यहाँ १५ मिनट ही ठहरी और फिर चल दी। तो भी, मेरा मन एक बार जो उस युवक की तरफ़ से खिंच गया, सो वह अब तक भी वैसा ही बना था। लेकिन, गंगनहर के पुल को पार कर ट्रेन जब पथरी के निश्शब्द, घने जंगलों में से होती हुई लक्सर की तरफ बढ़ने लगी मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ जब उसने अत्यधिक आदर के साथ मेरे कंधे पर लटके हुए फोटो कैमरे को हाथ से छूकर मीठे स्वर में पूछा—यह कितने का होगा, भाई साहब ?

आँख उठाकर मैंने एक बार प्रश्नकर्ता की तरफ देखा। आयु उसकी १८ वर्ष से अधिक न रही होगी; आँखें उसकी सरल थीं और उसके मुख पर जिज्ञासा तथा उत्सुकता का जो संमिश्रण झलक उठा था, वह बिजली के प्रकाश में बहुत ही भला लग रहा था। मुझे ऐसा लगा, जैसे इतना भोला मुख मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा। अभी एक ही क्षण पहले उसके सम्बन्ध में जो कितने ही विद्रोही भाव मेरे मन में उठ रहे थे उनके लिये भी मुझे कुछ कम पछतावा नहीं हो रहा था। सचमुच, ये युवक, वह तो नहीं है, जो मैंने समझा था।

तो भी मन ही मन मुझे कुछ हंसी आई—आखिर, है तो किशोर वयस का लड़का ही न, देखो, सब कुछ छोड़कर अन्त में इसकी जिज्ञासा कहाँ जाकर अटकी; एक मामूली से फोटो कैमरे पर !!

लेकिन, उस कैमरे को मामूली कैसे कह सकता हूँ ? इसी की मध्यस्थता में तो उसके साथ परिचय का प्रथम सूत्रपात हुआ था। इसके कारण ही तो उसके एक प्रश्न के उत्तर में मैं उसे यह बता सका था कि मैं इस समय गौरीबनके अपने जंगल कैम्प से वापस लौट रहा हूँ और इस कैमरे में वहीं के कितने ही फोटो चित्र खिंचे हैं।

जंगल कैम्प की बात सुनकर उसकी आँखों में जो चमक उस समय भर आई थी, वह आज भी नहीं भूलती। ऐसा लगा, जैसे, उसे पूर्वजन्म की कितनी ही स्मृतियाँ एक साथ याद हो आई हों। कुछ देर तक तो वह शायद आत्मविस्मृत सा, खोया हुआ सा, ही बैठा रह गया। बाद में, जब वह फिर अपने में आ गया, उसने बहुत ही गम्भीर भाव से मुझ से जंगल जीवन सम्बन्धी कितने ही प्रश्न किये, और मैंने भी खूब विस्तार के साथ ही उसके प्रश्नों के उत्तर दिये।

× × ×

मैंने उसे अपने 'आरण्यक-संघ' तथा उसके उद्देश्यों से भी परिचित कराया और बताया कि संघ की तरफ से प्रति वर्ष दो या तीन कैम्प—ग्रीष्म, वर्षा और शरद में—इन घाटियों में या अन्यत्र लगाये जाते हैं। प्रत्येक कैम्प की अवधि एक महीने की होती है और इनमें शहरों और गाँवों से हटकर हिंस्रक पशुओं की भयंकरता से भरे हुए जंगलों में ही जीवन बिताना पड़ता है। वहाँ रहकर जहाँ

दैनिक व्यायाम और निरामिष भोजन के नियमों का पालन करना आवश्यक होता है वहाँ साहस और निर्भयता को प्रोत्साहित करने के लिये कितने ही प्रकार के दूसरे निर्दोष मनोरंजनों और आकर्षणों की व्यवस्था भी की जाती है। कैम्प में शिकार करना सर्वथा वर्जित है। हाँ, रायफल की जगह 'फोटोकैमरा शूटिंग' को खूब प्रोत्साहित किया जाता है और शिकारी जीवन में अन्य जितनी उत्तम, निर्दोष और मनोरंजक बातें होती हैं उन सभी को कैम्प के दैनिक प्रोग्रामों में खूब स्थान दिया जाता है।

हेमन्त बीच में ही टोक कर बोल उठा—क्षमा कीजिये; इतना सब रहने पर भी शिमला, मसूरी और काश्मीर सरीखे हिलस्टेशनों के मनोरंजक प्रलोभन छोड़कर आपके इन विपत्तियों और कठोरताओं से भरे कैम्पों की तरफ अधिक लोगों का झुकाव तो न हो सकता होगा ?

मैंने स्वीकार किया कि बात ऐसी ही है। परन्तु भ्रम दूर करने के लिये उसे यह भी बता दिया कि हिलस्टेशनों का मैं विरोधी नहीं हूँ। स्वयं भी कितनी ही बार इन स्थानों की यात्राएँ कर चुका हूँ; और यदि इन स्थानों में जाकर लोग कष्टों, कठोरताओं और भयों में पड़ने की प्रवृत्ति को बनाये रखने के साथ-साथ जंगलों में घटने वाली रोमांचकारी घटनाओं के साथ भी अपना दैनिक सम्बन्ध बनाये रहें तो इन हिल स्टेशनों पर मुझे कोई आपत्ति भी नहीं है।

हेमन्त बोला—हिलस्टेशन पर जाकर तो आप ही आप कष्टमय जीवन बिताना पड़ जाता है। इच्छा हो या न हो, जंगल जीवन से सम्बन्ध रखना ही पड़ता है।

कहा—पड़ता तो नहीं है। हाँ, यदि वे लोग चाहें तो ऐसा जीवन बिता अवश्य सकते हैं। परन्तु, कष्ट से बचने और शरीर को आराम देने के नये से नये आविष्कार आज जिस वेग से बढ़ते जा रहे हैं, उनसे कष्ट सहने और जंगल की रहस्य-पूर्ण विभीषिकाओं से सम्बन्ध बनाये रखने की सम्भावनायें भी प्रतिदिन घटती ही जा रही हैं। नगरों का मोह और भीड़ भाड़ में रहने की प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ गई है कि हम क्षण भर भी उनसे अलग हो कर नहीं रह सकते। एकांत में रहने से हमें एक तरह की घबराहट सी, बेचैनी सी, भय सा अनुभव होने लगता है। इसीलिये अधिक संख्यक लोग, हिलस्टेशनों का जो यथार्थ आनन्द है उसे नहीं उठा पाते। भीड़-भाड़ से भरे अपने शहर से कुछ दिन के लिये निकल कर, वैसे ही एक दूसरे शहर या स्थान में उसी तरह का अकर्मण्य जीवन बिता आने के अतिरिक्त अब इन हिलस्टेशनों का दूसरा उपयोग नहीं रह गया है—कुछ एक श्रीमन्तों या उच्च पदस्थ सरकारी वेतन भोगियों को छोड़कर, जो पैसे या अधिकार के बल पर जंगल सरीखे वातावरणों वाली एकांत कोठियों या 'हटों' में ठरहने का प्रबन्ध कर सकते हैं, सर्व

साधारण के लिये ये यात्राएँ अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं होतीं। उन्हें वहाँ जाकर भी वैसे ही गंदे मोहल्ले, वैसी ही दुर्गंधित गलियाँ, वैसी ही तंग कोठड़ियाँ, वैसा ही अस्वास्थ्यकर भोजन और वैसा ही दूषित वातावरण नसीब होता है। साथ ही चरित्र और स्वास्थ्य का नाश करने के लिये जो प्रलोभक सामग्रियाँ, वहाँ जुटा दी जाती हैं, उनके कारण तो ये हिलस्टेशन और भी हानिकर सिद्ध होते हैं। न स्वास्थ्य मिलता है, न आनन्द, न कोई दूसरी सुविधा; केवल; पैसे का व्यर्थ व्यय होता है, और कुछ नहीं।—उसकी तुलना में ये एकांत कैम्प जीवन, कहीं अधिक कमखर्च, कहीं अधिक उपयोगी और कहीं अधिक मनोरंजक होते हैं।

हेमंत ने आश्चर्य में पड़कर पूछा—मनोरंजक होते हैं?—आपके इन जंगल कैंपों में हिल स्टेशनों से भी अधिक मनोरंजन मिल सकता है, यह तो सचमुच ही एक 'समाचार' है!

कहा—'समाचार' तभी तक है जब तक उस जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर लिया जाता। बाद में तो उसकी सत्यता अपने आप ही समझ में आ जाती है; समझाने की आवश्यकता नहीं रहती।

ट्रेन अब भी वैसे ही पथरी के घने जंगलों को पार करती हुई भागी जा रही थी और एंजिन का फक-फक शब्द, उस निश्शब्द जंगल को—जिसे अंधेरी रात ने पहले ही भयजनक बनाया हुआ था—और भी भीषण बना रहा था। बाहर गाढ़ा अंधकार फैला हुआ था और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। तो भी, खिड़की से बाहर सिर निकाल कुछ देर तक चुपचाप उस जंगल के काल्पनिक भय का अनुभव लेने के बाद मैंने कहा—एक मनोरंजन की तो बात क्या, इन जंगल-कैंपों में तो बड़े सवेरे ही से मनोरंजनों का ढेर लग जाता है। पहले तो, जंगल की स्वच्छ, ताजी हवा में सभी सदस्य मिलकर जो व्यायाम करते हैं, वही कम मनोरंजक नहीं होता—अरे भाई, स्वास्थ्य ही तो जीवन का सर्वोत्तम वरदान है। वहाँ उसे बनाने की खूब सुविधायें होती हैं—फिर उसके बाद ·· किन्हीं पहाड़ी नदियों, पर्वतों से चुपचाप उतरते हुए एकांत झरनों या सूने जलाशयों में—जहाँ रात को जल पीने के लिये आये हुए शेर अपने ताज़े पदचिन्ह छोड़ गये होते हैं—स्नान करने या तैरने का जो आनन्द मिलता है, उसमें भय और वैराग्य का ऐसा विचित्र संमिश्रण हो रहा होता है कि उसे जिसने एक बार चख लिया फिर छोड़ नहीं सका। उसके बाद; उन अरण्यवासी प्राचीन तापसों के अनुकरण में, इन्हीं जलाशयों के तटों पर बैठ कर प्रभु के अदृश्य चरणों में समर्पित की गई विनम्र स्तुति-प्रार्थनायें मानव हृदय को नित्य ही जिन दिव्य संदेशों से भर दिया करती हैं, सच मानो, उनमें तृप्ति का एक बहुत ही अनूठा रस भरा होता है।

सुनकर वह किंचित मुसकरा उठा और बोला—तब तो इन्हें कैम्प न कहकर

ऋषि-मुनियों का आश्रम ही कहना अधिक ठीक होगा।

कहा—क्या कहना अधिक ठीक होगा यह तो शेष प्रोग्राम सुन कर ही बताया जा सकता है। तो भी······

तो भी···क्या ?—उसने कुछ आश्चर्य से ही पूछा।

पथरी के जंगलों की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा— तो भी······यही; कि जिस प्रभु का प्रसंग चलने मात्र से हम लोग प्राय: इतने विरक्त हो उठा करते हैं; मजा यह, कि ऐसे भयंकर जंगलों में जब कभी कोई विपत्ति आ पड़ती है—ये स्थान हैं ही ऐसे······विपत्ति आते देर नहीं लगती—तब बड़े से बड़े नास्तिकों को भा एक मात्र उसके नाम का स्मरण करने के अतिरिक्त कुछ नहीं सूझता। उनके काँपते हुए ओठ तब एक ही साँस में इतनी अधिक बार उसका नाम स्मरण कर जाते हैं, जैसे अगली-पिछली सारी कसर निकाल कर वे मानों अपने जन्म जन्माँतरों के अपराधों का आज ही प्रक्षालन कर रहे हों। उनकी उस समय की उस तत्परता को देखकर उन परम कारुणिक को भी यदि एक बार हँसी आ जाती हो तो आश्चर्य नहीं।—कहकर मैं मन्द मन्द हँसने लगा और मुझे देख कर हेमंत को भी हँसी आ गई।

कुछ क्षण ठहर कर मैंने आगे कहा—कैम्प में भोजन व्यवस्था को भी यथा-शक्ति बहुत उत्तम रखने का प्रयत्न किया जाता है। शिवालक के इन जंगलों में भैंस पालने का पेशा करने वाले गुज्जर लोगों की कमी नहीं है। हमारे दूध की व्यवस्था वहीं से होती है। दूध एक दम शुद्ध और बढ़िया होता है। चाय पीने की व्यवस्था हमारे यहाँ नहीं है। दूध ही पीना होता है।

"और; चाय के बिना जिनका आधा दिन कटना भी भारी पड़ जाता हो; उन के लिये ?"

"उन्हें चाय पीने की मनाही नहीं है। चाहें तो पी सकते हैं। परन्तु यत्न यही रहता है कि वे या तो अपने इस स्वभाव को छोड़ दें या कुछ न कुछ घटा तो अवश्य दें।"

बाद में पता चला चाय पीने वालों की वकालत हेमंत ने अपने लिये नहीं की थी। वह चाय नहीं पीता। दूध का ही शौकीन है।

मुझे याद है, दूध के इस प्रसंग में मैंने यह आपबीती घटना भी उसे सुनाई थी—एक बार ऐसा हुआ कि हमारा कैंप एक ऐसी घाटी में लगा जिसके आसपास तीन तीन मील तक गुज्जरों का कोई डेरा नहीं था। सौभाग्य या दुर्भाग्य से तीन चार डब्बे 'ओस्टर मिल्क' के हमारे साथ थे और कुछ दिन तक उन्हीं से दूध का काम निकाला गया। मगर दस युवकों में वे कितने दिन चलते; समाप्त हो गए; और दूध की समस्या फिर वैसी ही बनी रही।······एक दिन, सायंकाल का समय था; और

में अपने कैम्प के नीचे बहने वाली जलधारा के किनारे अकेला खड़ा सामने के पहाड़ी दृश्यों को देख रहा था। झुटपुटा अंधेरा समूची घाटी पर फैलता जा रहा था। धारा के कलकल नाद के अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं सुन पड़ रहा था। तभी, देखा; सामने के जंगल में से निकल एक मादा नीलगाय अपने छोटे से बच्चे को साथ लिए धारा पर जल पीने के लिए आई और बहुत ही सतर्क भाव से जल पी कर चुपचाप लौट गई। उसे देख मेरे मन में विचार उठा, यदि इसे ही पकड़ कर पाल लिया जाय तो क्या दूध का प्रश्न हल न हो सकेगा ? थी तो कुछ शेखचिल्ली की सी ही बात, मगर उस रात जब अपने साथियों के सामने रखी, सभी ने एक स्वर से समर्थन किया। समर्थन तो खैर हो गया—मगर सारी समस्या तो थी, उसके पकड़ने की—वह कैसे हो ?

लेकिन, इतने 'बिगड़े दिमागों' के रहते उसका हल कर लेना कितनी बड़ी बात थी। मजे में एक योजना बना ली गई और अगले दिन बड़े सवेरे से ही लगकर धारा के उस पार, जिधर से उस नीलगाय को आते देखा गया था, हरे और मजबूत बाँसों की एक छोटी-सी कोठरी—जिसकी लंबाई चार गज और चौड़ाई व ऊँचाई तीन-तीन गज रही होगी—तय्यार कर डाली गई। इतना काम तो सहज था, मगर उस कोठरी के आगे का दरवाजा बैठाने के लिए दिमाग पर कुछ अधिक जोर देने की आवश्यकता आ पड़ी। क्योंकि इस दरवाजे के लगाने की युक्ति पर ही नीलगाय का पकड़ा जाना निर्भर करता था। लेकिन, बात जैसी कठिन लग रही थी, वैसी निकली नहीं; सहज में ही हो गई। तीन गज चौड़े व तीन गज ऊँचे बाँसों के एक जाल को—जिसके ऊपर वाले दोनों सिरे कोठरी की छत के दोनों सिरों के साथ इस तरह ढील देकर बाँध दिए गए थे कि उसे ऊँचा नीचा करने में कोई अड़चन न पड़े—तीन गज ऊँचे एक बांस के सहारे इस प्रकार धरती के समानान्तर खड़ा कर दिया गया कि इसके गिरते ही जाल आप-ही-आप गिर कर दरवाजे के सामने आ लगे।

यह भी हो गया, अब केवल एक ही बात और शेष रह गई। उस खड़े हुए बाँस को गिराने का क्या उपाय किया जाय ? इसके लिए किसी ऐसे ऑटोमैटिक ढंग की आवश्यकता थी जिसमें हमारी कोई जरूरत न पड़े; सब काम आप ही आप हो जाय। उसके लिए उपाय तो और भी कितने ही सूझे, मगर जो सब से अच्छा और अव्यर्थ उपाय जान पड़ा वह यही था कि इस खड़े हुए बाँस के ऊपर के सिरे में एक पतली व मजबूत रस्सी का एक सिरा बाँध दिया जाय और उसके दूसरे सिरे को छत के साथ-साथ ले जाकर कोठरी के पिछवाड़े के जाल में अटकाकर उसमें हरी भरी घास के खूब भारी-भारी गुच्छे इस तरह बाँध दिए जायं कि उनके लोभ में कोठरी में घुसकर नीलगाय जैसे ही उन गुच्छों को अपने मुख से खेंचे बाँस की रस्सी खिचकर बाँस को गिरादे और उसके गिरते ही जाल भी गिर कर दरवाजे को बन्द कर दे।

ऐसी ही सारी तय्यारी करने के बाद, रस्सी को आठ दस बार 'ट्राइ' करके भी देख लिया गया और जब हर बार परिणाम अनुकूल ही निकला, हम इस कोठरी को—या ठीक कहा जाय तो उस फन्दे को—तय्यार खड़ा छोड़ धारा के इस पार अपने कैंप में लौट आए।

तीसरे पहर तक कोई घटना नहीं हुई; मगर साँझ होते ही अपने दैनिक नियम के अनुसार, वही नीलगाय, कल की तरह आज भी, अपने बच्चे को साथ लिये धारा पर पानी पीने के लिये आती दिखाई पड़ी। वृक्षों की ओट में खड़े हम लोग उसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। जंगल के अन्य भोले शाकाहारी पशुओं की तरह, वह भी खूब सतर्क और चुस्त दीख पड़ रही थी। वन में से निकल उसने एक बार अच्छी तरह चारों तरफ देखा और फिर बहुत ही धीरे-धीरे वह धारा की तरफ बढ़ने लगी। रास्ते में ही हमारी कोठरी पड़ती थी। वह जब उसके पास पहुँच, अकस्मात् उसके खुले द्वार के सामने जाकर खड़ी हो गई, हृदय एक अनोखी उत्सुकता से भर उठा।

अद्भुत दृश्य था, वह ! एक बहुत ही सुन्दर फिल्म चित्र जंगल के उस नैसर्गिक चित्रपट पर खेला जा रहा था; हम लोग, जिसके खलनायक थे; और वह बनवासिनी, तपस्विनी नीलगाय थी—भोली नायिका। अच्छे से अच्छे निर्देशकों द्वारा तय्यार कराये गये फिल्म चित्र भी उसके सामने फीके और नीरस थे। सायंकाल की उस प्रशांत वेला में—जंगल के वन देवता, मन्द मन्थर गति से बहती हुई वह पर्वतीय जलधारा, वह अनन्त नीलाकाश, वह निश्चल पर्वत—सब, मानो अपनी-अपनी सीटों पर बैठे उस फिल्म चित्र को एकटक देख रहे थे। कोठरी के द्वार के ठीक सामने ही खड़ी थी, वह नील गाय; और उसके सामने ही वह हरी घास थी—जो उसके जीवन का सब से बड़ा प्रलोभन थी— वह चुपचाप उसे ही देख रही थी।—शायद, सोच रही होगी; कल तो यह सब कुछ यहाँ था नहीं, आज इतनी जल्दी कहाँ से आ खड़ा हुआ ?—उसने एक वार शायद अपने बच्चे की तरफ गरदनझुकाकर भी देखा; मानों पूछा; बोल, खायगा क्या उस हरी घास को ? ले, खाना हो तो खाले; जा; मैं तब तक यहीं खड़ी हूँ।—बच्चा शायद माँ की बात समझ रहा था और उसने दो एक कदम कोठरी की तरफ बढ़ाये भी मतलब; अच्छा तू यहीं ठहर; मैं खाकर अभी आता हूँ। मगर, घास थी बहुत ही प्रलोभक; उसके हरे-हरे गुच्छे बहुत ही आकर्षक थे···दिल शायद माँ का भी ललचा उठा। इसलिये बच्चा जब आगे बढ़ा; उसकी वह कई वर्ष की अनुभवी माँ भी उसके साथ ही आगे बढ़ गई।—हाय रे, इसी प्रकार तो संसार के विषय मानव हृदय को प्रलोभित किया करते हैं और, इस नीलगाय की तरह ही तो जीवात्मायें अपने आप को माया जाल में फंसा लिया करती हैं। दो ही तीन कदम और · और, वह अभागिनी अपने बच्चे को लिये कोठरी में

घुस ही तो गई। संतोष दोनों को ही नहीं था; तो भी सबसे पहले बच्चे ने ही घास की तरफ मुँह बढ़ाया, मगर नीचा होने से वह उस तक नहीं पहुँच सका। माँ साथ ही खड़ी थी···मुंह बढ़ाकर एक ही झटके में उसने गुच्छे को अपनी तरफ खेंच लिया और अभी वह शायद उसका एक कौर भी न निगल सकी होगी कि एक हलके से शब्द के साथ उसके पीछे का बाँस नीचे गिर पड़ा; और जब तक वह चौंके उसके सहारे खड़ा हुआ वह भारी जाल भी भड़भड़ाता हुआ; जैसे कह रहा हो,—मार लिया मैदान—कोठरी के द्वार पर जा लगा।

चौंककर नीलगाय ने पीछे मुड़कर देखा रास्ता बन्द था···झुँझला उठी··· दो चार करारी दुलत्तियाँ एक साथ जाल पर चलाईं। मगर कोठरी इतनी कच्ची नहीं थी। मजबूत दुलत्तियाँ खाकर भी वह वैसी ही अटल खड़ी थी। तो भी, अब तक नीलगाय इतनी भड़क चुकी थी कि भय था कहीं उसकी दुलत्तियाँ जाल को तोड़



ही न डालें। रस्सियां हाथ में संभाले, नदी की धार को पारकर हम लोग भागते हुए कोठरी के पास जा पहुँचे और श्याम और शेखर ने अन्दर घुस देखते ही देखते उस

बेचारी को रस्सियों से जकड़ डाला।

बच्चा मेरे पल्ले पड़ा। उसे गोद में उठा जब मैं आगे आगे चल दिया, तब बच्चे की ममता के कारण नीलगाय को भी, अनिच्छा से ही, मेरे पीछे चलेआना पड़ा।

कैम्प में पहुँच हमने एक तंबोटी उन दोनों नये अतिथियों के लिये खाली कर दी; ठीक वैसे ही, जैसे बाल्मीकि आश्रम में पधारने पर वहाँ की आश्रमवासिनी तपस्विनियों ने जानकी के लिये एक उटज खाली कर दी थी।

और उसका दूध?—हेमन्त ने पूछा।

दस बारह दिन तक तो उसने किसी को अपने थनों में हाथ न लगाने दिया। मगर बाद में जब वह हम लोगों के साथ हिलमिल गई, मजे में दूध दे दिया करती थी। जंगली नीलगायों का दूध स्वाद में कैसा होता है यह तो हमें पता नहीं मगर, हमने क्योंकि उसके लिए गाँव से चने का आटा, खल और बिनौलों का प्रबन्ध कर दिया था, उसके दूध का स्वाद लगभग वैसा ही हो गया था जैसा गाय का होता है। थोड़ा बहुत भेद तो अवश्य था मगर पीने में वह बुरा नहीं लगता था। दिन भर में कुल मिलाकर वह लगभग तीन साढ़े तीन सेर दूध दे देती थी।

इस प्रकार उस भागती हुई ट्रेन में हेमन्त के साथ मेरी कितनी ही बातें हो गईं। कितने स्टेशन बीत गये, कुछ पता ही न चला। रात बीतकर प्रभात के लक्षण प्रकट होने लगे। अन्त में जब ट्रेन शाहदरा से निकलकर जमना पुल को पार करती हुई दिल्ली जंक्शन के प्लेटफार्म पर आ लगी और स्टेशन से बाहर निकल वह विदा होने के लिये तय्यार हुआ; मैंने पूछा—अब आगे कहाँ जाना होगा?

उसने कहा—यहाँ पास ही मेरे एक मित्र फतेहपुरी में रहते हैं। देहरादून से एक पत्र द्वारा उन्हें अपने आने की सूचना भी दे चुका हूँ। वहाँ ही जाऊँगा। और आप?

कुछ दिन के लिये मैं भी अभी दिल्ली ही ठहरूँगा। यहाँ मेरा मकान है। करौल-बाग़ में। वहाँ भी सब सुविधायें हैं। यदि कोई संकोच न हो तो आज मेरे साथ घर पर ही चलो, न?

सुनकर वह प्रसन्न हो उठा। बोला, चलिये। आपके इन जंगल कैम्पों के मनोरंजक प्रोग्रामों के बारे में अभी तो और भी बहुत कुछ सुनना शेष है। मित्र से मैं किसी और समय, दिन में, मिल आऊँगा।

तांगे पर चढ़ हम दोनों करौलबाग़ की तरफ चल पड़े।

(२)

दोपहर का भोजन पाकर मैं कुछ देर लेट लेना चाहता था। रात भर ट्रेन में जागते रहने से कुछ थकावट भी आ गई थी। परन्तु हेमन्त का मन वन्य प्रेम में

अभी नया ही दीक्षित हुआ था। कमरे में आकर एक कुर्सी पर बैठता हुआ बोला—अपने जंगल कैम्पों के कुछ और भी मनोरंजक प्रोग्राम सुनाइये।

मैं तब अभी लेटा ही था; उठकर बैठ गया; और बोला—यह तो मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि कैम्प जीवन के छोटे बड़े सभी प्रोग्राम मनोरंजक ही होते हैं। अकर्मण्यता, शिथिलता या उदासी का वहाँ कोई काम नहीं है। तो भी, वहाँ के सात-आठ प्रोग्राम ऐसे हैं जिन्हें विशेष मनोरंजक कहा जा सकता है।

वे ही तो सुनना चाहता हूँ।—हेमन्त बोला।

कहा—हरिणों, शेरों, हाथियों, तेंदुओं आदि वन्य पशुओं की खोज तथा उनके सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना; मचानों पर बैठकर उनकी विभिन्न मुद्राओं के फोटो चित्र लेना; बेड़ों पर बैठकर नदियों की लम्बी यात्रायें करना तथा मगरमच्छ आदि जल जन्तुओं का परिचय प्राप्त करना; जंगलों में अकेले घूम फिर सकने और वृक्षों तथा पहाड़ों पर चढ़ सकने का अभ्यास करना; लक्ष्यवेध तथा तैरने की शिक्षा प्राप्त करना आदि कुछ ऐसे प्रोग्राम हैं जिन में मनोरंजन तो है ही, साहस, स्वास्थ्य तथा निर्भयता की यथासंभव प्राप्ति भी होती है।

हेमन्त ने कहा—यों, प्रोग्राम तो ये सभी बहुत सुन्दर और उपयोगी हैं; परन्तु मेरी सम्मति में मचान का प्रोग्राम शायद सबसे अधिक मनोरंजक रहता होगा।

हाँ, यह ठीक है। क्योंकि इसमें परीश्रम भी कम है और विपत्ति का भय भी अधिक नहीं है; इसलिये कितने ही लोग इसे बहुत पसन्द करते हैं। हमारे कैंप में कितने ही युवक तो केवल इन मचानों के शौक से ही संमिलित होते हैं। इन्हें यदि मनोवैज्ञानिक शास्त्र की एक उपज कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

"मनोवैज्ञानिक शास्त्र की!"

हाँ! मचान सचमुच ही एक ऐसा गंभीर विषय है, जिसका मनोविज्ञान से बहुत गूढ संबंध है। मचान बाँधने से पहले उचित जंगल और उचित वृक्ष की खोज करनी बहुत आवश्यक होती है। इसके लिए जंगल में घूम फिर कर किसी ऐसे वृक्ष की खोज करनी होती है, जिस पर मचान बाँधने की सुविधा तो हो ही, उसके पास कोई जलकुंड, जलधारा या जलाशय भी हो। यह वृक्ष ऐसे जंगल में होना चाहिए जो खूब घना हो और जिसमें हरिणों और नीलगायों की अधिकता हो; साथ ही उसमें से शेर का बहुधा आना जाना भी रहता हो। इसके लिए दो चार दिन तो यही पता लगाने में बीत जाते हैं कि आज कल शेर का अड्डा किस जंगल में है, उसके भ्रमण क्षेत्र का विस्तार कितना है और किन रास्तों से वह बहुधा शिकार की खोज में आया जाया करता है। यह सब पता लगा लेने के बाद ही मचान के योग्य वृक्ष को चुना जाता है और उस पर एक खूब पक्की और सुरक्षित मचान इस प्रकार बाँधी

जाती है कि उस पर बैठा हुआ व्यक्ति तो मजे में अपने आसपास की सभी चीजों को देख सके, मगर उसके नीचे घूमने फिरने वाले वन्य पशु उसे न भांप सकें। इसके लिए मचान को वृक्ष की घनेपत्तों वाली शाखाओं में छुपा कर बाँधना आवश्यक होता है।

मचान धरती से कम-से-कम बीस फीट की ऊँचाई पर अवश्य रहनी चाहिए; ताकि समय पड़ने पर खूनी हाथी भी उसका कुछ न बिगाड़ सके। मचान पर सुभीते से चढ़ सकने की व्यवस्था भी की जाती है। इसके लिए खूब सुदृढ़ बाँसों की एक सीढ़ी तय्यार की जाती है जिसके सहारे अनाड़ी से अनाड़ी व्यक्ति को भी चढ़ने-उतरने में असुविधा न हो। केवल चढ़ने उतरने के समय ही यह सीढ़ी लगाई जाती है, बाद में मचान के ऊपर खेंच ली जाती है। कई बार खूब मजबूत व विश्वस्त रस्सियों की सीढ़ी भी बनाई जाती है, जो अनेक बार बाँस की भारी भरकम सीढ़ी की अपेक्षा अधिक उपयोगी पाई गई है। जहाँ तक संभव हो बरगद के वृक्ष पर मचान नहीं बाँधनी चाहिए, क्योंकि उसमें से जो अनेक छोटी बड़ी शाखायें लटका करती हैं वे कई बार बहुत हानिकर सिद्ध होती देखी गई हैं।

यह सब हो चुकने के बाद हरे और ठोस बाँसों का एक खूब मजबूत पिंजरा तय्यार किया जाता है, जिसके जाल-छिद्र तीन-तीन इंच से अधिक चौड़े नहीं रहते और जिसकी ऊँचाई भी डेढ़ गज और लंबाई चौड़ाई दो-दो गज से अधिक नहीं रहती।

पिंजरा मचान से कुछ दूर—यही कोई पन्द्रह बीस कदम पर—इस तरह रख दिया जाता है कि जिससे मचान वालों को वह बहुत ही स्पष्ट दीख पड़े। इस पिंजरे में, बकरा या हरिण, जैसी भी सुविधा हो रख दिया जाता है। बकरे को क्योंकि यह पता नहीं चलने दिया जाता कि मचान पर कोई बैठा है, इसलिए, उस भयानक और सुनसान जंगल में मृत्यु के प्रतिक्षण भय के कारण वह लगातार आवाजें देता रहता है। इन आवाजों के कारण ही शेर का कभी भी आ निकलना संभव हो जाता है और वैसा हो जाने पर मचान वालों के लिए वह एक बहुत ही बढ़िया स्वर्ण-अवसर होता है।

परन्तु, तो भी शेर के आ जाने की कोई गारंटी नहीं दी जा सकती; क्योंकि शेर एक बहुत ही चाणाक्ष जानवर है, और उसके लिए की गईं ये सभी तय्यारियां कई बार व्यर्थ भी हो जाती हैं।

हेमंत ने प्रसन्न होकर कहा—उपाय सचमुच ही बहुत सुन्दर है और इसके कारण शेर को कहीं भी दूर से बुला सकना काफी संभव प्रतीत होता है।

कहा—संभव तो अवश्य है, परन्तु इसके लिये एक बहुत बड़े अभ्यास और साधना की आवश्यकता है। इस साधना शब्द से चौंकना नहीं। संसार की किसी भी

सफलता के लिये यह साधना एक अनिवार्य वस्तु है । साधना का अर्थ है—आत्म निग्रह, अपने ऊपर संयम । तुमने अभी जैसा कहा, मैं भी मानता हूँ, उपाय सुन्दर है; परन्तु मचान पर बैठने वालों की अनेक प्रकार की असावधानियों और स्वभावगत निर्बलताओं के कारण यह इतना सुन्दर उपाय भी निष्फल हो जाता है । मचान पर बैठ कर वही व्यक्ति शेर को देखने में सफल हो सकता है जो लगातार कई घंटों तक चुपचाप बैठा रह सकता हो; गले में लगातार उठते रहने वाले खांसी के धसके को दबा सकता हो; बार-बार लेटने, करवटें बदलने, हिलने डुलने, बातचीत करने या गप-शप लगाने के प्रलोभन को रोक सकता हो । कहने सुनने में तो ये बातें साधारण ही मालूम देती हैं मगर मचान की सफलता इन्हीं छोटी-छोटी बातों पर निर्भर करती है । मेरा तो यह बहुत बार का अनुभव है कि मचान पर बैठने वाले या तो अपने असंयत स्वभाव के कारण इन नियमों का पालन कर ही नहीं पाते या स्थिति की उपेक्षा करने के कारण उन्हें भंग कर देते हैं और इस प्रकार हाथ में आई हुई सफलता को बड़े ही सस्ते ढंग से गँवा देते हैं ।

इसीलिये कहता हूँ मचान पर बैठना भी एक साधना है और इसके लिए काफी अभ्यास की आवश्यकता है । इसमें विनोद और मनोरंजन है तो अवश्य, मगर उसके लिए कुछ त्याग भी करना पड़ता है ।

कहकर हेमंत का समर्थन प्राप्त करने के लिये मैंने उसके मुख की तरफ देखा। मगर वहां समर्थन करने सरीखी कोई बात मुझे नहीं दिखाई पड़ी । उल्टे; ऐसा लगा जैसे वह कुछ विरक्त सा हो उठा है । जैसे, मचान के प्रति उसके हृदय में अभी हाल ही में जो उत्सुकता और आकर्षण उठा था वह नष्ट हो गया है । बोला—तब तो मचान का मनोरंजन भी एक प्रकार का स्वप्न ही समझो ?

कहा—संभव है, स्वप्न ही हो । तो भी, उसे एक बहुत ही मधुर स्वप्न मानना होगा । और, कई बार जैसे स्वप्न भी सच हो जाते हैं, वैसे ही मचान पर बैठ कर शेर के देखने का स्वप्न भी एकाधिक वार सफल होते देखा गया है ।

"सच कहते हैं ?"—हेमंत के मख पर आनंद भरा आश्चर्य फिर खेल उठा ।

अभी पिछली ही वार की तो बात है, जब मैंने और विपिन ने मचान पर से शेर को केवल पिंजरे के आस पास मंडराते ही नहीं देखा था, बल्कि, बकरे को निकाल ले जाने के लिये उसके ऐसे दाव पेंच भी देखे थे जिन में भयंकरता तो थी ही, मनोरंजन भी कम न था । यदि तब सौभाग्य से मेरा बाण ठीक उसके पंजे पर न जा लगता, आश्चर्य नहीं था वह बकरे को ले ही जाता ।

बाण !!

हां । आज के इस वैज्ञानिक युग में बेचारे बाण की बात है तो जरा हास्या-

स्पद सी ही; परन्तु तो भी, जैसे मोटर के मैदान में आ जाने पर भी बैलगाड़ी की उपयोगिता अभी बनी ही हुई है, रायफल के मुकाबिले में यह बाण भी अबतक अपनी एक स्वतंत्र सत्ता बनाए हुए है। कम-से-कम जिस मतलब से मैंने उस दिन उसका प्रयोग किया था, रायफल वहाँ एकदम व्यर्थ थी।

मतलब ?

तुम्हारे इस 'मतलब' का मतलब तो तभी स्पष्ट होगा जब उसे कुछ विस्तार के साथ बता सकूंगा।–यह तो तुम जान ही चुके हो कि हमारे 'संघ' के उद्देश्यों में शिकार प्रथा को अनुत्साहित करना भी हमारा एक मुख्य उद्देश्य है। आज की यह निन्दनीय शिकार प्रथा गत दो शताब्दियों में जिस तरह वन्य पशु-पक्षियों की कतिपय उपजातियों का थोक संहार कर चुकी है, और अब भी करती जा रही है. उसका विरोध करना प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति का कर्तव्य है। जंगल-जीवन की चिर उपेक्षा और उनसे संपर्क न बनाये रखने के कारण हमें पशु-जगत् पर आये दिन होने वाले इन अत्याचारों का कुछ भी पता नहीं चलता; और वे लोग—जो तीतर बटेर और मुर्गावियों के मारने में ही अपनी वीरता की चरम सीमा समझे बैठे हैं; या निरीह हरिणों को गोली का शिकार बनाकर अपने आप को शिकारी कहलाने का अधिकारी समझते हैं—ये ही वे लोग हैं जो जंगलों की इस पवित्र देन को नष्ट कर देने पर तुले हुए हैं। यह कहना शायद काल्पनिक न होगा कि योरोपियन जातियों, विशेषतः ब्रिटिश लोगों का—जिनके अपने देश में इस तरह के शिकारों के आनन्द उठाने का खुला सुयोग नहीं है—इस संहार लीला में सब से बड़ा हाथ रहा है। कहीं मानव जीवन की रक्षा के बहाने और कहीं स्पष्ट मनोविनोद के लिए ही इन लोगों के हाथों एशिया तथा अफ्रीका के पशु-पक्षियों की कतिपय उपजातियाँ तो प्रायः समाप्त ही की जा चुकी हैं; और मजा यह है कि इन लुप्त प्राय उपजातियों की सुरक्षा के लिए मकराश्रु बहाने का नाटक भी आज ये ही जातियाँ कर रही हैं। कितनी बड़ी बिड़ंबना !—भारत के स्वतन्त्र तथा गणतन्त्र हो जाने के बाद भारतीय सरकार के बन-विभाग ने यद्यपि लुप्त उपजातियों की सुरक्षा की तरफ कुछ ध्यान दिया है और पशु-पक्षियों की हत्या पर पहले की अपेक्षा कुछ अधिक प्रतिबन्ध लगाये हैं; परन्तु इससे पूर्व ब्रिटिश राज्य में यहाँ इन बेचारे वन्य पशुओं की हत्या का क्या हिसाब था, उसकी एक झाँकी 'स्टेट्समैन' के १३ मार्च १८७८ के उस उद्धरण में देखी जा सकती है जिसमें ब्रिटिश सरकार ने एक ही वर्ष में २३,४५६ वन्य पशुओं (अर्थात् शेर तेंदुओं) की थोक हत्या की सूचना आज से ७५ वर्ष पूर्व बड़े अभिमान से दी थी !!—ये संख्या केवल सरकारी तौर पर की गई हत्याओं की है, इसके अतिरिक्त शिकार का खुला लायसेंस पाकर शौकीन विदेशी शिकारियों के हाथों और भी कितने हजार वन्य पशु उस एक वर्ष में मार डाले गये,

इसका तो कोई हिसाब ही नहीं है।

इसीलिए 'संघ' रायफल-शूटिंग के स्थान पर 'फोटो-कैमरा-शूटिंग' को ही अधिक महत्व देता है और अपने कैम्पों में इसी नियम का पालन करता है।

हेमंत शायद मेरी इन सूखी बातों से थक गया था। बीच में ही बोल उठा—

मगर आप तो तीर वाली घटना सुना रहे थे, न ?

"हाँ, उसे भूला नहीं हूँ। मगर उससे पहले तुम्हारा इस भूमिका से परिचित हो जाना आवश्यक था।—रही, घटना; वह तो अच्छी खासी मनोरंजक थी ही। सर्दियां अभी प्रारंभ ही हुई थीं। कार्तिक का महीना था; और उस दिन मेरी और विपिन की मचान पर बैठने की बारी थी। इसलिए हमने जब मचान पर चढ़कर सीढ़ी ऊपर खेंच ली; और हमारे बैठ चुकने के पन्द्रह मिनट बाद, जब हमारे साथी भी सामने के पिंजरे में बकरे को सुरक्षित बाँधकर ऊँचे-ऊँचे बातें करते हुए विदा हो गए, तब पाँच ही मिनट में जंगल में एक ऐसा शून्य सन्नाटा छा गया कि जंगल की भयानकता की अपेक्षा वह शून्यता ही अधिक भयंकर हो उठी।

मचान जब खाली होती है, और उस पर कोई नहीं बैठा होता, तब बकरे को पिंजरे में नहीं छोड़ा जाता; कैम्प में पहुँचा दिया जाता है। उसे पिंजरे में तभी बाँधा जाता है जब मचान वाले मचान पर आ बैठते हैं।—बकरा जब तक कैम्प में रहता है, एक प्रकार का आनन्द और जीवन का उल्लास उसके चारों तरफ छाया रहता है; कैम्प वालों की बातचीत, हँसना-बोलना सुनकर उसका जी लगा रहता है; एक प्रकार का धीरज और निर्भयता भी उसमें बनी रहती है। परन्तु जब उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध उस सूने पिंजरे में लाकर बाँध दिया जाता है, तब उस अकेले और सूनेपन में एक प्रकार का भय उस पर इस तरह छा जाता है कि उस से घबरा कर वह स्वयं ही बाँ······बाँ····· करने लगता है।—मचान पर बैठने वाले, कैम्प से मचान की तरफ आते समय बकरे को अपने साथ नहीं लाते। बल्कि उनके मचान पर बैठ जाने के पन्द्रह-बीस मिनट बाद उनके दूसरे साथी ही उसे पिंजरे में बाँधने के लिए अपने साथ लाते हैं और उसे पिंजरे में खूब सावधानी से बाँधकर और पिंजरे के दरवाजे को भी खूब पक्की तरह बन्द कर मचान वालों से किसी प्रकार की बातचीत किए बिना ही—केवल आपस में ही बातचीत करते हुए—वापस लौट जाते हैं। इसके दो परिणाम होते हैं। एक तो, बकरे को मचान पर बैठने वालों की उपस्थिति का ज्ञान न रहने से उसे किसी भी तरफ से किसी भी प्रकार की सहायता मिल सकने की आशा नहीं रह जाती; वह अपने को एकदम अकेला और असुरक्षित अनुभव करता है और ऐसी स्थिति में निराश-सा होकर बार-बार आवाज करता है। दूसरे, इस से शेर को भी सहज में ही धोखे में डाला जा सकता है। बकरा जब पिंजरे में नहीं होता,

कैम्प में होता है—उसकी गंध तब भी पिंजरे में बसी रहती है और कई बार उसके पास से गुज़रता हुआ शेर उस गंध को पाकर पिंजरे के पास आ पहुँचता है और उसकी प्रतीक्षा में बहुधा कहीं आस-पास ही किसी पेड़, झाड़ी या चट्टान के पीछे छिपकर बैठ जाता है। ऐसी स्थिति में मचान पर बैठने वाले जब मचान पर चढ़ते होंगे तो शेर—जो पहले से ही वहाँ बैठा होता है—उन्हें अवश्य देख लेता होगा, और तब यदि उसके हृदय में किसी प्रकार के धोखे का धुधला-सा संदेह पैदा हो जाता होगा तो वह अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु मचान वालों के मचान पर पत्तों में छिप कर बैठ जाने के पन्द्रह-बीस मिनट बाद, जब खूब ऊँचे-ऊँचे बातें करते हुए शेष साथी लोग उस स्थान पर आकर बकरे को पिंजरे में बाँधते हैं और पाँच चार मिनट वहाँ ठहर कर फिर वैसे ही गप्पें लगाते हुए वापस लौट जाते हैं, तब शेर के उस धुँधले से सन्देह के मिट जाने में देर नहीं लगती। तब या तो मचान वालों का उसे ध्यान ही नहीं रह जाता या वह यह मानकर निश्चिन्त हो जाता है कि मचान वाले भी इन लोगों के साथ ही बकरे को अकेला छोड़कर बिदा हो गये हैं। ऐसी निश्चिन्तता में ही वह पिंजरे की तरफ आ सकता है।

उस दिन—यह तो नहीं पता कि शेर पहले से ही कहीं आस-पास आ बैठा था; या बकरे की आवाज़ सुनकर बाद में आया; परन्तु हुआ यह कि साथियों के बिदा हो जाने के आठ-दस मिनट बाद ही हमें अपने बाईं तरफ की झाड़ियों में कुछ हलचल सी दिखाई पड़ी, और उसके दो ही मिनट बाद एक हरी सी झाड़ी की ओट में से शेर का सिर दिखाई पड़ा। शेर युवक नहीं जान पड़ता था; कुछ अधेड़ सी आयु का ही रहा होगा। आठ दस मिनट तक तो वह उस झाड़ी की ओट में वैसे ही खड़ा रहा। हिला तक नहीं। केवल, कभी कभी हमारी मचान की तरफ सिर घुमाकर अवश्य देख लेता था। जिससे हमने यह अनुमान लगाया कि वह हमारे आने से पहले ही वहाँ बैठा था और उसने हमें मचान पर चढ़ते भी देख लिया था। यद्यपि, हमारे साथियों के चले जाने पर संभवतः उसकी यह धारणा तो बन चुकी थी कि हम भी उनके साथ ही विदा हो गए हैं; नहीं तो वह बकरे के पास आता ही क्यों; तो भी जान पड़ता है उसके मन में एक तरह का धुँधला सा सन्देह अब भी बना हुआ था; और इसीलिए वह रह रह कर मचान की तरफ देख रहा था।

यदि उस समय हमारी तरफ से कोई छोटी-सी भूल, कोई छोटी-सी भी उपेक्षा हो जाती; घटना का रुख ही बदल जाता। मगर, समय को देखते हुए हमने उस समय—जैसे बैठे थे, वैसे ही बैठे रहने का निश्चय कर लिया था। हाथ, पाँव, सिर; कुछ भी बिना हिलाये—यहाँ तक कि साँस भी गहरा न लेते हुए—हम एक टक शेर की तरफ देखते हुए बैठे थे।

इसी तरह आठ दस मिनट बीत गए, पर शेर अपनी जगह से न हिला। झाड़ियों की ओट में वह जैसे खड़ा था, कितनी ही देर तक वैसे ही खड़ा रहा। ... परन्तु, अन्त में, वह हिला; और बहुत ही दबे पाँव आगे बढ़ता हुआ पिंजरे के पास आ खड़ा हुआ।

बकरे की मूर्ति तब ही देखने ही योग्य थी। शेर को देखते ही, वह गरदन झुकाकर इस तरह खड़ा हो गया जैसे, गणित के घण्टे में प्रश्न का उत्तर न आने पर तीसरी चौथी कक्षा का कोई छात्र मास्टर के सामने सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है—और, शेर ? उसके मुख पर तो एक प्रसन्नता झलक रही थी। बकरे की ओर वह ऐसे ताक रहा था जैसे बहुत दिनों बाद उसे कोई अपना बिछुड़ा हुआ साथी मिला हो।

मगर, तो भी बकरे पर झपटने में देर लगते देख मुझे कुछ आश्चर्य ही हो रहा था। इस प्रकार का विलम्ब शेर की प्रवृत्ति के विरुद्ध है। वह तो देखते ही शिकार पर टूट पड़ा करता है; बिलंब नहीं करता। इसका कारण शायद यह रहा हो, कि बकरे तक पहुँचने में पिंजरा उसके मार्ग में जो बाधा डाल रहा था वह इसी का कोई हल सोच रहा हो। या संभव है, कोई दूसरा ही कारण रहा हो; शेरकी प्रकृति न पहचानने के कारण, हमें जो समझ न आ रहा हो।

तभी, घटनाचक्र अचानक घूम गया; और बकरा—जो पिंजरे में अब तक अच्छा भला खड़ा दीख पड़ रहा था—न जाने कैसे एक ही साथ लड़खड़ा कर इस तरह गिर पड़ा, जैसे उसके घुटने टूट गये हों और उसके एक हो क्षण बाद शेर दहाड़ कर पिंजरे पर टूट पड़ा।

आक्रमण इतन प्रबल था कि यदि कहीं पिंजरा जरा भी कच्चा रहा होता, उस पहले ही धक्के में वह ताश-पत्तों के मकान की तरह बिखर कर गिर पड़ा होता और बकरा शेर के हाथ में पड़ गया होता।

मगर चित्रगुप्त की बही में अभी बकरे के नाम के आगे हरताल फेरने की व्यवस्था शायद नहीं हुई थी; और हमारे इस पिंजरे की आयु भी अभी शेष थी—इसलिये, दोनों ने ही शेर की झपट को मजे में झेल लिया।

मगर,—मजे में झेल लिया—कहना तो ठीक नहीं होगा। क्योंकि शेर का तमाचा खाकर आँधी से काँपते हुए वृक्ष की तरह वह जिस प्रकार एक ही साथ झनझना उठा था उससे तो यही मानना पड़ेगा कि उसने बड़ी कठिनाई से ही धक्के को झेला था। लेकिन, झेल लिया, जैसे यह सच है, उसने उस बकरे को भी, सुरक्षित बचा लिया, यह भी उतना ही सच है।

परन्तु, यह सब कितनी देर तक ? अपने आक्रमण में असफल होकर शेर

अब जिस प्रकार झल्ला उठा था और जिस तरह गुर्रा रहा था, दाँतों से उसे जिस तरह नोच खरोंच रहा था, उससे तो पिंजरा और बकरा दोनों का ही अस्तित्व संदिग्ध हो उठा था। पिंजरे से वह इस तरह चिपटा हुआ था जैसे 'फ्रीस्टाइल' की कुश्ती लड़ते हुए दो पहलवानों में से एक पहलवान अपने विरोधी को नीचे दबाकर उसे 'आर्म्स स्ट्रेच' या 'बाड़ी प्रेस' द्वारा 'सबमिट' कराने में लगा हो।

कुछ भी सही, दृश्य वह देखने ही योग्य था। शेर की उस समय की सभी भयंकर चेष्टायें, पिंजरे को तोड़ने और बकरे को उसमें से निकाल ले जाने के उसके सभी उद्योग संसार के किसी भी सर्वोत्कृष्ट फिल्म चित्र से अधिक रोमांचपूर्ण और अधिक मनोरंजक थे। इच्छा तो ऐसी हो रही थी कि घटना को अन्त तक ही देखा जाय। पिंजरे को तोड़कर वह किस प्रकार बकरे को निकाल लेता है, कैसे उसे मारता है, कैसे खून पीता है, कैसे बची हुई लाश को उठाकर जंगल में ले जाता है—सभी ऐसी बातें थीं जीवन में जिनके देखने का अवसर सुगमता से नहीं मिला करता। मगर, बकरे के निरपराध प्राणों का बचाना भी तो उतना ही आवश्यक था।

शेर के पंजों और दाँतों के कारण पिंजरे का एक बाँस कड़क तो अवश्य चुका, मगर अभी उसके दो टूक नहीं हुए थे, यह कुशल थी। जो कुछ करना था, इसी बीच कर लेना था। तभी, मुझे अपने पास रक्खे हुए धनुष की याद आ गई। मगर, चिर वर्षों से जो केवल मनोरंजन और दिल बहलाव का ही साधन रहा था, ऐसे अवसर पर उसका प्रयोग करने में कुछ दुविधा होने लगी। वह एक ऐसा परीक्षण था, ऐसे भीषण प्रसंग पर जो इससे पहले कभी नहीं किया गया था। दस वर्ष तक निरन्तर किये गये लक्ष्यवेध के अभ्यास के कारण यद्यपि निशाना चूकने की तो कोई विशेष आशंका नहीं थी मगर रायफल के मुकाबले में उसकी मार और वेग के काफी हलके होने के कारण शेर पर उसका कोई प्रभाव पड़ सकेगा कि नहीं दुविधा का मुख्य कारण यही था।

मगर, यह सब सोचने का अब समय ही कहाँ रह गया था। बाँस कड़क चुका था और वह कब उसे दो टूक कर डाले पता नहीं था। अधिक विचार में न पड़ फुर्ती से मैंने उसी धनुष को उठा लिया—इससे कुछ खड़खड़ तो अवश्य हुई और शेर ने पिंजरे से चिपटे ही चिपटे चौंककर एक बार मचान की तरफ देखा भी; परन्तु अब आत्म गोपन से लाभ भी क्या था—और इसके बाद, एक क्षण की भी देर न लगा मैंने उस पर बाण चढ़ा, निशाना बाँध, पूरे वेग से शेर पर छोड़ दिया। आशा जैसी नहीं की थी, परिणाम उससे भी भी कहीं अधिक अद्भुत निकला। चपटे लोहफलक वाले उस नोकहीन बाण ने उसके दायें पंजे पर भरपूर बैठकर उसे इस तरह व्याकुल कर डाला कि एक ऊँची दहाड़ लगाकर—जिससे आसपास का समूचा जंगल गूँज उठा—

वह पिंजरे को छोड़, लंगड़ाता-सा हुआ दूर जा खड़ा हुआ। तभी मैंने दूसरा बाण चढ़ा लिया। मगर उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। शाम के अँधेरे में पिंजरे को छोड़कर शेर कहाँ किधर चला गया, कुछ भी पता न चला।

मगर, इसका यह अर्थ नहीं था कि वह सचमुच ही चला गया है। कम से कम मैं तो इस बात को मानने के लिये तय्यार न था। उसके चले जाने का कोई गम्भीर कारण दीख भी तो नहीं रहा था। गोली से आहत होने के बाद शेर को मैदान छोड़कर भागते हुए तो बहुत देखा-सुना है, मगर एक सामान्य तीर की चोट से—जिसके आगे नोकीला फलक तक भी नहीं लगा था—आहत होकर उसे मैदान से भाग जाते तो कभी नहीं सुना है।

इसलिये, जब रात का अँधेरा वन पर्वतों पर छा गया और पिंजरा दीखना बन्द हो गया, हम लोग रात भर उसकी तरफ कान लगाये, बहुत ही सावधान होकर जागते रहे। पिंजरे के आसपास जरा-सा भी शब्द होते ही हम चौकन्ने हो जाते थे और यह भाँपने का यत्न करते थे कि कहीं अँधेरे का लाभ उठाकर शेर फिर दुबारा तो नहीं लौट आया है।

सन्देह का कारण था। शेर शाम को लौट भले ही गया था, मगर उसे यह भी तो पता था कि वह पिंजरे के एक बाँस को तोड़ चुका है और थोड़ा ही और प्रयत्न करने पर उसमें से सहज में ही बकरे को निकाल ले जा सकता है। इसलिये, सन्देह हमारा तबतक बना ही रहा, जब तक पूर्व दिशा में उषःकाल ने जंगल को एक बार फिर देखने योग्य नहीं बना दिया। उसके बाद, दिन निकल आने पर जब साथियों ने मचान के नीचे पहुँचकर वहाँ के सन्नाटे को एक ही साथ भंग कर दिया तब तो हमें सचमुच ही निश्चय हो गया कि शेर एकबार जो बिदा हुआ, फिर दुबारा नहीं लौटा।

आज, चार वर्ष इस घटना को हो रहे हैं। मगर, आज भी जब कभी इस पर विचार करता हूँ यह विश्वास करने को जी नहीं होता कि शेर सरीखे तेजस्वी पशु को मैदान छोड़ने के लिये बाधित करने का संपूर्ण श्रेय एक चपटे फलक वाले अकेले तीर को ही दे दिया जाय। मगर, जंगल के रहस्य इतने दुर्बोध्य हैं कि शेर के चुपचाप बिदा हो जाने का कोई और ठोस कारण मैं आज भी निश्चय से नहीं बता सका हूं।

हेमंत ने कहा—तो भी, धनुष की जगह उस दिन यदि रायफल रही होती, तो शेर तो इस साँझ को ही खतम हो गया होता ?

कहा—हाँ, ऐसी ही बात है। मगर, शेर को मारने या आहत करने का तो हमारा अभिप्राय ही नहीं था। उसे पिंजरे के पास से हटा देना भर ही हमारा लक्ष्य था। तीर का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया गया था।

हेमंत ने कहा—परन्तु बकरा जब कैंप में रहता होगा, तब वहाँ भी तो शेर

का भय बना ही रहता होगा ?

कहा—केवल शेर का ही क्यों, हाथी, तेंदुआ, रीछ सभी का खतरा बना रहता है।

"और इन सब से आत्मरक्षा करने का उपाय ?"

"सबसे बड़ा उपाय है सावधान रहना; और कैंप में सबसे अधिक भरोसा इसी उपाय पर किया जाता है। जैसे, जंगल में, चारों तरफ से अनेक भयों से घिरे रहने पर भी, हरिण और नीलगाय अपने चौकन्नेपन के भरोसे पर ही अपनी रक्षा कर लेते हैं, हमारे पास भी कैंप रक्षा का यही सर्वोत्तम उपाय रहता है। कैंप जिन वृक्षों के नीचे लगाया जाता है, उन्हीं में से एक अच्छे योग्य वृक्ष को चुनकर उस पर एक लंबी चौड़ी मचान बनाई जाती है; जिसके बनानें में यह ध्यान विशेष रूप से रक्खा जाता है कि उस पर बैठे हुए व्यक्ति को कैंप की तरफ आने वाला कोई भी पशु दूर से ही दिखाई पड़ सके। दिन में तो इस मचान पर बैठने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि कैंप में दो चार व्यक्ति हर समय बने ही रहते हैं, और ऐसा शोर गुल-सा मचा रहता है कि शेर के आ निकलने की संभावना प्रायः नहीं रहती। हाँ, रात में सुरक्षा का ध्यान विशेष रूप से रखना होता है। शेर का तो तब भी इतना भय नहीं रहता, मगर इक्के-दुक्के खूनी हाथी का भय निरंतर बना रहता है। ऐसे हाथियों से इधर के जंगल भरे पड़े हैं और कैंप जीवन में असली भय इन हाथियों का ही है।

इसके लिये मचान पर बारी-बारी से पहरा बिठाया जाता है, जो हर दो घंटे बाद बदलता रहता है। मचान पर एकाध धनुष, पाँच सात तीर, टार्च, मशाल, घड़ी, बाइनोक्युलर; सभी आवश्यक सामान की व्यवस्था रहती है। चढ़ने के लिए यहां भी सीढ़ी रहती हैं, जिसे चढ़ जाने के बाद ऊपर खेंच लिया जाता है। यह सब प्रबंध तो रहता ही है, मगर इससे भी आवश्यक जो एक और प्रबंध रखा जाता है वह यह कि प्रत्येक टेंट में एक छोटी घंटी लटकी रहती है, जिसका संबंध सूत की एक पतली रस्सी द्वारा मचान के साथ बना रहता है। क्योंकि हर एक टेंट से ऐसी एक-एक रस्सी मचान पर पहुँची हुई होती है; ज़रा सा खतरा होते ही मचान वाला व्यक्ति उन सभी रस्सियों को एक साथ खेंच देता है, जिससे प्रत्येक टेंट की घंटी आप ही आप बज उठती है और समूचे कैम्प को एक साथ जगा देती है। अपने कैम्प जीवन में हमने इस उपाय को बहुत सार्थक और सफल पाया है और इसकी सहायता से हम लोग एकाधिक वार अपने कैम्प की रक्षा कर सके हैं। परन्तु······

—परन्तु क्या ?

परन्तु उपाय कितना ही अच्छा क्यों न रहा हो, जंगली पशुओं की चतुराई के आगे कभी-कभी वह भी असफल होते देखा गया है। चतुराई और कुछ विशेष

नहीं होती···वन्य पशुओं को बिना पदशब्द किए चल सकने की जो स्वाभाविक शक्ति प्रकृति ने प्रदान की है, वही एक ऐसी चतुराई है जिसका पार मनुष्य नहीं पा सकता, और यहीं पर उसे मात खानी पड़ जाती है । पिछली गरमियों में एक ऐसी ही घटना हमारे साथ घटी थी, जिसकी भयंकरता आज भी हृदय में धड़कन पैदा कर देती है।

महीना वह जून का ही था, मगर तारीख क्या थी ठीक याद नहीं आ रही। जिस घाटी में हमारा टेंट लगा था, उसमें यद्यपि पानी की तो कमी नहीं है, मगर उन गरमियों के दिनों में वहां के प्रायः सभी जलाशय सूख गए थे, और केवल एक ही पतली धारा उस घाटी में बसने वाले पशुओं की प्यास बुझाने के लिए रह गई थी। धारा तो वह काफी लम्बी है और न जाने कितनी दूर से बहती चली आ रही है, परन्तु उसमें गहरा कहने लायक जल केवल वहीं था जहां हमारा कैम्प लगा था। यह एक दस-ग्यारह गज लंबा, छः-सात गज चौड़ा गढ़ा था, जिसमें एक तरफ से धारा का पानी आकर निरंतर गिरता रहता था और दूसरी तरफ से एक पतली सी धारा उसमें से निकलती रहती थी। इसे यदि एक कुंड कहा जाय तो अधिक ठीक होगा। जंगल के दूसरे पशु तो धारा के और स्थानों पर से भी जल पी लेते थे मगर इस जंगल के एक इक्कड़ हाथी का—जिसे खूनी हाथी कहा जा सकता है—गुजारा इस कुंड के बिना नहीं हो सकता था। हज़रत ने पानी में घुसकर नहाना भी है, लोटना भी है और जब प्यास लगे पानी भी पीना है। मगर यदि उसे छूट देदी जाती तो हम बड़ी विपत्ति में फंस जाते । उस के कारण एक तो समय-कुसमय पर वहां जाना कठिन हो जाता, दूसरे पानी इतना गदला हो जाता कि वह पीने के मतलब का ही न रहता।

कुंड के इस प्रश्न को लेकर उस हाथी और हमारे बीच में एक मौन-विवाद सा छिड़ गया था और उसकी प्रकृति से परिचित होने के कारण हमें बहुत ही साव-धान होकर कैम्प जीवन बिताना पड़ रहा था।······कुंड के किनारे ही एक धाय का वृक्ष खड़ा था, जिस पर इन दिनों लाल-लाल फूल आये हुए थे। वह मानों इस कुंड देवता का कोई भक्त उपासक था, जो अहर्निश असीम भक्ति भाव से अपनी श्रद्धा के पुष्प नैवेद्य उस पर चढ़ाया करता था। कुंड बहुत प्राचीन था; और उसके तट पर खड़ा हुआ वह धाय-वृक्ष भी कम पुराना नहीं था। हमने सोचा, इस भक्त शिरोमणि के पास अपने देवता को भेंट देने के लिए फूल तो ढेर के ढेर हैं, परन्तु देवता को प्रातः सायं जगाने के लिए घंटी-घड़ियाल कोई नहीं है। इसलिए एक खाली टीन हमने उसके गले में और भी लटका दिया था, जिसमें रस्सी बांध कर रस्सी को मचान तक पहुँचा दिया गया था। उपासक की आरती का काम तो वह टीन कितना देता होगा, यह तो वह उपासक ही जाने, परन्तु उससे हाथी को डराने का काम हमारा बहुत अच्छा

निकल आता था।

मचान पर बैठने वाले प्रत्येक साथी को यह हिदायत थी कि वह अपनी दो घंटे की ड्यूटी में कम-से-कम आठ बार उस टीन की रस्सी को अवश्य खेंच लिया करे, जिससे यदि कदाचित् हाथी कुंड पर आया हुआ हो, या आ रहा हो, तो भाग जाय। कितने ही दिन तक इस टीन ने हमारा अच्छा साथ दिया, और हाथी को कुंड पर फटकने का अवसर न मिला।

परंतु जून की गरमी प्रतिदिन तेज होती जा रही थी और धारा का पानी भी कम होता जा रहा था। टीन के शब्द के डर से, जान पड़ता है, हाथी अपना निर्वाह धारा के किसी दूसरे स्थान पर कर लिया करता होगा। मगर जब वहाँ भी पानी का कमी हो गई होगी, अंत में उसे इस कुंड पर आने के लिए वाधित हो जाना पड़ा होगा। परन्तु, टीन का वह शब्द तो यहाँ अब भी वैसे ही बना हुआ था।

हाथी के लिए यह परिस्थिति शायद असह्य हो उठी होगी। बाहर के कुछ मनुष्य—कहीं से आकर—उनके कुंड पर एकाधिकार जमा कर बैठ जायं और उन्हें उस पर फटकने भी न दें, इस अन्याय को जंगल के अन्य पशुओं ने भले ही सह लिया हो, मगर जान पड़ता है हाथी का हृदय इससे एकदम विद्रोही बन उठा था।

रात के तब शायद तीन बजे होंगे। दिन निकलने में अभी आध पौन घंटे की देर थी। मगर जंगल में वैसा ही भयपूर्ण सन्नाटा छाया था; कोई भी शब्द न सुन पड़ रहा था। केवल, निरंतर बहती हुई उस क्षीण धारा का एकरस शब्द वन घाटियों में व्याप्त हो रहा था। मेरी पहरे की बारी थी और मैं उस निस्तब्ध शून्यता में मचान पर अकेला बैठा जाग रहा था। नीचे, साथी सब टेंटों में सो रहे थे। घंटा भर पहले, श्याम अपनी बारी समाप्त कर टेंट में सोने चला गया था···संभव है वह अब भी जाग रहा हो·····। बीच-बीच में, हर पंद्रह मिनट बाद मैं उस टीन की रस्सी को खेंच देता था, जिससे कुंड के पास धाय के वृक्ष पर लटका हुआ टीन अचानक ही बज उठता था। उस सन्नाटे में वह आवाज बहुत ही विचित्र और भयंकर जान पड़ती थी। ऐसा लगता था, जैसे कुंड के किनारे बैठा हुआ कोई दैत्य रह-रह कर किसी की मृत्यु-सूचना देने के लिए मौत का घंटा बजा देता है।

तो भी, मचान पर मैं खूब निश्चित ही बैठा था, और बीच में कभी-कभी खड़े होकर चारों तरफ के जंगल को भी भांप लेता था—कहीं से कोई शब्द तो नहीं आ रहा? किसी की चाप तो नहीं सुन पड़ रही? ऐसे में, शेर का पता लगा लेना फिर भी कुछ सुगम है; क्योंकि वह कितने ही दबेपाँव क्यों न आ रहा हो, इस अंधेरे में अंगारे की तरह जलते हुए उसके नेत्र तो भी उसका पता दे सकते थे। मगर, हाथी? उसका पता चला लेना असंभव ही है। एक तो, उसका काला रंग—जो काले

अंधेरे में मिलकर पता नहीं चलने देता, कौन किधर जा रहा है। दूसरे, उसकी चाल इतनी सधी हुई होती है कि यदि वह चाहे तो इस निश्शब्द रात्रि में भी इतने चुपचाप चल सकता है कि पदशब्द नहीं सुना जा सकता।

अपने नियम के अनुसार, पंद्रह मिनट बाद, मैंने इस बार रस्सी को जब फिर खेंचा तो उधर टीन नहीं बजा और रस्सी के खेंचने से ऐसा भी लगा जैसे वह कहीं बीच में से टूट गई है।......चलो, टूट जाने दो, चार बजने में अब पौन घंटा ही तो शेष है......दिन में देख लेंगे। मगर, वहां दिन में देख लेने की प्रतीक्षा कौन करने दे रहा था। अचानक ही, एक लिचलिची सी, पतली सी, ठंडी सी, चीज ने मेरी पीठ से छूकर—मैं तब कमीज़ उतार कर ही बैठा हुआ था—मुझे चौंका दिया ! और मैं हड़बड़ाकर एक साथ कूदकर खड़ा हो गया। उस समय, मामले को कुछ भी न समझ सकने पर भी—केवल आंतरिक प्रेरणा के कारण ही—मैं जो तत्काल ही उचककर मचान के ऊपर वाली डाल पर जा चढ़ा, यही एक ऐसा कार्य था, जिसने उस दिन मेरे प्राणों को बचा दिया। नहीं तो, उसके एक ही क्षण बाद एक जोरदार झटके ने जिस तरह समूची डाल को झकझोर डाला था, और उसके बाद ही समूची मचान लड़खड़ाती हुई धरती पर जा गिरी थी, तब मुझे भी उसके साथ ही धरती पर गिर पड़ने से कौन बचा सकता था ? लेकिन तो भी, मचान के गिर पड़ने के कई क्षण बाद तक भी मुझे ऐसा ही लगता रहा जैसे सारा ही वृक्ष टूट कर गिरा जा रहा है और उसके साथ ही मैं भी नीचे गिरा जा रहा हूँ। परन्तु बाद में, जब मेरे गुरुतर उत्तरदायित्व ने मुझे यत्किंचित् संभल जाने का अवसर दिया, मुझे अचानक अपने कंधे पर लटकते हुए टार्च की याद आ गई......और, बटन दवाते ही वह जब जल उठी, तब उसके प्रकाश में मैंने जो देखा, वह स्वप्न में देखे हुए भयंकर दृश्यों से भी कहीं अधिक भयंकर था।..... मचान के नीचेवाली डाल को सूंड में लपेटे, काले पहाड़ सा जो दैत्य वृक्ष के अंधेरे में खड़ा हुआ अपनी छोटी-छोटी आँखों से मेरी तरफ ताक रहा था, उस खूनी हाथी के अतिरिक्त वह और कोई न था।

मगर खड़खड़ की आवाज से तब तक नीचे वाले जाग चुके थे। मशालें जल गईं थीं, जिससे दूर-दूर तक का जंगल प्रकाशित हो चुका था। इस भाग दौड़ और हो हल्ले में, हाथी तब चुपचाप खिसक कर किधर भाग गया, पता नहीं चला।

साथियों की नींद, मचान गिरने के शब्द से खुली थी और मशालें उन्होंने किसी बड़ी विपत्ति की आशंका से ही जलाई थीं। असली मामले का किसी को भी पता न था। इधर, हाथी घटना स्थल से इतनी सफाई से खिसक गया था कि उसके बारे में उनमें से कोई भी कुछ भी न जान सका था। इसीलिये, सभी अचंभे में थे—आखिर, मचान यह गिरी कैसे, और उस पर बैठे हुए मेरा क्या हुआ ?

यह सब मुझे तब पता चला, जब श्याम ने घबराये से स्वर में पूछा—निधि, यह सब क्या मामला है ? मचान यह कैसे टूट गई; और तुम कहाँ हो ?

मैंने पेड़ पर से ही उत्तर दिया—मैं सकुशल हूँ । मगर, तुम लोग ज़रा सावधान रहना; हाथी कैम्प में आ पहुँचा है ।

हाथी !!

हाँ । उसी ने यह मचान तोड़ी है । अभी एक ही मिनट पहले तक वह इसी वृक्ष के नीचे खड़ा था । जान पड़ता है, अभी हाल में ही कहीं जा छुपा है······मैं नीचे ही आ रहा हूँ ।

वृक्ष से उतर कर मैंने जब बहुत संक्षेप में ही—क्योंकि हाथी का भय अभी तक वैसा ही बना था—साथियों को सारी घटना सुनाई, सभी गंभीर हो उठे । उसके बाद, मशालों के प्रकाश में आस-पास के जंगल में हाथी की काफी देखभाल भी की गई, मगर वह कहीं भी नहीं मिला ।

लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं था कि वह असल में ही भाग गया है । हाथी का वैर प्रसिद्ध है । इसीलिए, कैम्प के आस-पास के जंगल से उसे खदेड़ देना हमारे लिए आवश्यक हो उठा ।

बड़े सवेरे ही कैम्प की देखभाल के लिए आनन्द और तरुण को छोड़ हम लोग हाथी की खोज में निकल पड़े । स्नान करते समय कुंड के आस-पास पड़े हुए ताजे पत्ते और हाथी के पदचिन्ह तो हमने सवेरे ही देखभाल लिए थे, जिनसे यह निश्चय किया जा चुका था कि हाथी लगभग तीन बजे इधर आया था । रस्सी टूट जाने से टीन जो कुंड में गिर पड़ा था, उसे भी एक बार फिर धाय के वृक्ष पर लटका कर हमने हाथी का पीछा किया ।

कुंड से पानी पीकर वह सीधा मचान की तरफ चला आया था, यह तो उसके पदचिन्हों से साफ पता चल रहा था । मगर मचान के पास से हटकर वह किधर गया है, यह कुछ स्पष्ट पता न चल रहा था । धरती यहाँ की बहुत कड़ी थी और घास से भी भरी थी, इसलिए कहीं भी उसके पदचिन्ह पता न चल रहे थे । तो भी, मसली हुई घास और छितराई हुई झाड़ियों से उसके जाने के मार्ग का कुछ कुछ अनुमान लगाया जा सकता था । इसी तरह के अनुमान से फर्लांग भर चलने के बाद—आगे की धरती कच्ची और रेतीली हो उठी और उस पर हाथी के पदचिन्ह स्पष्ट दीख पड़ने लगे । जंगल भी यहाँ घना नहीं था । आस-पास छोटे-छोटे ऐसे मैदान थे, जो बिलकुल खाली पड़े थे; एक भी झाड़ी या पौधा उन पर न था । मगर इसके बाद जंगल फिर घना हो उठा और उसके सन्नाटे में हाथी का भय भी बढ़ने लगा ।

वह कहीं दूर नहीं गया है, यह हम जानते थे । कुंड के प्रश्न को लेकर उसके

मन में जो क्रोध हम पर हो आया है, वह जब तक उसका बदला न ले लेगा, पीछा न छोड़ेगा, यह भी हमें पता था। इसलिए यही उचित समझा गया कि पहले किसी वृक्ष पर चढ़कर चारों तरफ के जंगल को देखभाल लिया जाय, तभी आगे बढ़ा जाय।

मगर वृक्ष पर चढ़कर देखने से कुछ खास काम नहीं बना। चारों तरफ वृक्ष ही वृक्ष खड़े थे। झाड़ियों और बांसों के बड़े-बड़े झुरमुटों से जंगल गुंथा पड़ा था और उनके नीचे ऐसा अंधेरा हो रहा था कि वहां यदि सचमुच ही कोई खड़ा भी होता तो भी उसके देखने का कोई उपाय नहीं था। हर एक झुरमुट के अंधेरे में हाथी का ही भ्रम हो रहा था। कहीं पर किसी पत्ते के जरा भी हिलने या हलका सा भी शब्द होने पर यही लगता था जैसे हाथी वहीं पर खड़ा है।

शेखर ने पुकार लगाई—अरे, तुम तो वहीं के हो गए, निधि, यदि कुछ पता न चलता हो तो नीचे उतर आओ। बेचारे वृक्ष का तो पिंड छूटे।

कहा—भई, वृक्षों और झाड़ियों के कारण यहाँ तो कुछ दीख ही नहीं रहा। कहो तो नीचे उतर आऊँ ?

हाँ, नीचे उतर आओ।—जब नहीं दीख पड़ रहा तो साफ है कि वह यहाँ नहीं है।

बस, इतना ही अनुभव है जंगल का ?······जब नहीं दीख पड़ रहा तो साफ है कि वह यहाँ नहीं है······मैं शर्त बदता हूँ, वह अवश्य इसी जंगल में ही कहीं छिप कर खड़ा है······कहीं दूर नहीं गया है।—श्याम ने शेखर का प्रतिवाद करते हुए कहा।

अंत में श्याम का ही कहना ठीक निकला। अभी उसे शर्त लगाये तीन-चार मिनट भी न हुए होंगे कि कहीं पास ही किसी के चलने का शब्द सुनाई पड़ा और मैंने जैसे ही उधर आँख उठाकर देखा, बाँस के एक झुरमुट में से निकल हाथी बहुत ही सफाई से सामने पहाड़ी की तरफ भागा जा रहा था।

वह रहा हाथी······पहाड़ की तरफ जा रहा है······वह देखो··· कहते हुए मैं तुरन्त वृक्ष से नीचे उतर आया।

पहाड़ दो तीन फर्लांग से अधिक दूर नहीं था और चढ़ाई भी उसकी काफी विकट जान पड़ रही थी। मगर हाथी निश्चिन्त भाव से उधर ही भागा जा रहा था। हमने भी उधर ही उसका पीछा किया। पहाड़ पर चढ़ता हुआ वह जिस मार्ग से जा रहा था, हम लोग भी उसके पीछे ही पीछे, उसी मार्ग से चले जा रहे थे। जिन लोगों का ख्याल है कि हाथी पहाड़ पर नहीं चढ़ सकता, उन्हें यहाँ अपना भ्रम मिटा लेना चाहिये। चढ़ाई चाहे कैसी ही विकट क्यों न हो, और पहाड़ी पगडंडियाँ चाहे कैसी ही संकीर्ण क्यों न हों, वह सभी परिस्थितियों में अनायास ही उस पर चढ़ सकता है; और वह भी इतनी फुर्ती और सफाई के साथ कि उसका पीछा कर सकना

सुगम नहीं होता।'' 'इतने भारी शरीर में इतनी फुर्ती कहाँ छिपी रहती है, समझ नहीं आता।

जिस मार्ग से वह जा रहा था, वह असल में मार्ग न होकर एक संकरी-सी पगडंडी थी, जो हरिणों और नीलगायों के चलने-फिरने से बन गई थी। उस पगडंडी के दाईं ओर एक बहुत गहरी खाई थी, जो पगडंडी के साथ ही साथ चली गई थी। पगडंडी और खाई के बीच में बाँसों के कितने ही झुरमुट थोड़ी २ दूर पर खड़े थे, जिनके नीचे दिन के समय भी अँधेरा छाया था। हाथी जब उन झुरमुटों के पास से गुजरता था, थोड़ी देर के लिये वह उनके अँधेरे में इस प्रकार छिप जाता था जैसे उसके पहाड़ से शरीर को झुरमुटों का वह अँधेरा निगल गया हो। मगर, वह जब उसको पार कर लेता था, तो फिर उसी प्रकार पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़ता दीखने लगता था।

इस प्रकार लगातार आधा मील तक चलने के बाद, खाई लगभग ४५ अंश का कोण बनाकर पूर्व की तरफ मुड़ गई थी, और उसके साथ ही साथ पगडंडी भी घूमकर पहाड़ की ओट में चली गई थी। इस घुमाव पर वृक्षों और बांसों के घने झुरमुट इस प्रकार छाये थे कि उनके कारण लगभग पच्चीस-तीस गज के घेरे में एक प्रकार का अँधेरा-सा फैला हुआ था। हाथी जब उन झुरमुटों में पहुँचा, तो वह एक ही साथ उस अँधेरे में गायब हो गया। आगे वह किधर गया, पता नहीं चल सका।

सबसे आगे श्याम था, उसके पीछे मैं, और मेरे पीछे शेखर, बिहारी, विपिन और कुमार एक पंक्ति सी बनाये लगातार भागते चले आ रहे थे। मुझ में और श्याम में आठ दस गज से अधिक अन्तर न रहा होगा। वह खूब तेजी से ही भागा जा रहा था और उसके पीछे ही पीछे मैं भी उसी तेजी से बढ़ा चला जा रहा था।

श्याम जब उस मोड़ के पास पहुँचा, मैंने चिल्लाकर उसे ठहर जाने को कहा। मगर, या तो उसने सुना नहीं, या सुनकर भी परवाह नहीं की; और चाल को जरा भी धीमी किये बिना वह वैसे ही आगे बढ़ गया। उस काले झुरमुट के पास वह अभी पहुँचा ही था कि अचानक उसके अँधेरे में से निकल एक लम्बी सूँड काले नाग की तरह उस पर लपक उठी।

मेरा ख्याल है श्याम का अब भी उधर ध्यान नहीं गया था, नहीं तो उसे देखकर वह अवश्य रुक जाता। मगर हाथी जब झुरमुट के उस अँधेरे में गायब हुआ था, मेरा माथा तभी से ठनक गया था और किसी भी ओर तरफ न देखकर मैं लगातार उसी अँधेरे की तरफ आँख गड़ाये चला जा रहा था। इसलिये सूँड को सबसे [illegible] देखते ही श्याम को सावधान करने के लिये मैं जोर से

चिल्ला उठा—श्याम, हाथी···

इस बार शायद उसे मेरी बात सुन गई थी और वह सावधान हो गया था। मगर तब तक घटना गम्भीर हो उठी थी···सूँड को देखकर वह जैसे ही ठिठक कर पीछे लौटने लगा, अंधेरे में से निकल—चिंघाड़ लगा—हाथी उसके पीछे दौड़ ही तो पड़ा।···

पहाड़ का यह भाग, जहाँ हाथी ने श्याम का पीछा किया था, कितनी ही दृष्टियों से श्याम के विपरीत था। एक तो ढलवान, दूसरे, खाई के किनारे खड़े हुए बाँसों के सूखे पत्तों के कारण सारा ही मार्ग खूब फिसलना बना हुआ था। जंगल का प्राणी होने से हाथी को तो ऐसी फिसलन पर भाग सकने का का खूब अभ्यास रहा होगा, मगर श्याम को वैसा अभ्यास नहीं था। तिस पर, उसने कैन्वस के शू पहने हुए थे, जो अपनी रबड़ की तली के कारण ऐसे ढलवान स्थानों पर और भी फिसलने बन जाते हैं। इसलि॰, भागने का अच्छा अभ्यासी होने पर भी, श्याम का हाथी के हाथ में पड़ जाना असंभव नहीं रहा था। एकदम निहत्था होने से, तब भागने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा कोई उपाय भी नहीं था। समझदार हाथी भी शायद उसकी इन प्रतिकूल परिस्थितियों को समझ रहा था और खूब विश्वास के साथ ही उसका पीछा कर रहा था।

ऐसे में हमें क्या करना चाहिये, स्वयं हम लोगों को भी कुछ समझ न आ रहा था। स्थिति इतनी भयंकर हो उठी थी कि कुछ क्षणों तक तो किंकर्तव्यविमूढ बने रहने के अतिरिक्त हमें कुछ भी न सूझा।

तभी, अपनी कमर में लटके हुए बिगुल पर मेरी दृष्टि पड़ गई और सहसा आशा की एक किरण हृदय में चमक उठी। परिणाम की कुछ भी चिन्ता न कर मैंने उसे एक साथ ओठों पर लगा लिया और इतने जोर से फूंक दिया कि पहाड़ की वह घाटी दूर-दूर तक गूंज उठी।

बिगुल बजाने के अवसर मुझे कई बार आये हैं और उनकी गूंज भी अनेक बार सुनी है। परन्तु उस दिन की उसकी गूँज और सभी दिनों की अपेक्षा ऊँची और भयजनक लगी। सम्भव है इसका कारण यह रहा हो कि अत्यन्त आवश्यकता के समय अत्यन्त वेग के साथ ही मैंने उसे फूंका था, और इसीलिये उसकी वैसी ही अत्यन्त भारी आवाज भी निकली थी; या शब्द वह साधारण ही रहा हो मगर उस विशेष परिस्थिति में वह वैसा भयजनक लगा हो।—कारण कुछ भी रहा हो, मगर उसकी उस गूँज का प्रभाव इतना तत्काल और अनुकूल बैठा कि हम सभी को आश्चर्य हुए बिना न रहा। कहाँ तो हाथी वेग के साथ श्याम के पीछे भागा चला आ रहा था, और कहाँ वह इस आवाज से इस तरह चौंक उठा कि एक ही साथ

जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। उसकी वह अकस्मात् एक साथ खड़े होने की मूर्ति आज भी नहीं भूलती। बायाँ पाँव धरती से फुट भर ऊँचा उठाये, सूंड आगे फैलाये; और पहाड़ी के ढलवान पर आगे की ओर झुके हुए अपने भारी शरीर को जैसा का तैसा संभाले वह ऐसे खड़ा था, जैसे गौतम के किसी दूसरे शाप ने एक ही क्षण में उसे पत्थर बना डाला हो। परन्तु उसकी वह मुद्रा दो चार क्षण ही रही और उसके बाद बहुत ही फुर्ती से पीछे की तरफ मुड़कर वह फिर पहाड़ की तरफ भाग निकला।

हाथी को बिगुल की आवाज से डरते देख हमारा साहस बढ़ गया और हमने जबतक उसे पहाड़ के पीछे की उतराई तक नहीं खदेड़ दिया, पीछा नहीं छोड़ा।

हेमन्त ने कहा—बहुत ही कुशल हुई, जो श्याम उसके हाथ में पड़ने से बच गया; और आप लोगों ने भी एक प्रकार से यह अच्छा ही किया जो उसे पहाड़ के पीछे तक खदेड़ आये। इससे कम-से-कम कुछ दिन तक तो आप लोगों का उससे पीछा छूटा ही रहा होगा।

"यह हाथी के स्वभाव के विरुद्ध बात है। वह एक बार जिसका पीछा पकड़ लेता है, फिर कई वर्षों तक भी उसका पीछा नहीं छोड़ा करता।"

कई वर्षों तक !!

हाँ, ऐसा ही उसका स्वभाव है। अपने अनुपकारी को वह कभी नहीं भूलता और समय पाकर अवश्य ही बदला चुकाता है।

तब तो शेर बेचारा उसकी अपेक्षा कहीं भलामानस है। और कुछ नहीं तो, कम-से-कम बदला लेने की ऐसी भावना तो उसमें नहीं होती।

होती तो उसमें भी क्यों नहीं, मगर हाँ हाथी से कम। आहत हो जाने के बाद वह भी अपने शत्रु से—या उस समय जो भी कोई उसके आगे पड़ जाय, उससे—बदला लेने में कसर नहीं छोड़ता। परन्तु यह सच है कि उसकी वह वैर भावना इतनी चिरस्थायी नहीं होती। चोट या व्रणों के अच्छे हो जाने पर मिट जाती है। मगर, यह हाथी ? इसकी तो प्रकृति ही निराली है। एक वर्ष तो क्या, कितने वर्षों तक भी वह शत्रु को नहीं भूलता और कभी-कभी तो छाया की तरह उसका इस तरह पीछा किया करता है कि अवसर मिलते ही निष्ठुरता के साथ बदला चुका लेता है।

× × ×

अगले दिन सन्ध्यावंदन से निवृत्त होकर अभी कुछ पढ़ने बैठा ही था कि हेमन्त ने कमरे में आकर कहा—भाई साहब, आपने कल जो बताया था कि हाथी वर्षों तक बदला लेना नहीं भूलता, इससे मेरा मन हाथी की तरफ से बहुत कड़वा हो उठा है···उसके लिये मन में एक तरह की घृणा पैदा हो गई है।

हंसकर, पुस्तक को बन्द कर मेज पर रख दिया और कहा—मगर तुम्हारी

इस घृणा से हाथी का क्या बनता-बिगड़ता है ? यह जान कर कि कुछ लोग अभी हाल में ही उससे घृणा करने लगे हैं, हम मनुष्यों की तरह वह इस लोकापवाद से घबराकर अपने स्वभाव को बदल थोड़े ही देगा। यह तो उसका प्रकृति प्रदत्त स्वभाव है, बदला नहीं जा सकता।

"तब तो उस कैम्प के बाद आपने जो दूसरे कैम्प उधर लगाये होंगे, उसने उन अवसरों पर भी आप लोगों को काफी परेशान किया होगा ?

हेमन्त की इस सारी भूमिका का प्रकृत अर्थ अब जाकर खुला। हाथी के विषय में उसकी जो उत्सुकता अभी और भी बनी हुई है उसी के लिये उसने यह प्रसंग फिर उठाया है।—कहा—हाँ; जेठ का वह कैम्प तो हमने उस हाथी वाली घटना के पन्द्रह दिन बाद ही उठा दिया था और निश्चय किया था कि अगला कैम्प अगले वर्ष के श्रावण मास में फिर लगाया जाय।

हेमन्त कुर्सी खेंचकर मेरे और भी पास आ बैठा और उत्सुकता के साथ मेरी ओर देखने लगा।

मैंने कहा, हमारा वह सावन का कैम्प भी सिद्धाश्रम की घाटी में ही लगा था। मगर इन दिनों वहाँ के छोटे-बड़े सभी नाले इस तरह भर कर बह उठे थे कि जून में हमने जिस जगह कैम्प लगाया था, इस समय वहाँ भी पानी बह रहा था। इसलिये इस बार हमारा कैम्प बीस-बाईस फीट ऊंचे एक पठार पर लगा था। नीचे ही सिद्धाश्रम का वह नाला भरपूर वेग से बह रहा था।

आकाश में बादल छाये रहते। दिन खूब ठंडे होते और जंगल की हवायें बहुत ही प्रिय लगतीं। हम लोग कभी पहाड़ों पर चढ़कर दूर तक फैली हुई घाटियों को देखते; कभी नदी में तैरते; कभी हरिणों के झुंडों का पीछा करते और कभी कैम्प में बैठकर मोरों की कूक सुना करते।

पन्द्रह-सोलह दिन तो इस प्रकार बीते, मगर बाद में, एक दिन एक ही साथ काले मेघ उमड़ घुमड़ कर घिर आये और ऐसी झड़ी लगा दी कि लगातार सात दिन तक वर्षा होती रही। कोई भी टैंट से बाहर न निकल सका। कर्फ्यू में जैसे दो घंटे की छूट दी जाती है, वर्षा भी नित्य सुबह-शाम एकाध घंटे के लिये थम जाती और हमें नित्य कर्म का अवसर देकर फिर बरसने लग जाती।

ये सात दिन हमारे लिये काफी 'टीडियस' सिद्ध हुए। इन दिनों कैम्प में बैठकर गाने-बजाने, इधर-उधर की गप्पें हांकने, पुस्तकें पढ़ने या कभी-कभी आलसियों की तरह सोकर समय काटने के अतिरिक्त दूसरा प्रोग्राम न था। ऐसा लगता था जैसे कैम्प में बन्द पड़े हुए हमें एक युग बीत गया हो। इच्छा होती, कब झड़ी बन्द हो और कब कहीं घूमने निकलें।

अन्त में वर्षा बन्द हुई। बादल हटे, सूरज निकला; और हमें एक बार फिर बाहर घूमने का अवसर मिला।

कैम्प से लगभग दो मील दूर, अंजन बन में जामुन का एक वृक्ष है, जिसकी जामुनें अपनी मिठास के लिये प्रसिद्ध हैं। वहीं जाने का प्रोग्राम बनाया गया और अगले दिन बड़े सबेरे ही हम उस वृक्ष की तरफ चल दिये।

तुम शायद सोचते होगे, हमारे ये बीस-बाईस दिन काफी कुशल से ही बीते; कम-से कम उस हाथी से इस बार हमारा पाला नहीं पड़ा। ऐसी बात नहीं है। पूरा एक वर्ष बीत जाने के बाद भी वह हमें नहीं भूला था और इस बार भी कम-से-कम दो बार उससे हमारा वास्ता पड़ चुका था। एक बार तो तब—जब तरुण और विपिन कैम्प की पाकशाला के लिये घी का प्रबन्ध करने गुज्जरों के एक डेरे की तरफ गये थे। हाथी ने तब उन्हें एक सूनी घाटी में इस तरह घेर लिया था कि बड़ी मुश्किल से ही वे अपने को बचा सके थे। दूसरी बार तब—जब हमने कैम्प से मील भर ऊपर जाकर सलीपरों का एक भारी बेड़ा नदी विहार के लिये बनाया था और हाथी ने जंगल में से चुपचाप निकलकर उसे एक ही साथ तोड़ फोड़ डाला था। उससे बचने के लिये हमें तब नदी में कूदकर ही प्राण बचाने पड़े थे। दोनों ही घटनायें काफी मनोरंजक और लोमहर्षक हैं, परन्तु उन्हें विस्तार के साथ किसी दूसरे अवसर पर सुना सकूंगा।

इस समय तो इनका प्रसंग केवल यह बताने के लिये किया है कि तुम्हें पता चल जाय कि हाथी ने हमारी इस बार की यात्रा को भी निरापद नहीं छोड़ा था। बल्कि, जब से हमारा कैम्प इस घाटी में लगा था, वह छाया की तरह हमारे पीछे लग रहा था। हमारे कैम्प तक वह इसलिए नहीं आ सकता था क्योंकि जिस पठार पर वह लगा था उसके चारों तरफ बहुत बीहड़ और बड़ी-बड़ी फिसलनी चट्टानें बिछी थीं जिन पर चढ़ सकना उसके लिए संभव नहीं था।

इसलिए कैम्प में रहते हुए हमें उसकी चिन्ता नहीं रहती थी। सावधान हमें तभी होना पड़ता था जब हमें कैम्प से कहीं बाहर घूमने-फिरने के लिए निकलना होता था।

इस बार भी, जामुन के पेड़ तक पहुँचने के लिए हमें काफी सतर्क रहना पड़ा। तो भी हमें यह सन्देह लगातार बना ही रहा कि कोई एक काली छाया जंगल-ही-जंगल में चलती हुई हमारा पीछा कर रही है। वर्षा में जंगल वैसे भी घना हो जाता है। वृक्ष हरे पत्तों से भर उठते हैं, नई-नई झाड़ियां और पौधे जहाँ-तहाँ उग जाते हैं और बाँसों के झुरमुट भी, जो गरमियों में कुछ नंगे से पड़े रहते हैं, उन दिनों पत्तों से लद जाते हैं। इसलिए जंगल इतना काला और सघन हो उठता है कि उसके बीच में छिप-

कर बैठे हुए या चलते हुए छोटे-बड़े किसी भी पशु को नहीं देखा जा सकता। इसलिए अपना पीछा करती हुई उस छाया के देख सकने का हमारे पास कोई भी उपाय न था।—तिसपर, यह हमारा संदेह ही तो था। संभव है, कोई भी हमारा पीछा न कर रहा हो; हमारा केवल भ्रम हो।



तो भी, बीच में पड़ने वाले छोटे से पहाड़ी नाले को पार कर हम जब उस वृक्ष के नीचे जा पहुँचे; हमने सोच-विचार कर यही स्थिर किया कि उस पर चढ़ने से पहले आग की एक धूनी उसके नीचे चैतन्य कर ली जाय, ताकि यदि कदाचित् हाथी इधर आ ही निकले तो इसके कारण हम पर एक ही साथ आक्रमण न कर सके।

सूखा ईंधन इकट्ठा करने में कुछ देर तो अवश्य लगी, क्योंकि जंगल गीला हो रहा था, मगर जब भारी-भारी लकड़ियों का ढेर लगाकर उसमें आग देकर —

वृक्ष पर चढ़ने लगे, हमारा मन पहले से कहीं अधिक निश्चिन्त हो चुका था।

परन्तु आठ व्यक्तियों का एक साथ वृक्ष पर चढ़ सकना संभव नहीं था। अधिक से अधिक दो ही आदमी एक बार में चढ़ सकते थे। तिस पर, इन वर्षा के दिनों में, उसका भारी भरकम तना इतना गीला हो रहा था कि चढ़ने में पाँव फिसलते थे; साथ ही, तने की ऊँचाई भी कम नहीं थी। दस-ग्यारह फीट चढ़ जाने के बाद ही वृक्ष की शाखाओं तक पहुंचना हो सकता था। इसलिए बारी-बारी से—आराम-आराम के साथ ही—चढ़ना हो रहा था।

तभी—बाईं तरफ के जंगल में किसी के पदशब्द सुनाई पड़े; जैसे कोई धीरे-धीरे हमारी तरफ चला आ रहा हो। शब्द क्रमशः पास आ रहा था और झाड़ियों में भी हलचल बढ़ती जा रही थी। ऐसे में, कोई दूसरा उपाय न देख हम लोग उसी धूनी की ओट में – जो इस समय खूब लपटें दे रही थी—जा खड़े हुए और आगन्तुक की प्रतीक्षा करने लगे।

धूनी हमारे बहुत ही अनुकूल थी। वह पेड़ के तने से चौदह-पंद्रह फीट से अधिक दूर नहीं थी। उसके दायें-बायें और पीछे लगभग पच्चीस-तीस फीट ऊँची पहाड़ी चट्टानें खड़ी थीं और इनके बीच में पंद्रह-सोलह फीट चौड़ी जो जगह खाली पड़ी थी, हम इस समय उसी में खड़े हो गए थे। तीन तरफ से घिरे होने के कारण, यह जगह खूब सुरक्षित थी; और हमारे सामने धूनी के रहने के कारण हम पर सीधा आक्रमण हो सकना कठिन था।

धूनी की ओट वही छोड़ता, जिसकी वृक्ष पर चढ़ने की बारी होती। बिहारी, श्याम और तरुण चढ़ चुके थे। आनन्द चढ़ रहा था; और विपिन, शेखर, कुमार और मैं अभी नीचे ही थे कि जंगल में से चुपचाप निकलकर हाथी हमारे सामने आ खड़ा हुआ।

विपिन ने सलाह दी कि बिगुल बजाकर इसे भगा दिया जाय। मगर उसकी इस बात को हम तीनों में से किसी ने भी पसन्द नहीं किया। एक तो, अभी यही नहीं पता कि बिगुल बजाने से वह इस बार भी भागेगा या नहीं; दूसरे उसके चले जाने के बाद एक नीरस-सा वातावरण छा जाने के अतिरिक्त यहाँ देखने के लायक रह ही क्या जायगा? और हमारे कैम्प जीवन की सार्थकता भी फिर क्या रह जायगी? हम संकट में फँस गये हैं, यह तो सच है; मगर इस धूनी की ओट के कारण हम अभी काफी सुरक्षित भी तो हैं। तब ऐसे अवसर से लाभ क्यों न उठाया जाय? उसके सामने बने रहने पर, उसकी तरह-तरह की चेष्टायें, आक्रमण करने के उसके तरह-तरह के उद्योग भी तो देखने को मिलेंगे।—कुमार के कन्धे पर फोटो कैमरा लटक रहा था। उस से भी कहा गया कि यदि हो सके तो वह भी हाथी की किसी विशेष

'पोज़' का 'शूटिंग' करने का यत्न करे।

मगर, ये सब कल्पनायें तभी तक रहीं, जब तक हाथी की तरफ नहीं देख लिया। उसकी तरफ एक बार देख लेने के बाद निश्चिन्तता की ये सब बातें और स्वप्नलोक के ये सब रंगीन चित्र अगले ही क्षण मस्तिष्क से काफ़ूर हो गए। तब कहाँ गई वह फोटो और कहाँ वह आनन्द, कुछ भी याद न रहा। मृत्यु की एक गंभीर बिभीषिका हृदय के स्पंदन को उत्तेजित करने लगी।......हम यहाँ दिल्ली के किसी दोमंजिले मकान की छत पर खड़े होकर कोई तमाशा थोड़े ही देख रहे थे, और इस समय वह जो हमारे सामने खड़ा हुआ हमें घूर रहा था, वह भी किसी जागीरदार का कोई पालतू हाथी थोड़े ही था।—था, वह प्रतिहिंसा की एक साकार मूर्ति...... बदले की एक तीव्र भावना भट्टी की तरह जिसके हृदय में धधक रही थी। इस बार उसके हाथ से बचना हो सकेगा कि नहीं, संदेह था।

इधर मैं जब इस तरह की उधेड़ बुन में लगा था, वह हमारे चारों तरफ घूम फिर कर बहुत ही बचैनी के साथ हम पर झपटने का सुयोग ढूँढ रहा था। मगर, काफ़ी ढूँढभाल कर भी जब वैसा कोई अवसर उसके हाथ नहीं लगा, वह पीठ मोड़ कर चुपचाप एक तरफ निकल गया।

वह किधर जा रहा है, हमने कुछ कुछ अनुमान कर लिया था। मगर हम जानते थे, उसका वह मतलब सहज में ही पूर्ण होने वाला नहीं है। इसके लिये उसे कम से कम दस-बारह चक्कर लगाने पड़ेंगे।—इधर हमने भी तुरन्त योजना बना ली। निश्चय किया गया कि हाथी जैसे ही पहाड़ी नाले की तरफ झुके हम में से एक साथी लपक कर वृक्ष पर चढ़ जाय। एक बार के चक्कर में एक के ही चढ़ने की योजना ठीक समझी गई। दो का एक साथ वृक्ष पर चढ़ना था भी कठिन और इस जल्दबाजी से किसी अतर्कित विपत्ति में पड़ जाने की भी संभावना थी। इससे सुरक्षित मार्ग का पकड़ना ही उचित समझा गया।

सबसे पहली बारी कुमार की थी। हाथी ने जैसे ही नाले की तरफ पीठ मोड़ी वह वृक्ष की तरफ लपका और देखते ही देखते ऊपर जा पहुँचा। तभी हाथी लौटता हुआ दिखाई दिया। सीधे धूनी के पास पहुँच उसने नाले के गबले जल की धार धूनी पर फेंकी और उसके दायें भाग का कुछ हिस्सा बुझाकर वह चुपचाप फिर नाले की तरफ लौट गया।

अब शेखर की बारी थी। वह पहले से ही तैयार था। हाथी के पीठ मोड़ते ही वह भी लम्बे डग भरता हुआ वृक्ष की तरफ झपटा और जल्दी जल्दी हाथ मारता शाखाओं में जा पहुँचा।

हाथी दूसरी बार फिर लौटा और पहले की तरह धूनी पर पानी फेंक वह

फिर नाले की तरफ लौट गया। उसके जाते ही विपिन आगे बढ़ा और वह भी लपक कर वृक्ष पर जा बैठा।

अब केवल मैं ही शेष रह गया। मगर, हाथी जब तीसरी बार लौटा, मुझे अकेले खड़े देख उसका माथा ठनक गया। उसने धूनी के पास कुछ देर ठहर कर एक बार बहुत ही ध्यान से मेरी तरफ देखा जैसे, वह मुझ से ही पूछ रहा हो—तुम यहाँ अकेले कैसे ? बाकी सब कहाँ गये ? उसे शायद बहुत आशा थी कि चार जनों के इस छोटे से दल में से कम से कम दो तीन पर तो वह अवश्य ही अपना हाथ साफ कर सकेगा। लेकिन जब चार में से तीन मूर्तियाँ उसके सामने से अचानक ही गायब हो गईं और केवल एक ही बच गई—उसका हृदय उस एक के लिए इस प्रकार व्याकुल हो उठा जैसे बुढ़ापे में सारी तृष्णायें एक ही इन्द्रिय पर केन्द्रित हो जाती हैं। उसकी सारी अभिलाषा, सारी प्रतिहिंसा, सारा क्रोध, एक मुझ पर ही केन्द्रित हो उठा। वह अब किसी भी तरह मुझे अपने हाथ से जाने देना न चाहता था।

चार में से तीन के गायब हो जाने की हमारी युक्ति को वह समझ सका कि नहीं, यह तो पता नहीं, परन्तु उसमें अब पहले से अधिक सतर्कता और अधिक चुस्ती आ गई थी, यह उसकी हर एक चेष्टा से स्पष्ट पता चल रहा था। इस तीसरी बार वह जो पानी अपनी सूंड में लाया था, उसे जल्दी जल्दी धूनी पर फेंक वह बहुत ही फुर्ती से फिर नाले की तरफ लौट गया।

उसने मुंह फेरा ही था कि मैं भी वृक्ष की तरफ लपका। लेकिन, आश्चर्य ·· उसकी पहाड़ सी देह में इतनी फुर्ती कहाँ से आ गई थी कि अभी डेढ़ मिनट भी न बीता होगा कि वह झपटता हुआ लौटा चला आ रहा था।—लेकिन, धूनी खाली थी और उसका वह अंतिम शिकार भी गायब हो चुका था।···बहुत ही निराश होकर वह चिंघाड़ा और धूनी पर पानी फेंकना छोड़, अत्यन्त व्याकुलता से भटकता हुआ मुझे चारों तरफ खोजने लगा।

मैं तब तने पर चढ़ रहा था···जैसे ही मुझ पर उसकी नजर पड़ी वह तीर की तरह मुझ पर झपट पड़ा और उसकी सूंड से निकली हुई धार सहसा मेरे मुँह पर आकर गिरी, जिससे मेरी ऐनक भीग गई—तने की फिसलन और भी बढ़ गई, मेरे पाँव रपट गये—और मैं धड़ाम से चारों खाने चित्त धरती पर आ गिरा।

साथी लोग मेरी विपत्ति को समझ गये थे। मैं जब तक उठूं और हाथी जब तक मुझ पर झपटे, वे सब भी वृक्ष से कूद कर धरती पर आ खड़े हुए थे। मगर हाथी उनसे कहीं अधिक फुर्तीला था और उनकी सहायता पहुँचने से पहले ही वह मुझ पर झपट चुका था।

जीवन-मरण की उस संधिबेला में, मुझे एक बार फिर अपनी कमर में लटके

हुए उस बिगुल की ही याद आई। मृत्यु में जब कोई संशय नहीं रहा था, हाथी जब मेरे सिर पर आ पहुँचा था, मैंने एक बार फिर उसी बिगुल को—जिसने उस दिन श्याम के प्राण बचाये थे—अपने ओठों पर लगा कर बहुत ही जोर से फूंक दिया। दूर दूर तक जंगल गूंज उठा। और, उस दिन की ही तरह आज भी उसकी उस गूंज का प्रभाव इतना तत्काल और अनुकूल बैठा कि मेरे सभी साथियों को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहा। कहाँ तो हाथी वेग के साथ मुझ पर झपट रहा था और कहाँ वह अगले ही क्षण जहाँ का तहाँ खड़ा हो गया और उसके बाद बहुत ही फुर्ती से पीछे की तरफ मुड़कर जंगल में गायब हो गया।

मन ही मन उस छोटे से अकिंचन पदार्थ को मैंने बहुत ही श्रद्धा से प्रणाम किया और कहा—बिगुल, चिरजीवी हो !!

× × ×

हेमंत जब तक घर पर ठहरा, अपने जंगल जीवन की ऐसी कितनी ही बातें, कितनी ही आपबीती घटनायें, मैंने उसे सुनाईं। अन्त में, एक दिन वह अपने घर देहरादून वापिस लौट गया और वहाँ पहुँचने के पाँच ही दिन बाद उसका यह पत्र मुझे मिला। लिखा था—

निधि जी,

इस पत्र द्वारा आपको यह प्रसन्नतादायक समाचार सुनाते हुए मुझे बहुत हर्ष हो रहा है कि पिताजी ने आपके 'संघ' का सदस्य बनने की मुझे निस्संकोच अनुमति दे दी है। मैं अब उस दिन की प्रतीक्षा बहुत ही उत्सुकता से कर रहा हूँ जब मैं भी आपके कैम्प में रहकर जंगल की आनन्दपूर्ण भीषणता में अपने कुछ दिन बिता सकूंगा। कृपया लिखिये, अगला कैम्प कब और कहाँ लग रहा है।...स्नेहमयी माताजी को अनेक प्रणाम।

आपका
हेमंत

उत्तर में मैंने लिख दिया था कि अगला कैम्प रवासन नदी की घाटियों में वैशाख मास में लगेगा। तुम्हारे सरीखा एक और नया सदस्य पाकर 'संघ' सदस्यों को अत्यन्त प्रसन्नता होगी, यह निश्चित मानो।